श्रीमत्स्वामि-समन्तभद्राचार्य-विरचित

समीचीन-धर्मशास्त्र

अपरनाम

रत्नकरण्ड-उपासकाध्ययन

सानुवाद-व्याख्यारूप भाष्यसे मण्डित

भाष्यकार

जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

अधिष्ठाता 'वीर-सेवा-मन्दिर'

सरसावा, जिला सहारनपुर

प्रकाशक

वीर-सेवा-मन्दिर

२१ दरियागंज, दिल्ली

प्रथम संस्करण १००० | चैत्र शुक्ला १३, वीरसंवत् २४८१ वि०संवत् २०१२, अप्रेल १९५५ | मूल्य तीन रुपया

ग्रन्थानुक्रम

महावीर प्रिंटिङ्ग सर्विस, चाहरहट देहली। मुद्रक—हरिहर प्रेस, देहली।

समर्पण

त्वदीयं वस्तु भोः स्वामिन् !
तुभ्यमेव समर्पितम् ।

हे आराध्य गुरुदेव स्वामी समन्तभद्र ! आपका यह अनुपम धर्मशास्त्र मुझे मेरे विद्यार्थि-जीवनमें ही, आजसे कोई ६५ वर्ष पहले, प्राप्त हो गया था और मैंने इसमें तत्कालीन बम्बई जैन परीक्षालयकी परीक्षा देकर उत्तीर्णता भी प्राप्त की थी। उस समय मात्र परीक्षा पास करनेकी दृष्टि थी और साधारण अर्थबोध ही हो पाया था; परन्तु बादको मैं इसे ज्यों ज्यों पढ़ता तथा अपने गहरे अध्ययन-मननका विषय बनाता रहा त्यों त्यों इसके पद-वाक्योंकी गहराईमें स्थित अर्थ ऊपर आकर मेरी प्रसन्नताको बढ़ाता रहा। मुझे धार्मिक दृष्टि प्रदान करने तथा सन्मार्ग दिखाने में यह ग्रन्थ बड़ा ही सहायक हुआ है और मैं बराबर इसके मर्मको अधिकाधिक रूपमें समझनेकी चेष्टा करता रहा हूँ। मैं उस मर्मको कहाँतक समझ पाया हूँ यह बात ग्रन्थके प्रस्तुत भाष्य तथा उसकी प्रस्तावना परसे जानी जासकती है और उसे पूर्ण रूपमें तो आप ही जान सकते हैं। मैं तो इतना ही समझता हूँ कि आपका आराधन करते हुए आपके ग्रन्थोंसे, जिनका मैं बहुत ऋणी हूँ, मुझे जो कुछ दृष्टि-शक्ति प्राप्त हुई है और उस दृष्टि-शक्तिके द्वारा मैंने जो कुछ अर्थादिका अवलोकन किया है, ये दोनों कृतियाँ उसीका प्रतिफल हैं। इनमें आपके ही विचारोंका प्रतिबिम्ब एवं कीर्तन होनेसे वास्तवमें यह सब आपकी ही चीज़ है और इसलिये आपको ही सादर समर्पित है। आप लोक-हितकी मूर्ति हैं, आपके प्रसादसे इन कृतियों-द्वारा यदि कुछ भी लोक-हितका साधन हो सका तो मैं अपनेको आपके भारी ऋणसे कुछ मुक्त हुआ समझूँगा।

विनम्र
जुगलकिशोर

धन्यवाद

इस ग्रन्थरत्नके प्रकाशनका श्रेय श्रीमान् बाबू नन्द-लालजी जैन सुपुत्र सेठ रामजीवनजी सरावगी कलकत्ताको प्राप्त है, जिन्होंने श्रुत-सेवाकी उदार भावनाओंसे प्रेरित होकर कुछ वर्ष हुए वीरसेवामन्दिरको अनेक ग्रन्थोंके अनु-वादादि-सहित प्रकाशनार्थ दस हजारकी सहायता प्रदान की थी और जिससे स्तुतिविद्या, युक्त्यनुशासन और स्वोपज्ञ टीकायुक्त आप्तपरीक्षादि जैसे कितने ही महान ग्रन्थ हिन्दी अनुवादादिके साथ प्रकाशित हो चुके हैं। यह ग्रन्थ भी उन्हींके सिलसिलेमें प्रकाशित हो रहा है। अतः प्रकाशनके इस शुभ अवसर पर आपका साभार स्मरण करते हुए आपको हार्दिक धन्यवाद समर्पित है।

जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

पूज्य क्षुल्लक श्रीगणेशप्रसादजी वर्णीकी

शुभ सम्मति

श्रीमान् ब्र० पंडितप्रवर जुगलकिशोर जी मुख्तारकी मान्य सिद्धहस्त लेखनीसे ऐतिहासिक सामग्रीके साथ-साथ मन-वचन-कायकी मलिन-परिणतिकी संशोधिका, रागद्वेषकी निर्हरणी समीचीन-धर्मशास्त्रकी व्याख्या हमारे सन्मुख आई है। ऐसे पदानुसारी भाष्यकी विद्वानों तथा समाजके लिये अतीव आवश्यकता थी। इससे सब धार्मिक बन्धुओंको ध्यानाध्ययनका विशेष लाभ होगा।

यह महान् ग्रन्थ गागरमें सागरवाली कहावतको चरितार्थ करनेवाला तार्किकप्रवर चतुरस्रधी श्रीसमन्तभद्रस्वामीका जैसा रत्नोंका पिटारा है, उसी प्रकार उसको सुसज्जित विभूषित करनेवाले हृदयग्राही ऐदंयुगीन विद्वानका वर्णसुवर्णमय भाष्य है अर्थात् रत्नोंका सुवर्णमें जड़नेका कार्य जैसा है।

चैत्र वदि ६ गणेश वर्णी

सं० २०११ ईसरी

प्रकाशककी ओरसे

जिस ग्रन्थरत्नके भाष्यकी वर्षोंसे तय्यारी और उसे पूर्ण-रूपमें प्रकाशित देखनेकी उत्कण्ठा तथा प्रतीक्षा थी उसे आज पाठकोंके हाथमें देते हुए बड़ी प्रसन्नता होती है। ग्रन्थका प्रस्तुत भाष्य कितने परिश्रमसे और कितनी विघ्न-बाधाओंको पार कर तय्यार हुआ है इसका सच्चा रोचक इतिहास 'भाष्यके निर्माण-की कथा' से जाना जा सकता है। और वह कितना उपयोगी तथा मूलके अनुकूल बना है, यह तो भाष्यके स्वयं अध्ययनसे ही सम्बन्ध रखता है। हर एक सहृदय पाठक उसे पढ़ते ही जान सकता है। पूज्य क्षुल्लक श्रीगणेशप्रसादजीवर्णीके शब्दोंमें ऐसे पदानुसारी भाष्यकी विद्वानों तथा समाजके लिये अतीव आव-श्यकता थी और वे उसे 'रत्नोंको सुवर्णमें जड़कर उन्हें सुसज्जित और विभूषित करने जैसा कार्य' बतला रहे हैं। जहाँ तक मैं समझता हूँ भाष्यको मूलकी सीमाके भीतर रखनेकी पूरी चेष्टा की गई है—कहीं भी शब्दछलको लेकर व्यर्थका तूल नहीं दिया गया—और पद-वाक्योंकी गहराईमें स्थित अर्थको ऊपर लाकर जँचे तुले शब्दोंमें व्यक्त करनेका पूर्ण प्रयत्न किया गया है। इससे यह भाष्य मूलकारकी दृष्टि एवं ग्रन्थके मर्मको समझनेमें बहुत बड़ा सहायक है। अतः सब विद्यालयों तथा शिक्षा-संस्थाओंके पठन-क्रममें इस भाष्यके रक्खे जाने और परीक्षालयादिके द्वारा प्रचारमें लानेकी खास जरूरत है, जिससे मूलग्रन्थ प्रायः तोतारटन्त न रहकर ग्रन्थकारमहोदयके उद्देश्यको पूरा करनेमें समर्थ हो सके।

इस ग्रन्थपर श्रीमान् डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल प्रोफेसर हिन्दू विश्व-विद्यालय बनारस ने 'प्राक्कथन' और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. प्रोफेसर राजाराम कॉलिज कोल्हापुरने Pre-face लिखनेकी जो कृपा की है उसके लिये वीरसेवामन्दिर दोनोंका हृदयसे आभारी है।

परमानन्द जैन

भाष्यके निर्माणकी कथा

स्वामी समन्तभद्रका 'समीचीन-धर्मशास्त्र', जो लोकमें रत्न-करण्ड, रत्नकरण्ड-उपासकाध्ययन तथा रत्नकरण्डश्रावकाचार नामसे अधिक प्रसिद्ध है, समन्तभद्रभारतीमें ही नहीं किन्तु समूचे जैनसाहित्यमें अपना ख़ास स्थान और महत्त्व रखता है। जैनियोंका कोई भी मन्दिर, मठ या शास्त्रभण्डार ऐसा नहीं होगा जिसमें इस ग्रन्थरत्नकी दो-चार दस-बीस प्रतियाँ न पाई जाती हों। पठन-पाठन भी इसका सर्वत्र बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ होता है। अनेक भाषात्मक कितने ही अनुवादों तथा टीका-टिप्पणोंसे यह भूषित हो चुका है। और जबसे मुद्रण-कलाको जैनसमाजने अपनाया है तबसे न जाने कितने संस्करण इस ग्रन्थके प्रकाशित हो चुके हैं। दिगम्बर समाजमें तो, जहाँ तक मुझे स्मरण है, यही ग्रन्थ प्रथम प्रकाशित हुआ था।

ग्रन्थके इन सब संस्करणों, टीका-टिप्पणों और अनुवादोंको देखते हुए भी, नहीं मालूम क्यों मेरा चित्त अर्सेसे सन्तोष नहीं पा रहा था, उसे ये सब इस धर्मशास्त्रके उतने अनुरूप नहीं जान पड़े जितने कि होने चाहियें थे। और इसलिये उसमें अर्से तक यह उधेड़-बुन चलती रही कि ऐसा कोई अनुवाद या भाष्य प्रस्तुत होना चाहिये जो मूल-ग्रन्थके मर्मका उद्घाटन और उसके पद-वाक्योंकी दृष्टिका ठीक स्पष्टीकरण करता हुआ अधिकसे अधिक उसके अनुरूप हो। इसी उधेड़-बुनके फलस्वरूप, समन्त-भद्राश्रमके देहलीसे सरसावा आजाने पर, मैंने अनुवाद तथा व्याख्याके रूपमें इस पर एक भाष्य लिखनेका संकल्प किया था और तदनुसार भाष्यका लिखना प्रारम्भ भी कर दिया था; परन्तु

समय समयपर दूसरे अनेक जरूरी कामों तथा विघ्न-बाधाओंके आ उपस्थित होने और भाष्यके योग्य यथेष्ट निराकुलता एवं अवकाश न मिल सकनेके कारण वह कार्य आगे नहीं बढ़ सका। कई वर्ष तो वीर-सेवामन्दिरकी बिल्डिङ्गके निर्माण-कार्यमें ऐसे चले गये कि उनमें साहित्यसेवाका प्रायः कोई खास काम नहीं बन सका—सारा दिमाग ही ईंट-चूने-मिट्टीका होरहा था। आखिर, २४ अप्रैल सन् १९३६ (अक्षय-तृतीया) को सरसावामें वीर-सेवामन्दिरके उद्घाटनकी रस्म होजाने और उसमें अपनी लायब्रेरीके व्यवस्थित किये जानेपर मेरा ध्यान फिरसे उस ओर गया और मैंने अनुवादकी सुविधाके लिये इस ग्रन्थके सम्पूर्ण शब्दोंका एक ऐसा कोश तैयार कराया जिससे यह मालूम होसके कि इस ग्रन्थका कौनसा शब्द इसी ग्रन्थमें तथा समन्तभद्रके दूसरे ग्रन्थोंमें कहाँ कहाँपर प्रयुक्त हुआ है, और फिर उसपरसे अर्थका यथार्थ निश्चय किया जा सके। क्योंकि मेरी यह धारणा है कि किसी भी ग्रन्थका यथार्थ अनुवाद प्रस्तुत करनेके लिये यह जरूरी है कि उस ग्रन्थके जिस शब्दका जो अर्थ स्वयं ग्रन्थकारने अन्यत्र ग्रहण किया हो उसे प्रकरणानुसार प्रथम ग्रहण करना चाहिये, बादको अथवा उसकी अनुपस्थितिमें वह अर्थ लेना चाहिये जो उस ग्रन्थकारके निकटतया पूर्ववर्ती अथवा उत्तरवर्ती आचार्यादिके द्वारा गृहीत हुआ हो। ऐसी सावधानी रखनेपर ही हम अनुवादको यथार्थरूपमें अथवा यथार्थताके बहुत ही निकट रूपमें प्रस्तुत करनेके लिये समर्थ हो सकते हैं। अन्यथा (उक्त सावधानी न रखनेपर) अनुवादमें ग्रन्थकारके प्रति अन्याय का होना सम्भव है; क्योंकि अनेक शब्दोंके अर्थ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके अथवा देश-कालादिकी परिस्थितियोंके अनुसार बदलते रहे हैं, और इसलिये सर्वथा यह नहीं कहा जा सकता कि जिस

शब्दका जो अर्थ आज रूढ है हज़ार दो हज़ार वर्ष पहले भी उसका वही अर्थ था। यदि किसी शब्दका जो अर्थ आज रूढ है वह हज़ार दो हज़ार वर्ष पहले रूढ न हो तो उस समयके बने हुए ग्रन्थका अनुवाद करते हुए यदि हम उस शब्दका आजके रूढ अर्थमें अनुवाद करने लगें तो वह अवश्य ही उस ग्रन्थ तथा ग्रन्थकारके प्रति अन्याय होगा।

उदाहरणके लिये 'पाषं(खं)डो' शब्दको लीजिये, उसका रूढ अर्थ आजकल 'धूर्त' अथवा दम्भी-कपटी-जैसा हो रहा है; परन्तु स्वामी समन्तभद्रके समयमें इस शब्दका ऐसा अर्थ नहीं था। उस समय *'पापं खंडयतीति पाखंडी'* इस निरुक्तिके अनुसार पापके खण्डन करनेके लिये प्रवृत्त हुए तपस्वी साधुओंके लिये यह शब्द आमतौरपर व्यवहृत होता था—चाहे वे साधु स्वमतके हों या परमतके ❀। और इसलिये स्वामी समन्तभद्रने अपने इस धर्मशास्त्रमें 'पापण्डिमूढता' का जो लक्षण ‡ दिया है उसका आशय इतना ही है कि,'अमुक विशेषणोंसे विशिष्ट जो 'पाखंडी'

❀ मूलाचार (अ०५) में "रत्तवड-चरग-तावसा-परिहत्तादीय-अण्ण-पासंडा' वाक्यके द्वारा रक्तपटादिक साधुओंको अन्यमतके पाखण्डी बतलाया है, जिससे साफ ध्वनित है कि तब स्व (जैन) मतके तपस्वी साधु भी 'पाखण्डी' कहलाते थे। और इसका समर्थन श्री-कुन्दकुन्दके समयसारकी 'पाखण्डियलिंगाणि य गिहालिंगाणि य बहुप्पयाराणि' इत्यादि गाथा नं० ४३८ आदिसे भी होता है, जिनमें पाखण्डी लिङ्गको अनगार-साधुओं (निर्ग्रन्थादि-मुनियों) का लिङ्ग बतलाया है। साथ ही, सम्राट् खारबेलके शिलालेखसे भी होता है, जिसमें उसे **'सव्वपासंडपूजको'** लिखा है।

‡ सग्रंथारम्भहिंसानां संसारावर्तवर्तिनाम्।
पाखण्डिनांपुरस्कारो ज्ञेयं पाषण्डि-मोहनम्॥

हैं वे वस्तुतः पाखण्डी (पापके खण्डनमें प्रवृत्त होनेवाले तपस्वी साधु) नहीं हैं, उन्हें पाखंडी समझकर अथवा साधु-गुरुकी बुद्धिसे उनका जो आदर सत्कार करना है उसे 'पाखंडिमूढ' कहते हैं। यहाँ 'पाखण्डी' शब्दका प्रयोग यदि धूर्त, दम्भी, कपटी अथवा झूठे (मिथ्यादृष्टि) साधु-जैसे अर्थमें लिया जाय, जैसा कि कुछ अनुवादकोंने लिया है, तो अर्थका अनर्थ होजाय और '*पाषण्डिमोहनम्*' पदमें पड़ा हुआ 'पाखण्डिन्' शब्द अनर्थक और असम्बद्ध (Nonsensical) ठहरे। क्योंकि इस पदका अर्थ है पाखण्डियोंके विषयमें मूढ होना अर्थात् पाखंडीके वास्तविक* स्वरूपको न समझकर अपाखण्डियों अथवा पाखंड्याभासोंको पाखण्डी मान लेना और वैसा मानकर उनके साथ तद्रूप आदर-सत्कारका व्यवहार करना। इस पदका विन्यास ग्रन्थमें पहलेसे प्रयुक्त '*देवता-मूढम्*' पदके समान ही है, जिसका आशय है कि जो 'देवता नहीं हैं—राग-द्वेषसे मलीन देवताभास हैं—उन्हें देवता समझना और वैसा समझकर उनकी उपासना करना।' ऐसी हालतमें 'पाखण्डिन्' शब्दका अर्थ 'धूर्त' जैसा करनेपर इस पदका ऐसा अर्थ हो जाता है कि 'धूर्तोंके विषयमें मूढ होना अर्थात् जो धूर्त नहीं हैं उन्हें धूर्त समझना और वैसा समझकर उनके साथ आदर-सत्कारका व्यवहार करना और यह अर्थ किसी तरह भी संगत नहीं कहा जा सकता। इसीसे एक विद्वान्को खींच-तान करके उस पदका यह अर्थ भी करना पड़ा

* पाखण्डीका वास्तविक स्वरूप वही है जिसे ग्रन्थकारमहोदयने 'तपस्वी' के निम्न लक्षणमें समाविष्ट किया है। ऐसे ही तपस्वी पापोंका खण्डन करनेमें समर्थ होते हैं—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञान-ध्यान-तपोरत्न(क्त)स्तस्वी स प्रशस्यते ॥१०॥

है कि—*"पाखण्डिनामुपदेशेन संगत्या च मोहनं मिथ्यात्वमिति पाखण्डिमोहनं गुरुमूढतेत्यर्थः"** अर्थात्—पाखण्डियोंके उपदेशसे और उनकी संगतिसे जो मोहन-मिथ्यात्व होता है उसे 'पाखण्डि-मोहन' कहते हैं, जिसका आशय गुरुमूढता का है। परन्तु इस अर्थका भी ग्रन्थ-सन्दर्भके साथ कोई मेल नहीं बैठता। अस्तु।

अपनी उक्त धारणाके अनुसार ही मैंने प्रकृत ग्रन्थका एक अच्छा मूलानुगामी प्रामाणिक तथा उपयोगी भाष्य लिखनेका संकल्प किया था और सन् १९३९ में 'समाधि-तंत्र' को प्रकाशित करते हुए उसके साथमें वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमालामें प्रकाशित होनेवाले ग्रन्थोंमें उसकी भी विज्ञप्ति कर दी थी; परन्तु वीरसेवा-मन्दिरमें उत्तरोत्तर कार्यका भार इतना बढ़ा कि मैं बराबर अनवकाशसे घिरा रहने लगा और इसलिये भाष्यका संकल्पित कार्य जो बहु-परिश्रम-साध्य होनेके साथ-साथ चित्तकी स्थिरता और निराकुलताकी खास अपेक्षा रखता है, बराबर टलता रहा। उसे इस तरह अनिश्चित कालके लिये टलता देखकर मुझे बड़ा खेद होता था और इसलिये मैंने अपनी ६५वीं वर्षगांठके दिन—मँगसिर सुदी एकादशी वि० संवत् १९९८ को—यह दृढ प्रतिज्ञा की कि मैं अगली वर्षगाँठ तक स्वामी समन्तभद्रके किसी भी पद-वाक्यका अनुवादादि कार्य प्रतिदिन अवश्य किया करूँगा—चाहे वह कितने ही थोड़े परिमाणमें क्यों न हो। और इस प्रतिज्ञाके अनुसार उसी दिन (ता० २९ नवम्बर सन् १९४१ शनिवार-को) इस धर्मशास्त्रका नये सिरेसे अनुवाद प्रारम्भ कर दिया, जो सामान्यतः १ मई सन् १९४२ को पूरा हो गया। इसके बाद स्वयम्भू-स्तोत्रके अनुवादको लिया गया और वह भी कोई छह

* देखो, सिद्धान्तशास्त्री पं० गौरीलाल-द्वारा अनुवादित और सम्पादित रत्नकरण्डश्रावकाचार।

महीनेमें पूरा हो गया। इस तरह प्रतिज्ञाबद्ध होकर मैं एक वर्षमें दो ग्रन्थोंके अनुवादोंको प्रस्तुत करनेमें समर्थ हो सका। साथ ही, समन्तभद्र-भारतीके सभी उपलब्ध ग्रन्थोंका एक पूरा शब्दकोष भी तय्यार करा लिया गया, जिससे अनुवाद-कार्य में बड़ीमदद मिली। इसके पश्चात् 'युक्त्यनुशासन' के अनुवादको भी हाथमें लिया गया था और वह एक तिहाईके करीब हो भी चुका था; परन्तु वह अनुवाद दिगम्बर जैन परिषद् कानपुरके अधिवेशनकी भेंट होगया—वहाँ बक्सके साथ चोरी चला गया! इससे चित्तको बहुत आघात पहुँचा और आगेको अनुवादकी प्रवृत्ति ही रुक गई।

कुछ वर्ष बाद घटी एक घटनाके कारण मेरा ध्यान फिरसे भाष्यकी ओर गया और यह खयाल पैदा हुआ कि बड़े पैमानेपर नहीं तो छोटे पैमानेपर ही सही, जीवनके इस लक्ष्यको शीघ्र पूरा करना चाहिये—इससे बहुतोंका हित होगा। तदनुसार कितने ही पद्योंके अनुवादके साथ 'व्याख्या' को लगा दिया गया और शेष के साथ जल्दी उसे लगा देनेका विचार स्थिर किया। साथ ही, भाष्यके कुछ अंशोंको, नमूनेके तौरपर, मूलके साथ अनेकान्त-पाठकोंके सामने रखना भी शुरू कर दिया, जिससे उन्हें इसके स्वरूपादिका ठीक परिचय प्राप्त हो सके, वे इसकी उपयोगिता एवं विशेषताका अनुभव कर सकें और अनुभवी विद्वानोंसे त्रुटियोंकी सूचना तथा व्याख्यादिके स्वरूप-सम्बन्धमें कोई सुझाव भी मिल सके, जिसके लिये उनसे निवेदन किया गया था। भाष्यके कुछ अंश उस समय अनेकान्तके ७वें वर्षकी किरण ६ से १२ (सन् १९४५) में प्रकाशित हुए थे, जिन्हें देखकर बहुतसे विद्वानों तथा अन्य सज्जनोंने पसन्द किया था और भाष्यके विषयमें अपनी उत्कण्ठा व्यक्त करते हुए उसे जल्दी पूरा करके प्रकाशित करनेकी प्रेरणाएँ भी की थीं; परन्तु उसके निर्माण और

प्रकाशनका काम फिर कुछ परिस्थितियोंके वश—खासकर पुरातन जैनवाक्यसूची तथा स्वयम्भूस्तोत्रादिकी भारी विस्तृत प्रस्तावनाओं और दूसरे महत्वके खोजपूर्ण ज़रूरी लेखोंके लिखने एवं ग्रन्थोंके प्रकाशनमें प्रवृत्त होनेके कारण—रुक गया। सन् १९५२ के मार्च मासमें निमोनियाकी बीमारीसे उठकर उस कामको फिरसे हाथमें लिया गया और अनेकान्तमें 'समन्तभद्र-वचनामृत' रूपसे उसके दूसरे अंशोंको देना भी प्रारम्भ किया गया। इतनेमें ही १३ अप्रेल को वह प्रसिद्ध तांगा-दुर्घटना घटी जिसने प्राणोंको ही संकटमें डाल दिया था। इस दुर्घटनासे कान और भी खड़े होगये और इसलिये अस्वस्थ दशामें भी भाष्यके तय्यार अंशोंको प्रकाशमें लाने आदिका कार्य यथाशक्य जारी रक्खा गया और जिन कारिकाओंकी व्याख्या नहीं लिखी जा सकी थी उनमेंसे अनेक को मात्र अनुवादके साथ ही प्रकाशित कर दिया गया—बादको यथासमय तत्सम्बन्धी व्याख्याओंकी पूर्ति होती रही। इस तरह अनेक विघ्न-बाधाओंको पार कर यह भाष्य सन् १९५३ के उत्तरार्द्धमें बनकर समाप्त हुआ है। और यों इसके निर्माणमें १२ वर्ष लग गये—संकल्पके पूरा होनेमें तो २० वर्षसे भी ऊपरका समय समझिये। मैं तो इसे स्वामी समन्तभद्रके शब्दोंमें 'अलंघ्य शक्ति भवितव्यता'का एक विधान ही समझता हूँ और साथ ही यह भी समझता हूँ कि पिछली भीषण ताँगा-दुर्घटनासे जो मेरा संत्राण हुआ है वह ऐसे सत्संकल्पोंको पूरा करनेके लिये ही हुआ है। अतः इस ग्रन्थरत्नको वर्तमान रूपमें प्रकाशित देखकर मेरी प्रसन्नताका होना स्वाभाविक है और इसके लिये मैं गुरुदेव स्वामी समन्तभद्रका बहुत आभारी हूँ जिनके वचनों तथा आराधनसे मुझे बराबर प्रकाश, धैर्य और बल मिलता रहा है।

वीरसेवामन्दिर, दिल्ली
फाल्गुन कृष्णा द्वादशी, सं० २०११ **जुगलकिशोर मुख्तार**

प्राक्कथन

स्वामी समन्तभद्र भारतवर्षके महान् नीतिशास्त्री और तत्त्वचिन्तक हुए हैं। जैन दार्शनिकोंमें तो उनका पद अति उच्च माना गया है। उनकी शैली सरल, संक्षिप्त और आत्मानुभवी मनीषी जैसी है। देवागम या आप्तमीमांसा और युक्त्यनुशासन उनके दार्शनिक ग्रन्थ हैं। किन्तु जीवन और आचारके सम्बन्धमें भी उन्होंने अपने रत्नकरण्ड-श्रावकाचारके रूपमें अद्भुत देन दी है। इस ग्रन्थमें केवल १५० श्लोक हैं। मूलरूपमें इनकी संख्या यदि कम थी तो कितनी कम थी इस विषय पर ग्रन्थ के वर्त्तमान सम्पादक श्रीजुगलकिशोरजी ने विस्तृत विचार किया है। उनके मतसे केवल सात कारिकाएँ संदिग्ध हैं। सम्भव है मातृचेतके अध्यर्धशतककी शैली पर इस ग्रन्थकी भी श्लोकसंख्या रही हो। किन्तु इस प्रश्नका अन्तिम समाधान तो प्राचीन हस्तलिखित प्रतियोंका अनुसंधान करके उनके आधार पर सम्पादित प्रामाणिक संस्करणसे ही सम्यक्तया हो सकेगा जिसकी ओर विद्वान सम्पादकने भी संकेत किया है (पृ० ८७)।

समन्तभद्रके जीवनके विषयमें विश्वसनीय तथ्य बहुत कम ज्ञात हैं। प्राचीन प्रशस्तियोंसे ज्ञात होता है कि वे उरगपुरके राजाके राजकुमार थे जिन्होंने गृहस्थाश्रमीका जीवन भी बिताया था। यह उरगपुर पाण्ड्य देशकी प्राचीन राजधानी जान पड़ती है, जिसका उल्लेख कालिदासने भी किया है (रघुवंश, ६।५९, *अथोरगाख्यस्य पुरस्य नाथं*)। ६७४ ई० के गड्वल ताम्र शासनके अनुसार उरगपुर कावेरीके दक्षिण तट पर अवस्थित था (एपि० इं०, १०।१०२)। श्री गोपालनने इसकी पहचान त्रिशिरापल्लीके

समीप उरैय्यूर से की है जो प्राचीन चोलवंशकी राजधानी थी। कहा जाता है कि उरगपुरमें जन्म लेकर बड़े होने पर जब शान्ति-वर्मा (समन्तभद्रका गृहस्थाश्रमका नाम) को ज्ञान हुआ तो उन्होंने कांचीपुर में जाकर दिगम्बर नग्नाटक यतिकी दीक्षा ले ली और अपने सिद्धान्तोंके प्रचारके लिये देशके कितने ही भागों-की यात्रा की। आचार्य जिनसेनने समन्तभद्रकी प्रशंसा करते हुए उन्हें कवि, गमक, वादी और वाग्मी कहा है। अकलंकने समन्त-भद्रके देवागम ग्रन्थकी अपनी अष्टशती विवृतिमें उन्हें भव्य अद्वितीय लोकचक्षु कहा है। सचमुच समन्तभद्रका अनुभव बढ़ा चढ़ा था। उन्होंने लोक-जीवनके राजा-रंक, उच्च-नीच, सभी रस्तोंको आँख खोलकर देखा था और अपनी परीक्षणात्मक बुद्धि और विवेचना-शक्तिसे उन सबको सम्यक् दर्शन, सम्यक् आचार, और सम्यक् ज्ञानकी कसौटी पर कसकर परखा था। इसीलिये विद्यानन्दस्वामीने युक्त्यनुशासनकी अपनी टीकामें उन्हें 'परीक्षे-क्षण' (परीक्षा या कसौटी पर कसना ही है आँख जिसकी) की सार्थक उपाधि प्रदान की।

स्वामी समन्तभद्रने अपनी विश्वलोकोपकारिणी वाणीसे न केवल जैन मार्गको सब ओरसे कल्याणकारी बनानेका प्रयत्न किया (*जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्रं समन्तान्मुहुः*), किन्तु विशुद्ध मानवी दृष्टिसे भी उन्होंने मनुष्यको नैतिक धरातल पर प्रतिष्ठित करनेके लिये बुद्धिवादी दृष्टिकोण अपनाया। उनके इस दृष्टिकोणमें मानवमात्रको रुचि हो सकती है। समन्तभद्रकी दृष्टिमें मनकी साधना, हृदयका परिवर्तन सच्ची साधना है, बाह्य आचार तो आडम्बरोंसे भरे हुए भी हो सकते हैं। उनकी गर्जना है कि मोही मुनिसे निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है (कारिका ३३)। किसी ने चाहे चण्डाल-योनिमें भी शरीर धारण किया हो, किन्तु यदि उसमें सम्यग्दर्शनका उदय होगया है, तो देवता ऐसे व्यक्ति-

को देव-समान ही मानते हैं। ऐसा व्यक्ति भस्मसे ढके हुए किन्तु अन्तरमें दहकते हुए अंगारेकी तरह होता है—

सम्यग्दर्शन-सम्पन्नमपि मातंगदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढांऽगारान्तरौजसम् ॥ श्लो०२८

'धर्मसे श्वानके सदृश नीचे पड़ा मनुष्य भी देव हो जाता है और पापसे देव भी श्वान बन जाता है।' (श्लोक २८)

ये कितने उदात्त, निर्भय और आशामय शब्द हैं जो धर्मके महान् आन्दोलन और परिवर्तनके समय ही विश्व-लोकोपकारी महात्माओंके कण्ठोंसे निर्गत होते हैं ? 'धर्म ही वह मेरुदण्ड है जिसके प्रभावसे मामूली शरीर रखने वाले प्राणीकी शक्ति भी कुछ विलक्षण हो जाती है' (कापि नाम भवेदन्या सम्पद् धर्माच्छरीरिणाम्। श्लोक २६)। यदि लोकमें आँख खोलकर देखा जाय तो लोग भिन्न भिन्न तरहके मोहजाल और अज्ञानकी बातोंमें फँसे हुए मिलेंगे। कोई नदी और समुद्रके स्नानको सब कुछ माने बैठा है,कोई मिट्टी और पत्थरके स्तूपाकार ढेर बनवाकर धर्मकी इतिश्री समझता है, कोई पहाड़से कूदकर प्राणान्त कर लेने या अग्निमें शरीरको जला देनेसे ही कल्याण मान बैठे हैं—ये सब मूर्खतासे भरी बातें हैं जिन्हें लोकमूढता कहा जा सकता है (श्लो० २२)। कुछ लोग राग-द्वेषकी कीचड़में लिपटे हुए हैं पर वरदान पानेकी इच्छासे देवताओंके आगे नाक रगड़ते रहते हैं—वे देवमूढ हैं (श्लो० २३)। कुछ तरह तरहके साधु संन्यासी पाखंडियोंके ही फन्दोंमें फँसे हैं (श्लो० २४)। इनके उद्धारका एक ही मार्ग है—सच्ची दृष्टि, सच्चा ज्ञान और सच्चा आचार। यही पक्का धर्म है जिसका उपदेश धर्मेश्वर लोग कर गए हैं—

सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः। श्लो० ३।

धर्म कल्पित ढकोसलोंका नाम नहीं है। धर्म तो जीवनके सुनिश्चित नियमोंकी संज्ञा है जिन्हें जैन परिभाषामें सामायिक कहते हैं। यदि गृहस्थाश्रम में रहनेवाला गृही व्यक्ति भी सामायिक-नियमोंका सच्चाईसे पालन करता है तो वह भी वस्त्रखंड उतार फेंकनेवाले मुनिके समान ही यतिभावको प्राप्त हो जाता है (श्लो० १०२)। बात फिर वहीं आ जाती है जहाँ संसारके सभी ज्ञानी और तपःस्थित महात्माओंने उसे टिकाया है—हिंसा, अनृत, चोरी, मैथुन और परिग्रह, ये पांच पापकी पनालियाँ हैं। इनसे छुटकारा पाना ही चारित्र है' (श्लो० ४६)।

स्वामी समन्तभद्रके ये अनुभव मानवमात्रके लिये उपकारी हैं। उनका निजी चारित्र ही उनके अनुभवकी वाणी थी। उन्होंने जीवनको जैसा समझा वैसा कहा। अपने अन्तरके मैलको काटना ही यहाँ सबसे बड़ी सिद्धि है। जब मनुष्य इस भवके मैलको काट डालता है तो वह ऐसे निखर जाता है जैसे किट्ट और कलौंसके कट जानेसे घरियामें पड़ा हुआ सोना निखर जाता है (श्लो० १३४)। अन्तमें वे गोसाईं तुलसीदासजीकी तरह पुकार उठते हैं—स्त्री जैसे पतिकी इच्छासे उसके पास जाती है, ऐसे ही जीवनके इन अर्थोंकी सिद्धि मुझे मिले; कामिनी जैसे कामीके पास जाती है ऐसे ही अध्यात्म सुखकी स्थिति (सुखभूमि) मुझे सुख देनेवाली हो।' (श्लो० १४६-५०)। मनोविज्ञानकी दृष्टिसे भी यह सत्य है कि जब तक अध्यात्मकी ओर मनुष्यकी उसी प्रकार सहज प्रवृत्ति नहीं होती जैसी कामसुखकी ओर, तब तक धर्म-साधनामें उसकी निश्चल स्थिति नहीं हो पाती।

काशी विश्वविद्यालय

२८-२-१६५५ **वासुदेवशरण अग्रवाल**

PREFACE

Most of our ancient authors of eminence have hardly cared to leave for posterity any autobiographical details. Possibly they cared more for the continuity and elucidation of great ideas through their works than to their perpetuating personal details. Samantabhadra-Svami or -Deva is no exception to this general rule. But a thoughtful study of his works enables us to portray before our mind's eye the outstanding personality of Samantabhadra. Here is a great leader of religion and thought, full of zeal and earnestness. He is an acute logician and a dispassionate philosopher. His studies are deep, and his expressions precise and pregnant with significance. He is a master of Sanskrit language which he handles quite effectively and according to the need of the subject-matter. He is an ardent devotee and a learned logician; that is why he pours out beautiful hymns which are at once monuments of philosophical learning and thought. His Stutis are obviously profound expositions of Syadvada and other principles of

Jainism. Thus Samantabhadra is an ardent religious leader, a poet, a logician and a benefactor of the suffering humanity.

Samantabhadra's works are few in number and short in extent, but they possess such powerful seeds that not only they could attract great authors like Akalanka and Vidyananda but also grew in their hands into mighty banyan trees which are the veritable wealth and strength of Indian Nyaya literature.

Among the available works of Samantabhadra,the Aptamimansa (or Devagama-stotra), Yuktyanu-sasana, Svayambhu-stotra and Stutividya are hymnal in character, but the first two are effective treatises on logic and dialectics. This mode of embodying a logical treatise apparently in a devotional hymn was first experimented by Samantabhadra and therefore he is rightly called the First Stutikara by Malayagiri. This experiment proved so successful that it was further adopted by authors like Siddhasena and Hemachandra on a more extensive and purposeful scale. The logical Stutis of Samantabhadra are so effective and pregnant with meaning that great authors like Akalanka, Vidyananda and Yasovijaya went on elaborating their expositions

on them, meeting and refuting contemporary philosophical tenets with a view to substantiate the stand of Samantabhadra. The Svayambhu-stotra and Stutividya are fine pieces of elegant Sanskrit poetry but not without logical and rhetorical flashes. If these hymnal works of Samantabhadra establish the outstanding character of Jaina Divinity, his Ratnakarandaka is a systematic exposition of the duties of a pious layman. According to Samantabhadra Jainism is not only a metaphysically sound system but also a practical way of living as well, and his works fully testify to this.

The Ratnakarandaka-Sravakachara, as it is popularly known, or the Samichina-Dharma-sastra, as Pt. Jugalkishoreji aptly calls it, is really a Casket of Gems. The title is significant, because the work is a systematic exposition of three gems, namely, Right Faith, Right Knowledge and Right Conduct which constitute the path of liberation, and secondly because it is a collection of gems of didactic verses in chaste Sanskrit. Its contents are clear-cut and systematic; the way of presentation is neat and well-arranged; the style is clear and lucid; the Sanskrit language is handled most precisely and

effectively; and above all the aim of theauthor is to guide earnestly the suffering humanity on the path of virtue. This work is a solid basis on which are founded bigger Sravakacharas composed by many subsequent authors like Amrtachandra, Amitagati and Asadhara.

No other text is more popular than the Ratnakarandaka in the Jaina Community. Not only Jainas but even non-Jainas have benefited themselves by the pious way of life presented therein. One cannot imagine a Jain temple, library or family without a number of Mss. or copies of this work. Its language is so lucid and clear that in the palmy days of Sanskrit no elaborate commentaries were needed on it. It is rather lately that Prabhachandra (c. 13th century A.D.) wrote a modest Sanskrit commentary on it; there is an anonymous rendering of it in Tamil; and Ayatavarman wrote a Kannada Ratnakarandaka. Many commentaries in Modern Indain Languages, old and new, are found on this work, but the most popular is Pt. Sadasukhaji's Hindi Commentary, which has gone a long way to shape the pious life of many generations of Jainas, both in the North and in the South.

The very popularity of this work has led to the inflation of its text. Many Mss. contain a larger number of verses. Pt. Jugalkishoreji has made an admirable and pioneer effort to scrutinise these additional verses. Still it is a major problem. It is necessary that all the available Mss. of the Ratnakarandaka should be duly collated and then critical and objective standards should be applied to prove their authenticity : and thus alone one can hope to come nearer the text of Samantabhadra.

Samantabhadra is undoubtedly one of the great authors of our land; and that is why his works attracted able medieval authors like Akalanka and Vidyananda and post-medieval writers like Yasovijaya and Sadasukha. It is a great asset to scholarship that Pt. Jugalkishore has proved himself the most earnest devotee of Samantabhadra and a critical student of his works. His rigorous methods, legal acumen, depth of learning and steadfast devotion are fully seen in his intensive and extensive study of Samntabhadra's works. His editions of Stutividya (Sarsawa 1950), Svayambhu-stotra and Yuktyanusasana (Ibidem 1951) are model editions rich with learned expositions.

Pandit Jugalkishoreji's present edition of the Ratnakarandaka is a crown of his long and sustained studies of Samantabhadra's works. Some thirty years back he wrote his learned dissertation on Samantabhadra as an Introduction to the edition of the Ratnakarandaka published in the Manikchandra D.Jain Granthamala. It is a model study which has become a source of inspiration and references to many scholars. He has retouched some of its parts here. And what is of special value and importance here is his Hindi Vyakhya. Not only it gives a precise and literal Hindi rendering of the text but it also presents critical discussions on Jainological topics taking into account similar contexts in the works of Samantabhadra and those of his predecessors and successors. This Hindi Vyakhya bears a worthy kinship with the work of which it is an exposition; and it really enriches not only Hindi language but also the field of didactic thought of the Jaina pattern. Pt. Jugalkishoreji's Vyakhya has further heightened the testamentary value of the Ratnakarandaka, and it deserves to be carefully studied both by critical scholars and pious devotees.

Delhi.
5-4-1955 **A. N. Upadhye**

प्रस्तावना

ग्रन्थ-परिचय

स्वामि-समन्तभद्राचार्य-प्रणीत इस समीचीन-धर्मशास्त्रमें श्रावकोंको लक्ष्य करके उस धर्मका उपदेश दिया गया है जो कर्मोंका नाशक है और संसारी जीवोंको संसारके दुःखोंसे निकालकर उत्तम सुखोंमें धारण करनेवाला अथवा स्थापित करनेवाला है। वह धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रस्वरूप है और इसी क्रमसे आराधनीय है। दर्शनादिककी जो स्थिति इसके प्रतिकूल है—सम्यक्रूप न होकर मिथ्यारूपको लिये हुए है—वही अधर्म है और वही संसार-परिभ्रमणका कारण है, ऐसा आचार्य-महोदयने प्रतिपादन किया है।

इस शास्त्रमें धर्मके उक्त (सम्यग्दर्शनादि) तीनों अंगोंका—रत्नत्रयका—ही यत्किंचित् विस्तारके साथ वर्णन है और उसे सात अध्ययनोंमें विभाजित किया है। प्रत्येक अध्ययनमें जो कुछ वर्णन है उसका संक्षिप्त सार इस प्रकार है—

प्रथम अध्ययनमें सत्यार्थ आप्त आगम और तपोभृत् (गुरु) के त्रिमूढतारहित तथा अष्टमदहीन और अष्टअंगसहित श्रद्धानको 'सम्यग्दर्शन' बतलाया है; आप्त-आगम-तपस्वीके लक्षण, लोक-देव-पाखंडिमूढताओंका स्वरूप, ज्ञानादि अष्टमदोंके नाम और निःशंकितादि अष्ट अंगोंके महत्वपूर्ण लक्षण दिये हैं। साथ ही यह दिखलाया है कि रागके बिना आप्त भगवान्के हितोपदेश

कैसे बन सकता है, अंगहीन सम्यग्दर्शन जन्मसंततिको नाश करनेके लिये कैसे समर्थ नहीं होता और ज्ञानादिसे कुछ हीन दूसरे धर्मात्माओंका अनादर करनेसे धर्मका ही अनादर क्योंकर होता है। इसके सिवाय, सम्यग्दर्शनकी महिमाका विस्तारके साथ वर्णन दिया है और उसमें निम्नलिखित विशेषताओंका भी उल्लेख किया है—

(१) सम्यग्दर्शनयुक्त चांडालको भी 'देव' समझना चाहिये।

(२) शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव भय, आशा, स्नेह तथा लोभसे कुदेवों, कुशास्त्रों और कुलिंगियों (कुगुरुओं) को प्रणाम तथा विनय नहीं करते।

(३) ज्ञान और चारित्रकी अपेक्षा सम्यग्दर्शन मुख्यतया उपासनीय है, वह मोक्षमार्गमें खेवटियाके सदृश है और उसके विना ज्ञान तथा चारित्रकी उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलोदय उसी तरह नहीं हो पाते जिस तरह बीजके अभावमें वृक्षकी उत्पत्ति आदि।

(४) निर्मोही (सम्यग्दृष्टि) गृहस्थ मोक्षमार्गी है परन्तु मोही (मिथ्यादृष्टि) मुनि मोक्षमार्गी नहीं; और इसलिये मोही मुनिसे निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है।

(५) सम्यग्दर्शनसे शुद्ध हुए जीव, अव्रती होने पर भी, नारक, तिर्यंच, नपुंसक और स्त्री-पर्यायको धारण नहीं करते, न दुष्कुलोंमें जन्म लेते हैं, न विकृतांग तथा अल्पायु होते हैं और न दरिद्रीपनेको ही पाते हैं।

द्वितीय अध्ययनमें सम्यग्ज्ञानका लक्षण देकर उसके विषयभूत प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगका सामान्य स्वरूप दिया है।

तीसरे अध्ययनमें सम्यक्चारित्रके धारण करनेकी पात्रता और आवश्यकताका वर्णन करते हुए उसे हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन-

सेवा और परिग्रहरूप पापप्रणालिकाओंसे विरतिरूप बतलाया है। साथ ही, चारित्रके 'सकल' और 'विकल' ऐसे दो भेद करके और यह बतलाकर कि सकलचारित्र सर्वसंगविरत मुनियोंके होता है और विकलचारित्र परिग्रहसहित गृहस्थोंके, गृहस्थोंके योग्य विकलचारित्रके बारह भेद किये हैं, जिनमें पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत शामिल हैं। इसके बाद हिंसा, असत्य, चोरी, कामसेवा और परिग्रहरूप पाँच पापोंके स्थूलरूप से त्यागको 'अणुव्रत' बतलाया है और अहिंसादि पाँचों अणुव्रतोंका स्वरूप उनके पाँच-पाँच अतीचारों सहित दिया है। साथ ही यह प्रतिपादन किया है कि मद्य, मांस और मधुके त्याग-सहित ये पंचअणुव्रत गृहस्थोंके 'अष्ट मूलगुण' कहलाते हैं।

चौथे अध्ययनमें दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग-परिमाण नामसे तीन गुणव्रतोंका उनके पाँच-पाँच अतिचारों-सहित कथन है; पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या ऐसे अनर्थदंडके पाँच भेदोंका वर्णन है और भोगो-पभोगकी व्याख्याके साथ उसमें कुछ विशेष त्यागका विधान, व्रतका लक्षण और यमनियमका स्वरूप भी दिया है।

पाँचवें अध्ययनमें देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैय्यावृत्य नामके चार शिक्षाव्रतोंका, उनके पाँच-पाँच अतीचारोंसहित, वर्णन है। सामायिक और प्रोषधोपवासके कथन-में कुछ विशेष कर्तव्योंका भी उल्लेख किया है और सामायिकके समय गृहस्थको 'चेलोपसृष्ट मुनि' की उपमा दी है। वैय्यावृत्यमें संयमियोंको दान देने और देवाधिदेवकी पूजा करनेका भी विधान किया है और उस दानके आहार, औषध, उपकरण, आवास ऐसे चार भेद किये हैं।

छठे अध्ययनमें अनुष्ठानावस्थाके निर्देशसहित, सल्लेखना

(समाधिमरण) का स्वरूप और उसकी आवश्यकताका प्रतिपादन करते हुए, संक्षेपमें समाधिमरणकी विधिका उल्लेख किया है और सल्लेखनाके पाँच अतीचार भी दिये हैं। अन्तमें सद्धर्मके फलका कीर्तन करते और उसे निःश्रेयस तथा अभ्युदय सुखरूप बतलाते हुए, निःश्रेयस तथा अभ्युदय सुखके स्वरूपका कुछ दिग्दर्शन भी कराया गया है।

सातवें अध्ययनमें श्रावकके उन ग्यारह पदोंका स्वरूप दिया गया है जिन्हें 'प्रतिमा' भी कहते हैं और जिनमें उत्तरोत्तर प्रतिमाओंके गुण पूर्वपूर्वकी प्रतिमाओंके संपूर्ण गुणोंको लिये हुए होते हैं और इस तरह पर क्रमशः विवृद्ध होकर रहते हैं। इन प्रतिमाओंमें छठी प्रतिमा 'रात्रिभोजनत्याग' बतलाई गई है।

इस तरह इस शास्त्रमें श्रावकोंके अनुष्ठानयोग्य धर्मका जो वर्णन दिया है वह बड़ा ही हृदयग्राही, समीचीन, सुखमूलक और प्रामाणिक है। और इसलिये प्रत्येक गृहस्थको, चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, अवश्य ही इस ग्रंथका भले प्रकार अध्ययन और मनन करना चाहिये। इसके अनुकूल आचरण निःसन्देह कल्याणका कर्ता है और आत्माको बहुत कुछ उन्नत तथा स्वाधीन बनानेमें समर्थ है। ग्रन्थकी भाषा भी बड़ी ही मधुर, प्रौढ और अर्थगौरवको लिये हुए है। सचमुच ही यह ग्रन्थ धर्मग्रन्थोंका एक छोटासा पिटारा है और इसलिये इसका 'रत्नकरण्ड' या 'रत्नकरंडक' नाम भी बहुत ही सार्थक जान पड़ता है। समीचीन धर्मकी देशनाको लिये हुए होनेसे इसका प्रमुख नाम 'समीचीन-धर्मशास्त्र' है।

यद्यपि, टीकाकार और वादिराज जैसे आचार्योंने 'करण्डक' शब्दके प्रयोगों द्वारा इस ग्रन्थको एक छोटासा पिटारा बतलाया है तो भी श्रावकाचार-विषयका दूसरा कोई भी ग्रन्थ अभी तक

ऐसा नहीं मिला जो इससे अधिक बड़ा और साथ ही अधिक प्राचीन हो† । प्रकृत-विषयका अलग और स्वतन्त्र ग्रन्थ तो शायद इससे पहलेका कोई भी उपलब्ध नहीं है । पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, चारित्रसार, सोमदेव-उपासकाध्ययन, अमितगति-उपासकाचार, वसुनन्दिश्रावकाचार, सागारधर्मामृत, और लाटीसंहिता आदिक जो प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं वे सब इसके बादके ही बने हुए हैं। और इसलिये, उपलब्ध जैनसाहित्यमें, यदि इस ग्रंथको 'प्रथम श्रावकाचार' का नाम दिया जाय तो शायद कुछ भी अनुचित न होगा। छोटा होने पर भी इसमें श्रावकोंके लिये जिन सल्लक्षणान्वित धर्मरत्नोंका संग्रह किया गया है वे अवश्य ही बहुमूल्य हैं। और इसलिये यह ग्रंथ आकारमें छोटा होनेपर भी मूल्यमें बड़ा है, ऐसा कहनेमें ज़रा भी संकोच नहीं होता। टीकाकार प्रभाचंद्रने इसे 'अखिल सागारमार्ग (गृहस्थधर्म) को प्रकाशित करनेवाला निर्मल 'सूर्य' लिखा है और श्रीवादिराजसूरिने 'अक्षय्य-सुखावह' विशेषणके साथ इसका स्मरण किया है।

---

† श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके 'चारित्रपाहुड' में श्रावकोंके संयमाचरणको प्रतिपादन करनेवाली कुल पाँच गाथाएँ हैं जिनमें ११ प्रतिमाओं तथा १२ व्रतोंके नाममात्र दिये हैं—उनका स्वरूपादिक कुछ नहीं दिया और न व्रतोंके अतीचारोंका ही उल्लेख किया है । उमास्वाति महाराजके तत्त्वार्थ-सूत्रमें व्रतोंके अतीचार जरूर दिये हैं परन्तु दिग्व्रतादिकके लक्षणोंका तथा अनर्थदंडके भेदादिका उसमें अभाव है और अहिंसाव्रतादिके जो लक्षण दिये हैं वे खास श्रावकोंको लक्ष्य करके नहीं लिखे गये । सल्लेखनाका स्वरूप और विधि-विधानादिक भी उसमें नहीं हैं । ग्यारह प्रतिमाओंके कथन तथा और भी कितनी ही बातोंके उल्लेखसे वह रहित है, और इस तरह उसमें भी श्रावकाचारका बहुत ही संक्षिप्त वर्णन है ।

ग्रन्थपर सन्देह

कुछ लोगोंका खयाल है कि यह ग्रंथ उन स्वामी समन्तभद्राचार्यका बनाया हुआ नहीं है जो कि जैन समाजमें एक बहुत बड़े प्रसिद्ध विद्वान होगये हैं और जिन्होंने 'देवागम' (आप्तमीमांसा) जैसे अद्वितीय और अपूर्व तर्क-पूर्ण तात्त्विक ग्रंथोंकी रचना की है; बल्कि 'समंतभद्र' नामके अथवा समन्तभद्रके नामसे किसी दूसरे ही विद्वानका बनाया हुआ है, और इस लिये अधिक प्राचीन भी नहीं है। परन्तु उनके इस खयाल अथवा संदेहका क्या कारण है और किस आधार पर वह स्थित है, इसका कोई स्पष्ट-प्रमाण अभीतक उनकी ओरसे उपस्थित नहीं हुआ, मात्र कुछ कल्पनाएँ की गई हैं जिनका पहले यथा समय निरसन किया जा चुका है। फिर भी इस व्यर्थके संदेहको दूर करने, उसकी संभावनाको मिटा देने और भविष्यमें उनकी संततिको आगे न चलने देनेके लिये यहाँ पर कुछ प्रमाणोंका उल्लेख कर देना उचित जान पड़ता है और नीचे उसीका यत्किंचित् प्रयत्न किया जाता है—

(१) ऐतिहासिक पर्यालोचन करनेसे इतना जरूर मालूम होता है कि 'समन्तभद्र' नामके दो चार विद्वान और भी हुए हैं; परंतु उनमें ऐसा एक भी नहीं था जो 'स्वामी' पदसे विभूषित अथवा इस विशेषणसे विशेषित हो; बल्कि एक तो लघुसमंतभद्रके नामसे अभिहित हैं, जिन्होंने अष्टसहस्री पर 'विषम-पदतात्पर्यटीका' नामक एक वृत्ति (टिप्पणी) लिखी है। ये विद्वान स्वयं भी अपने को 'लघुसमंतभद्र' प्रकट करते हैं।

यथा—

देवं स्वामिनममलं विद्यानंदं प्रणम्य निजभक्त्या।
विवृणोम्यष्टसहस्रीविषमपदं लघुसमंतभद्रोऽहम् ॥

दूसरे 'चिक्क समन्तभद्र' कहलाते हैं। आराके जैनसिद्धान्तभवनकी सूचीमें 'चिक्कसमंतभद्रस्तोत्र' नामसे जिस पुस्तकका उल्लेख है वह इन्हींकी बनाई हुई कही जाती है और उसको निकलवाकर देखनेसे मालूम हुआ कि वह वही स्तुति है जो 'जैनसिद्धान्तभास्कर' प्रथम भागकी ४थी किरणमें 'एक ऐतिहासिक स्तुति'के नाम से प्रकाशित हुई है और जिसके अन्तिम पद्यमें उसके रचयिताका नाम'माघनंदिव्रती' दिया है इससे चिक्कसमंतभद्र उक्त माघनंदीका ही नामान्तर जान पड़ता है। कर्णाटक देशके एक कनड़ी विद्वानसे भी मुझे ऐसा ही मालूम हुआ है। वर्णी नेमिसागरजीने भी अपने एक पत्रमें सूचित किया है कि "इन माघनंदीके लिये 'चिक्क समन्तभद्र' या 'लघु समन्तभद्र' यह नाम इधर (दक्षिणमें) रूढ है। 'चिक्क' शब्द का अर्थ भी लघु या छोटेका है।" आश्चर्य नहीं, जो उक्त लघु समंतभद्र और यह चिक्क समंतभद्र दोनों एक ही व्यक्ति हों,और माघनंदि-व्रती भी कहलाते हों। माघनंदि-व्रती नामके एक विद्वान अमरकीर्ति' आचार्यके शिष्य हुए हैं, और उक्त ऐतिहासिक स्तुतिके आदि-अन्तके दोनों पद्योंमें 'अमर' शब्द का खास तौरसे प्रयोग पाया जाता है। इससे ऐसा मालूम होता है कि संभवतः ये ही माघनंदि-व्रती अमरकीर्ति आचार्यके शिष्य थे और उन्होंने 'अमर' शब्दके प्रयोग-द्वारा, उक्त स्तुतिमें, अपने गुरुका नाम-स्मरण भी किया है। यदि यह ठीक हो तो इन माघनंदि-व्रती अथवा चिक्क समन्तभद्रको विक्रमकी चौदहवीं शताब्दीका विद्वान समझना चाहिये; क्योंकि माघनंदि-व्रतीके शिष्य और अमरकीर्तिके प्रशिष्य भोगराजने शक संवत १२७७ (वि०सं० १४१२) में शांतिनाथ जिनेश्वरकी एक मूर्तिको—जो आजकल रायदुर्ग ताल्लुके के दफ्तरमें मौजूद है—प्रतिष्ठित कराया था, जैसा कि उक्त मूर्तिके लेख परसे प्रकट है ‡।

‡ देखो, 'साउथ इंडियन जैनिज्म' भाग दूसरा, पृष्ठ ५७।

तीसरे गेरुसोप्पे×के समन्तभद्र थे, जिनका उल्लेख ताल्लुका कोप्प जि० कडूरके एडेहल्लि जैनवसतिसे मिले हुए चार ताम्र शासनोंमें पाया जाता है *। इन ताम्रशासनोंमें आपको 'गेरुसोप्पे †-समन्तभद्र-देव' लिखा है। पहला ताम्रशासन आपके ही समयका—शक सं०१३५५ का—लिखा हुआ है और शेष आपके प्रशिष्य, अथवा आपके शिष्य गुणभद्रके शिष्य,वीरसेनके समयादिकसे सम्बन्ध रखते है।

चौथे 'अभिनव समन्तभद्र'के नामसे नामांकित थे।इन अभिनव समन्तभद्र मुनिके उपदेशसे योजन-श्रेष्ठिके बनवाये हुए नेमीश्वर चैत्यालयके सामने कांसीका एक मानस्तंभ स्थापित हुआथा,जिसका उल्लेख शिमोगा जिलान्तर्गत सागर तल्लुकेके शिलालेख नं० ५५ में मिलता है ‡। यह शिलालेख तुलु, कोंकण आदि देशोंके राजा देवरायके समयका है और इसलिए मि०लेविस राइस साहबने इसे ई० सन् १५६० के करीबका बतलाया है। इससे अभिनव समंतभद्र किस समयके विद्वान् थे यह सहजहीमें मालूम हो जाता है।

पाँचवें एक समन्तभद्र भट्टारक थे, जिन्हें जैनसिद्धान्तभास्कर-द्वारा प्रकाशित सेनगणकी पट्टावलीमें, 'अभिनव सोमसेन'

× दक्षिण भारतका यह एक खास स्थान है जिसे क्षेमपुर भी कहते हैं और जिसका विशेष वर्णन सागर ताल्लुके के ५५ वें शिला लेखमें पाया जाता है। प्रसिद्ध 'गेरुसोप्पे-प्रपात' Water fall) भी इसी स्थान-के नामसे नामांकित हैं। देखो E. C., VIII. की भूमिका।

* देखो, सन् १९०१ में मुद्रित हुई, 'एपिग्रेफिया कर्णाटिका (Epigraphia Carnatica) की जिल्द छठीमें, कोप्प ताल्लुकेके लेख नं० २१ २२, २३, २४।

† पहले २१ नंबरके ताम्रशासनमें 'गेरुसोप्पेय' ऐसा पाठ दिया है।

‡ देखो, 'एपिग्रेफिया कर्णाटिका', जिल्द आठवीं।

भट्टारकके पट्टशिष्य 'जिनसेन' भट्टारकके पट्ट पर प्रतिष्ठित होनेवाले लिखा है। साथ ही, यह भी सूचित किया है कि ये अभिनव सोमसेन गुणभद्रभट्टारकके पट्टशिष्य थे। गुणभद्र भट्टारकके पट्टशिष्य सोमसेनभट्टारकका बनाया हुआ 'धर्मरसिक' नामका एक त्रैवर्णिकाचार (त्रिवर्णाचार) ग्रन्थ सर्वत्र प्रसिद्ध है—वह मुद्रित भी हो चुका है—और इसलिये ये समन्तभद्र भट्टारक उन्हीं सोमसेन भट्टारकके प्रपट्टशिष्य थे जिन्होंने उक्त त्रिवर्णाचारकी रचना की है, ऐसा कहनेमें कुछ भी संकोच नहीं होता। सोमसेनका यह त्रिवर्णाचार विक्रम संवत् १६६७ में बनकर समाप्त हुआ है। अतः इन समंतभद्र भट्टारकको विक्रमकी सतरहवीं शताब्दीके अन्तिम भागका विद्वान् समझना चाहिये।

छठे 'गृहस्थ समन्तभद्र' थे जिनका समय विक्रमी प्रायः १७वीं शताब्दी पाया जाता है। ये उन गृहस्थाचार्य नेमिचन्द्रके भतीजे थे जिन्होंने 'प्रतिष्ठातिलक' नामके एक ग्रन्थकी रचना की है और जिसे 'नेमिचंद्रसंहिता' अथवा 'नेमिचंद्र-प्रतिष्ठापाठ' भी कहते हैं और जिसका परिचय अप्रेल सन् १९१६ के जैनहितैषीमें दिया जा चुका है। इस ग्रन्थमें समंतभद्रको साहित्यरसका प्रेमी सूचित किया है और यह बतलाया है कि ये भी उन लोगोंमें शामिल थे जिन्होंने उक्त ग्रन्थके रचनेकी नेमिचंद्रसे प्रार्थना की थी। संभव है कि 'पूजाविधि' नामका ग्रन्थ जो 'दिगम्बरजैन-ग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ' नामकी सूचीमें दर्ज है वह इन्हींका बनाया हुआ हो।

(२) रत्नकरंडके प्रणेता आचार्य समन्तभद्रके नामके साथ 'लघु,' 'चिक्क,' 'गेरुसोप्पे,' 'अभिनव' या 'भट्टारक' शब्द लगा हुआ नहीं है और न ग्रन्थमें उनका दूसरा नाम कहीं 'माघनंदी' ही सूचित किया गया है; बल्कि ग्रन्थकी संपूर्ण संधियोंमें—टीकामें भी—उनके नामके साथ 'स्वामी' शब्द लगा हुआ है और

यह वह पद है जिससे 'देवागम' के कर्ता महोदय खास तौरसे विभूषित थे और जो उनकी महती प्रतिष्ठा तथा असाधारण महत्ताका द्योतक है। बड़े-बड़े आचार्यों तथा विद्वानोंने उन्हें प्राय: इसी (स्वामी) विशेषणके साथ स्मरण किया है और यह विशेषण भगवान् समन्तभद्रके साथ इतना रूढ जान पड़ता है कि उनके नामका प्राय: एक अंग हो गया है। इसीसे कितने ही बड़े-बड़े विद्वानों तथा आचार्योंने, अनेक स्थानोंपर नाम न देकर, केवल 'स्वामी' पदके प्रयोग-द्वारा ही उनका नामोल्लेख किया है† और इससे यह बात सहज ही समझमें आ सकती है कि 'स्वामी' रूपसे आचार्यमहोदयकी कितनी अधिक प्रसिद्धि थी।

ऐसी हालतमें यह ग्रंथ लघुसमंतभद्रादिका बनाया हुआ न होकर उन्हीं समन्तभद्र स्वामीका बनाया हुआ प्रतीत होता है जो 'देवागम' नामक आप्तमीमांसाग्रंथके कर्ता थे।

(३) 'राजावलिकथे' नामक कनड़ी ग्रंथमें भी, स्वामी समन्तभद्रकी कथा देते हुए, उन्हें 'रत्नकरण्ड' आदि ग्रन्थोंका कर्ता लिखा है। यथा—

"आ भाविनीर्थकरन् अप्प समन्तभद्रस्वामिगलु पुनर्दीक्षेगोण्डु तपस्सामर्थ्यदि चतुरङ्गुलचारणत्वमं पडेदु रत्नकरण्डकादिजिनागम-पुराणमं पेल्लि स्याद्वादवादिगल् आगि समाधियि् ओडेदरु।"

---

† देखो—वादिराजकृत पार्श्वनाथचरितका 'स्वामिनश्चरितं तस्य' इत्यादि पद्य नं० १७; पं० आशाधरकृत सागारधर्मामृत और अनगार-धर्मामृतकी टीकाओंके 'स्वाम्युक्ताष्टमूलगुणपक्षे, इतिस्वामिमतेन दर्शनिको भवेत्, स्वामिमतेनत्विमे (अतिचारा:), अत्राह स्वामी यथा, तथा च स्वामिसूक्तानि' इत्यादि पद; न्यायदीपिकाका 'तदुक्तं स्वामिभिरेव' इस वाक्यके साथ देवागमकी दो कारिकाओंका अवतरण और श्रीविद्यानंदाचार्यकृत अष्टसहस्री आदि ग्रन्थोंके कितने ही पद्य तथा वाक्य।

(४) विक्रमकी १३ वीं शताब्दीके विद्वान पं० आशाधरजी-ने अनगारधर्मामृत और सागारधर्मामृतकी स्वोपज्ञटीका (भव्य-कुमुदचंद्रिका) में स्वामी समन्तभद्रके पूरे अथवा संक्षिप्त (स्वामी) नामके साथ रत्नकरंडके कितने ही पद्योंका—अर्थात् उन पद्योंका जो इस ग्रन्थके प्रथम अध्ययनमें नं० ५, २२, २३, २४, ३० पर; तृतीय अध्ययनमें नं० १६, २०, ४४ पर; छठे अध्ययनमें नं० ७ पर और ७ वें अध्ययनमें नं० २, ६ पर दर्ज हैं—उल्लेख किया है। और कुछ पद्योंको—जो प्रथम अध्ययनमें नं० १४, २१, ३२, ४१ पर पाये जाते हैं—बिना नामके भी उद्धृत किया है। इन सब पद्योंका उल्लेख उन्होंने प्रमाणरूपसे—अपने विषयको पुष्ट करनेके अर्थ अथवा स्वामी समन्तभद्रका मतविशेष प्रदर्शित करनेके लिये ही किया है। अनगारधर्मामृतके १६ वें पद्यकी टीका में, आप्तका निर्णय करते हुए, आपने '*आप्तेनोत्सन्नदोषेण*' इत्यादि पद्य नं० ५ को आगमका वचन लिखा है और उस आगमका कर्ता स्वामिसमन्तभद्रको बतलाया है। यथा—

"*वेद्यते निश्चीयते। कोसौ ? स आप्तोत्तमः। ...कस्मात् ? आगमात्—"आप्तेनोत्सन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना। भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥" इत्यादिकात्। किं विशिष्टात् ? शिष्टानुशिष्टात्। शिष्टा आप्तोपदेशसंपादितशिक्षाविशेषाः स्वामिसमन्तभद्रादयः तैरनुशिष्टाद्गुरुपर्वक्रमेणोपदिष्टात्।*"

इस उल्लेखसे यह बात भी स्पष्ट है कि विद्वद्वर आशाधरजी ने रत्नकरंडक नामके उपासकाध्ययनको 'आगमग्रंथ' प्रतिपादन किया है।

एक स्थान पर आपने मूढताओंका निर्णय करते हुए, '*कथमन्यथेदं स्वामिसूक्तमुपपद्येत*' इस वाक्यके साथ रत्नकरंडका '*भयाशास्नेहलोभाच्च*' इत्यादि पद्य नं० ३० उद्धृत किया है और उसके बाद यह नतीजा निकाला है कि इस स्वामिसूक्तके अनुसार

ही ठक्कुर (अमृतचंद्राचार्य) ने भी *'लोके शास्त्राभासे'* इत्यादि पद्यकी (जो कि पुरुषार्थसिद्ध्युपायका २६ वें नंबरका पद्य है) घोषणा की है। यथा--

" एतदनुसारेणैव ठक्कुरोऽपीदमपाठीत्—
लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्तव्यममूढदृष्टित्वम् ॥ "

इस उल्लेखसे यह पाया जाता है कि पुरुषार्थसिद्ध्युपाय जैसे माननीय ग्रन्थमें भी रत्नकरंडका आधार लिया गया है और इसलिये यह ग्रन्थ उससे भी अधिक प्राचीन तथा माननीय है।

(५) श्रीपद्मप्रभमलधारिदेवने, नियमसारकी टीकामें, *'तथा चोक्तं श्रीसमंतभद्रस्वामिभिः'* *'उक्तं चोपासकाध्ययने'* इन वाक्योंके साथ रत्नकरंडके *'अन्यूनमनतिरिक्तं'* और *'आलोच्यसर्वमेनः'* नामके दो पद्य उद्धृत किये हैं, जो क्रमशः द्वितीय अध्ययनमें नं० १ और छठे अध्ययनमें नं० ४ पर दर्ज हैं। पद्मप्रभमलधारिदेवका अस्तित्व-समय विक्रमकी १२ वीं शताब्दीके लगभग पाया जाता है। इससे यह ग्रन्थ आजसे आठसौ वर्ष पहले भी स्वामिसमन्तभद्रका बनाया हुआ माना जाता था, यह बात स्पष्ट है।

(६) विक्रमकी ११ वीं शताब्दी (पूर्वार्द्ध) के विद्वान् श्रीचामुण्डरायने 'चारित्रचार' में रत्नकरंडका 'सम्यग्दर्शनशुद्धाः' इत्यादि पद्य नं० ३५ उद्धृत किया है। इतना ही नहीं बल्कि कितने ही स्थानोंपर इस ग्रन्थके लक्षणादिकोंको उत्तम समझकर उन्हें शब्दानुसरणसहित अपने ग्रन्थका एक अंग भी बनाया है, जिसके दो नमूने इस प्रकार हैं—

सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः।
पंचगुरुचरणशरणो दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः ॥ —रत्नकरंड

'दर्शनिकः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः पंचगुरुचरणभक्तः सम्यग्दर्शनशुद्धश्च भवति ।' —चारित्रसार

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे ।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥ —रत्नकरंड

'उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि निःप्रतीकाररुजायां
धर्मार्थं तनुत्यजनं सल्लेखना ।' —चारित्रसार

यह 'चारित्रसार' ग्रन्थ उन पाँच-सात खास माननीय‡ ग्रन्थोंमेंसे है जिनके आधारपर पं० आशाधरजीने सागरधर्मामृत-की रचना की है, और इसलिये उसमें रत्नकरंडके इस प्रकारके शब्दानुसरणसे रत्नकरंडकी महत्ता, प्राचीनता और मान्यता और भी अधिकताके साथ ख्यापित होती है। और भी कितने ही प्राचीन ग्रन्थोंमें अनेक प्रकारसे इस ग्रन्थका अनुसरण पाया जाता है, जिनके उल्लेखको विस्तारभयसे यहाँ छोड़नेके लिये मैं मजबूर हूँ—मात्र वि० की छठी शताब्दीके विद्वान् आचार्य-श्रीपूज्यपादकी 'सर्वार्थसिद्धि' का नामोल्लेख कर देना चाहता हूँ, जिसपर समन्तभद्रके इस ग्रन्थ-प्रभावको भी स्वतन्त्र लेख-द्वारा स्पष्ट किया जा चुका है†। साथ ही सिद्धसेनके 'न्यायावतार' का भी नाम ले देना चाहता हूँ, जिसमें इस ग्रन्थका 'आप्तोपज्ञ' पद्य (नं० ६) उद्धृत पाया जाता है और जिसके इस उद्धरणको भी स्पष्ट किया जा चुका है* ।

‡ वे ग्रन्थ इस प्रकार हैं—१ रत्नकरंड, २ सोमदेवकृत—यशस्ति-लकान्तर्गत उपासकाध्ययन, ३ चारित्रसार, ४ वसुनंदि-श्रावकाचार, ५ श्रीजिनसेनकृत आदिपुराण, ६ तत्त्वार्थसूत्र आदि ।

† देखो, 'सर्वार्थसिद्धिपर समन्तभद्रका प्रभाव' नामक लेख 'अनेकान्त' वर्ष ५ किरण १०-११ पृष्ठ ३४६-३५२

* देखो, अनेकान्त वर्ष ६, कि० ३ पृ० १०२-१०४

(७) श्रीवादिराजसूरि नामके सुप्रसिद्ध विद्वान् आचार्यने अपना 'पार्श्वनाथचरित' शक संवत् ६४७ में बनाकर समाप्त किया है। इस ग्रन्थमें साफ तौरसे 'देवागम' और 'रत्नकरंडक' दोनोंके कर्ता स्वामी समन्तभद्रको ही सूचित किया है। यथा—

'स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहं ।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥

× × ×

त्यागी स एव योगीन्द्रो येनाक्षय्यसुखावहः ।
अर्थिने भव्यसार्थाय दिष्टो रत्नकरण्डकः ॥

अर्थात्—उन स्वामी (समंतभद्र) का चरित्र किसके लिये विस्मयकारक नहीं है जिन्होंने 'देवागम' नामके अपने प्रवचन-द्वारा आज भी सर्वज्ञको प्रदर्शित कर रक्खा है। × × × वे ही योगीन्द्र (समंतभद्र) त्यागी (दानी) हुए हैं जिन्होंने सुखार्थी भव्यसमूहके लिये अक्षयसुखका कारणभूत धर्मरत्नोंका पिटारा— 'रत्नकरंड' नामका धर्मशास्त्र-दान किया है।

इन सब प्रमाणोंकी मौजूदगीमें इस प्रकारके संदेहको कोई अवसर नहीं रहता कि, यह ग्रन्थ 'देवागम' के कर्ता स्वामी समन्तभद्रको छोड़कर दूसरे किसी समन्तभद्रका बनाया हुआ है, अथवा आधुनिक है। खुद ग्रन्थका साहित्य भी इस संदेहमें हमें कोई सहायता नहीं देता। वह विषयकी सरलता आदिकी दृष्टिसे प्रायः इतना प्रौढ़, गंभीर, उच्च और क्रमबद्ध है कि उसे स्वामी समन्तभद्रका साहित्य स्वीकार करनेमें जरा भी हिचकिचाहट नहीं होता। ग्रन्थभरमें ऐसा कोई कथन भी नहीं है जो आचार्य-महोदयके दूसरे किसी ग्रन्थके विरुद्ध पड़ता हो, अथवा जो जैन-सिद्धान्तोंके ही प्रतिकूल हो और जिसको प्रचलित करनेके लिये किसीको भगवान् समन्तभद्रका सहारा लेना पड़ा हो। ऐसी हालतमें और उपर्युक्त प्रमाणोंकी रोशनीमें इस बातकी तो कल्पना

भी नहीं हो सकती कि इतने सुदूरभूत कालमें—डेढ हजारवर्षसे भी पहले—किसीने बिना वजह ही स्वामी समंतभद्रके नामसे इस ग्रन्थकी रचना की हो, और तबसे अबतक, ग्रन्थके इतना अधिक नित्यके परिचयमें आते और अच्छे-अच्छे अनुभवी विद्वानों तथा आचार्योंके हाथोंमेंसे गुजरनेपर भी, किसीने उसको लक्षित न किया हो। इसलिये ग्रन्थके कर्ताविषयका यह संपूर्ण संदेह निर्मूल जान पड़ता है।

जहाँतक मैं समझता हूँ और मुझे मालूम भी हुआ है, लोगों के इस संदेहका प्रायः एक ही प्रधान कारण है और वह यह है कि, ग्रन्थमें उस 'तर्कपद्धति' का दर्शन नहीं होता जो समन्तभद्र-के दूसरे तर्कप्रधान ग्रन्थोंमें पाई जाती है और जिनमें अनेक विवादग्रस्त विषयोंका विवेचन किया गया है—संशयालु लोग समन्तभद्र-द्वारा निर्मित होनेके कारण इस ग्रन्थको भी उसी रंगमें रंगा हुआ देखना चाहते थे जिसमें वे देवगमादिकको देख रहे हैं। परन्तु यह उनकी भारी भूल तथा गहरा भ्रम है। मालूम होता है उन्होंने श्रावकाचारविषयक जैन साहित्यका कालक्रमसे अथवा ऐतिहासिक दृष्टिसे अवलोकन नहीं किया और न देश तथा समाजकी तात्कालिक स्थिति पर ही कुछ विचार किया है। यदि ऐसा होता तो उन्हें मालूम हो जाता कि उस वक्त—स्वामी समन्तभद्रके समयमें—और उससे भी पहिले श्रावक लोग प्रायः साधुमुखापेक्षी हुआ करते थे—उन्हें स्वतन्त्ररूपसे ग्रन्थोंको अध्ययन करके अपने मार्गका निश्चय करनेकी जरूरत नहीं होती थी; बल्कि साधु तथा मुनिजन ही उस वक्त, धर्म विषयमें, उनके एक मात्र पथप्रदर्शक होते थे। देशमें उस समय मुनिजनों-की खासी बहुलता थी और उनका प्रायः हरवक्तका सत्समागम बना रहता था। इससे गृहस्थ लोग धर्मश्रवणके लिये उन्हींके पास जाया करते थे और धर्मकी व्याख्याको सुनकर उन्हींसे अपने

लिये कभी कोई व्रत, किसी खास व्रत अथवा व्रतसमूहकी याचना किया करते थे। साधुजन भी श्रावकोंको उनके यथेष्ट कर्तव्यकर्म-का उपदेश देते थे, उनके याचित व्रतको यदि उचित समझते थे तो उसकी गुरुमंत्रपूर्वक उन्हें दीक्षा देते थे और यदि उनकी शक्ति तथा स्थितिके योग्य उसे नहीं पाते थे तो उसका निषेध कर देते थे; साथ ही जिस व्रतादिकका उनके लिये निर्देश करते थे उसके विधिविधानको भी उनकी योग्यताके अनुकूल ही नियंत्रित कर देते थे। इस तरह पर गुरुजनोंके द्वारा धर्मोपदेशको सुनकर धर्मानुष्ठानकी जो कुछ शिक्षा श्रावकोंको मिलती थी उसीके अनुसार चलना वे अपना धर्म—अपना कर्तव्यकर्म—समझते थे, उसमें 'चूँचरा' (किं, कथं इत्यादि) करना उन्हें नहीं आता था, अथवा यों कहिये कि उनकी श्रद्धा और भक्ति उन्हें उस ओर (संशयमार्गकी तरफ) जाने ही न देती थी। श्रावकोंमें सर्वत्र आज्ञाप्रधानताका साम्राज्य स्थापित था और अपनी इस प्रवृत्ति तथा परिणतिके कारण ही वे लोग श्रावक † तथा श्राद्ध ‡ कहलाते

† (१) 'शृणोति गुर्वादिभ्यो धर्ममिति श्रावकः' —सागार ध० टी० 'जो गुरु आदिके मुखसे धर्म श्रवण करता है उसे श्रावक (सुननेवाला) कहते हैं।'

(२) संपत्तदंसणाई पयदियहं जइजणा सुणेई य।
सामायारिं परमं जो खलु तं सावगं विन्ति॥ —श्रावकप्रज्ञप्ति

'जो सम्यग्दर्शनादियुक्त गृहस्थ प्रतिदिन मुनिजनोंके पास जाकर परम सामाचारीको (साधु तथा गृहस्थोंके आचारविशेषको) श्रवण करता है उसे 'श्रावक' कहते हैं।'

‡ श्रद्धासमन्वित अथवा श्रद्धा-गुण-युक्तको 'श्राद्ध' कहते हैं ऐसा हेमचन्द्र तथा श्रीधरादि आचार्योंने प्रतिपादन किया है। मुनिजनोंके आचार-विचारमें श्रद्धा रखनेके कारण ही उनके उपासक 'श्राद्ध' कहलाते थे।

थे। उस वक्त तक श्रावकधर्ममें अथवा स्वाचार-विषयपर श्रावकों में तर्कका प्राय: प्रवेश ही नहीं हुआ था और न नाना आचार्यों का परस्पर इतना मतभेद ही हो पाया था जिसकी व्याख्या करने अथवा जिसका सामंजस्य स्थापित करने आदिके लिये किसीको तर्क-पद्धतिका आश्रय लेनेकी जरूरत पड़ती। उस वक्त तर्कका प्रयोग प्राय: स्वपरमतके सिद्धान्तों तथा आप्तादि विवादग्रस्त विषयोंपर ही होता था। वे ही तर्ककी कसौटीपर चढ़े हुए थे, उन्हींकी परीक्षा तथा निर्णयादिके लिये उसका सारा प्रयास था। और इसलिये उस वक्तके जो तर्कप्रधान ग्रन्थ पाये जाते हैं वे प्राय: उन्हीं विषयोंको लिये हुए हैं। जहाँ विवाद नहीं होता वहाँ तर्कका काम भी नहीं होता। इसीसे छन्द, अलंकार, काव्य, कोश, व्याकरण, वैद्यक, ज्योतिषादि दूसरे कितने ही विषयोंके ग्रन्थ तर्कपद्धतिसे प्राय: शून्य पाये जाते हैं। खुद स्वामी समन्तभद्र का स्तुतिविद्या (जिनशतक) नामक ग्रन्थ भी इसी कोटिमें स्थित है—स्वामीके द्वारा निर्मित होनेपर भी उसमें 'देवागम'—जैसी तर्कप्रधानता नहीं पाई जाती—वह एक कठिन शब्दालंकारप्रधान ग्रन्थ है और आचार्यमहोदयके अपूर्व काव्यकौशल, अद्भुत व्याकरणपाण्डित्य और अद्वितीय शब्दाधिपत्यको सूचित करता है। 'रत्नकरंड' भी उन्हीं तर्कप्रधानतारहित ग्रन्थोंमेंसे एक ग्रन्थ है और इसलिये उसकी यह तर्कहीनता संदेहका कोई कारण नहीं हो सकती; और फिर ऐसा भी नहीं कि रत्नकरण्डमें तर्कसे बिल्कुल काम ही न लिया गया हो। आवश्यक तर्कको यथावसर बराबर स्थान दिया गया है जिसका, जरूरत होने पर, अच्छा स्पष्टीकरण किया जा सकता है। यहाँ सूचनारूपमें ऐसे कुछ पद्योंके नम्बरोंको नोट किया जाता है जिनमें तर्कसे कुछ काम लिया गया है अथवा जो तर्कदृष्टिको लक्ष्यसे लेकर लिखे गये हैं:—५, ८, ९, २१, २६, २७, २९, ३३, ४७, ४८, ५३, ५६,

६७, ७०, ८१, ८२, ८४ से ८६, ६५, १०२, १२३। ऐसा कोई नियम भी नहीं है जिससे एक ग्रन्थकार अपने संपूर्ण ग्रन्थोंमें एक ही पद्धतिको जारी रखनेके लिये बाध्य हो सके। नाना विषयोंके ग्रन्थ नाना प्रकारके शिष्योंको लक्ष्य करके लिखे जाते हैं और उनमें विषय तथा शिष्यरुचिकी विभिन्नताके कारण लेखनपद्धतिमें भी अक्सर विभिन्नता हुआ करती है। यह दूसरी बात है कि उनके साहित्यमें प्रौढता, प्रतिपादनकुशलता और शब्दविन्यासादि कितनी ही बातोंकी परस्पर समानता पाई जाती हो और इस समानतासे 'रत्नकरण्ड' भी खाली नहीं है।

यहाँ पर ग्रन्थकर्तृत्व-सम्बन्धमें इतना और भी प्रकट कर देना उचित मालूम होता है कि मिस्टर बी० लेविस राइस साहब ने, अपनी 'इन्स्क्रिप्शन्स एट् श्रवणबेल्गोल' नामक पुस्तककी भूमिकामें रत्नकरंडकके सल्लेखनाधिकार-सम्बन्धी 'उपसर्गे दुर्भिक्षे........' इत्यादि सात पद्योंको उद्धृत करते हुए, लिखा है कि यह 'रत्नकरंडक' 'आयितवर्मा' का बनाया हुआ एक ग्रन्थ है। यथा—

The vow in performance of which they thus starved themselves to death is called Sallekhana and the following is the description of it in the Ratnakarandaka, a work by Ayit-varmma.

परन्तु आयितवर्म्मा कौन थे, कब हुए हैं और कहाँसे अथवा किस जगहकी ग्रन्थप्रतिपरसे उन्हें इस नामकी उपलब्धि हुई इत्यादि बातोंका भूमिकामें कोई उल्लेख नहीं है। हाँ आगे चलकर स्वामी समन्तभद्रको भी 'रत्नकरंड' का कर्ता लिखा है और यह बतलाया है कि उन्होंने पुनर्दीक्षा लेनेके पश्चात् इस ग्रन्थकी रचना की है—

Samantabhadra. having again taken diksha, composed the Ratnakarandaka & other Jinagam, Purans & become a professor of Syadvada.

यद्यपि 'आयितवर्म्मा' यह नाम बहुत ही अश्रुतपूर्व जान पड़ता है और जहाँ तक मैंने जैन साहित्यका अवगाहन किया है मुझे किसी भी दूसरी जगहसे इस नामकी उपलब्धि नहीं हुई। तो भी इतना संभव है कि 'शान्तिवर्मा' की तरह 'आयितवर्मा' भी समन्तभद्रके गृहस्थजीवनका एक नामान्तर हो अथवा शान्ति-वर्म्माकी जगह गलतीसे ही यह लिख गया हो। यदि ऐसा कुछ नहीं है तो उपर्युक्त प्रमाण-समुच्चयके आधार पर मुझे इस कहने में ज़रा भी संकोच नहीं हो सकता कि राइस साहबका इस ग्रन्थ को आयितवर्म्माका बतलाना बिलकुल गलत और भ्रममूलक है, उन्हें अवश्य ही इस उल्लेखके करनेमें कोई ग़लतफ़हमी अथवा विप्रतिपत्ति हुई है। अन्यथा यह ग्रन्थ स्वामी समन्तभद्रका ही बनाया हुआ है और उन्हींके नामसे प्रसिद्ध है।

प्रसन्नताका विषय है कि उक्त पुस्तकके द्वितीय संस्करणमें, जो सन् १९२३ में प्रकाशित हुआ है, राइस साहबकी उक्त गलती का सुधार कर दिया गया है और साफ तौर पर 'रत्नकरण्डक आफ् समन्तभद्र' (Ratnakarandaka of Samantabhadra) शब्दोंके द्वारा 'रत्नकरंडक' को समन्तभद्रका ही ग्रन्थ स्वीकार किया है।

नया सन्देह

कुछ वर्ष हुए प्रोफेसर हीरालालजी जैन एम० ए० ने 'जैन इतिहासका एक विलुप्त अध्याय' नामक निबन्ध लिखा था, जो जनवरी सन् १९४४ को होने वाले अखिल भारतवर्षीय प्राच्य सम्मेलनके १२ वें अधिवेशन पर बनारसमें पढ़ा गया था। इस

निबन्धमें प्रो० सा० ने यह प्रतिपादन किया है कि 'रत्नकरण्ड' उन्हीं ग्रन्थकार (स्वामी समन्तभद्र) की रचना कदापि नहीं हो सकती जिन्होंने आप्तमीमांसा लिखी थी; क्योंकि रत्नकरण्डके 'क्षुत्पिपासा' नामक पद्यमें दोषका जो स्वरूप समझाया गया है वह आप्तमीमांसाकारके अभिप्रायानुसार हो ही नहीं सकता। और इस तरह प्रस्तुत ग्रन्थ पर एक नये सन्देहको जन्म दिया है; क्योंकि दोनों ग्रन्थ एक ही आचार्यकी कृति माने जाते हैं। अस्तु, यह सन्देह भी ठीक नहीं है। इस विषय पर मैंने गहरी जाँच-पड़तालके बाद जो कुछ विचार तथा निर्णय स्थिर किया है † उसे नीचे दिया जाता है:—

रत्नकरण्डको आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्रकी कृति न बतलानेमें प्रोफेसर साहबकी जो सबसे बड़ी दलील (युक्ति) है वह यह है कि रत्नकरण्डके 'क्षुत्पिपासा' नामक पद्यमें दोषका जो स्वरूप समझाया गया है वह आप्तमीमांसाकारके अभिप्रायानुसार हो ही नहीं सकता—अर्थात् आप्तमीमांसाकारका दोषके स्वरूप-विषयमें जो अभिमत है वह रत्नकरण्डके उक्त पद्यमें वर्णित दोष-स्वरूपके साथ मेल नहीं खाता—विरुद्ध पड़ता है, और इसलिये दोनों ग्रन्थ एक ही आचार्यकी कृति नहीं हो सकते।' इस दलीलको चरितार्थ करनेके लिये सबसे पहले यह मालूम होनेकी ज़रूरत है कि आप्तमीमांसाकारका दोषके स्वरूप-

† यह विचार और निर्णय उस चर्चाके बाद स्थिर किया गया है जो ग्रन्थके कर्तृत्वविषयमें प्रोफेसर साहब तथा न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठियाके दरम्यान लेखों-प्रतिलेखों-द्वारा 'अनेकान्त' मासिकमें चार वर्ष तक चलती रही है और मेरे उस लेखका एक अंश है जो 'रत्नकरण्डके कर्तृत्वविषयमें मेरा विचार और निर्णय' नामसे 'अनेकान्त' के वर्ष ९ में किरण १ से ४ तक प्रकट हुआ है।

विषयमें क्या अभिमत अथवा अभिप्राय है और उसे प्रोफेसर साहबने कहाँसे अवगत किया है ?—मूल आप्तमीमांसापरसे ? आप्तमीमांसाकी टीकाओंपरसे ? अथवा आप्तमीमांसाकारके दूसरे ग्रन्थोंपरसे ? और उसके बाद यह देखना होगा कि रत्न-करण्डके 'क्षुत्पिपासा' नामक पद्यके साथ वह मेल खाता अथवा सङ्गत बैठता है या कि नहीं।

प्रोफेसर साहबने आप्तमीमांसाकारके द्वारा अभिमत दोषके स्वरूपका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया—अपने अभिप्रायानुसार उसका केवल कुछ संकेत ही किया है। उसका प्रधान कारण यह मालूम होता है कि मूल आप्तमीमांसामें कहीं भी दोषका कोई स्वरूप दिया हुआ नहीं है। 'दोष'शब्दका प्रयोग कुल पाँच कारि-काओं नं० ४, ६, ५६, ६२, ८० में हुआ है, जिनमेंसे पिछली तीन कारिकाओंमें बुद्ध्यसंचरदोष, वृत्तिदोष और प्रतिज्ञादोष तथा हेतुदोषका क्रमशः उल्लेख है, आप्तदोषसे सम्बन्ध रखनेवाली केवल ४थी तथा ६ठी कारिका ही है। और वे दोनों ही 'दोष' के स्वरूप-कथनसे रिक्त हैं। और इसलिये दोषका अभिमत स्वरूप जाननेके लिये आप्तमीमांसाकी टीकाओं तथा आप्तमीमांसा-कारकी दूसरी कृतिओंका आश्रय लेना होगा। साथ ही, ग्रन्थके संदर्भ अथवा पूर्वापर-कथन-सम्बन्धको भी देखना होगा।

टीकाओंका विचार—

प्रोफेसर साहबने ग्रन्थसन्दर्भके साथ टीकाओंका आश्रय लेते हुए, अष्टसहस्रीटीकाके आधार पर, जिसमें अकलङ्कदेवकी अष्टशती टीका भी शामिल है, यह प्रतिपादित किया है कि 'दोषावरणयोर्हानिः' इस चतुर्थ कारिका-गत वाक्य और 'स त्वमेवासि निर्दोषः' इस छठी कारिकागत वाक्यमें प्रयुक्त 'दोष'

शब्दका अभिप्राय उन अज्ञान तथा राग-द्वेषादिक* वृत्तियोंसे है जो ज्ञानावरणादि घातिया कर्मोंसे उत्पन्न होती हैं और केवलीमें उनका अभाव होने पर नष्ट हो जाती हैं †। इस दृष्टिसे रत्न-करण्डके उक्त छठे पद्यमें उल्लेखित भय, स्मय, राग, द्वेष और मोह ये पाँच दोष तो आपको असङ्गत अथवा विरुद्ध मालूम नहीं पड़ते; शेष क्षुधा, पिपासा, जरा, आतङ्क (रोग), जन्म और अन्तक (मरण) इन छह दोषोंको आप असंगत समझते हैं— उन्हें सर्वथा असातावेदनीयादि अघातिया कर्मजन्य मानते हैं और उनका आप्त केवलीमें अभाव बतलाने पर अघातिया कर्मों का सत्व तथा उदय वर्तमान रहनेके कारण सैद्धान्तिक कठिनाई महसूस करते हैं §। परन्तु अष्टसहस्रीमें ही द्वितीय कारिकाके अन्तर्गत '*विग्रहादिमहोदयः*' पदका जो अर्थ '*शश्वन्निस्वेदत्वादिः*' किया है और उसे '*घातिक्षयजः*' बतलाया है उस पर प्रो० साहब-ने पूरी तौर पर ध्यान दिया मालूम नहीं होता। '*शश्वन्निस्वेद-त्वादिः*' पदमें उन ३४ अतिशयों तथा ८ प्रातिहार्योंका समावेश है जो श्रीपूज्यपादके '*नित्यं निःस्वेदत्वं*' इस भक्तिपाठगत अर्हत्स्तोत्र में वर्णित हैं। इन अतिशयोंमें अर्हत्स्वयम्भूकी देह-सम्बन्धी जो १० अतिशय हैं उन्हें देखते हुए जरा और रोगके लिये कोई स्थान नहीं रहता और भोजन तथा उपसर्गके अभावरूप (भुक्त्युपसर्गा-भावः) जो दो अतिशय हैं उनकी उपस्थितिमें क्षुधा और पिपासा के लिये कोई अवकाश नहीं मिलता। शेष 'जन्म' का अभिप्राय पुनर्जन्मसे और 'मरण' का अभिप्राय अपमृत्यु अथवा उस मरणसे है जिसके अनन्तर दूसरा भव (संसारपर्याय) धारण

* "दोषास्तावदज्ञान-राग-द्वेषादय उक्ताः"।
(अष्टसहस्री का० ६, पृ० ६२)

† अनेकान्त वर्ष ७, कि० ७-८, पृ० ६२

§ अनेकान्त वर्ष ७, कि० ३-४, पृ० ३१

किया जाता है। घातिया कर्मके क्षय हो जाने पर इन दोनोंकी सम्भावना भी नष्ट हो जाती है। इस तरह घातिया कर्मोंके क्षय होने पर क्षुत्पिपासादि शेष छहों दोषोंका अभाव होना भी अष्ट-सहस्री-सम्मत है, ऐसा समझना चाहिये। वसुनन्दि-वृत्तिमें तो दूसरी कारिकाका अर्थ देते हुए, "*क्षुत्पिपासाजरारुजाऽपमृत्य्वाद्यभावः इत्यर्थः*" इस वाक्यके द्वारा क्षुधा-पिपासादिके अभावको साफ तौर पर विग्रहादिमहोदयके अन्तर्गत किया है, विग्रहादि-महोदय को अमानुषातिशय लिखा है तथा अतिशयको पूर्वावस्थाका अतिरेक बतलाया है। और छठी कारिकामें प्रयुक्त हुए 'निर्दोष' शब्दके अर्थमें अविद्या-रागादिके साथ क्षुधादिके अभावको भी सूचित किया है। यथा:—

"*निर्दोष अविद्यारागादिविरहितः क्षुदादिविरहितो वा अनन्त-ज्ञानादिसम्बन्धेन इत्यर्थः।*"

इस वाक्यमें '*अनन्तज्ञानादि-सम्बन्धेन*' पद '*क्षुदादिविरहितः*' पदके साथ अपनी खास विशेषता एवं महत्व रखता है और इस बातको सूचित करता है कि जब आत्मामें अनन्तज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यकी आविर्भूति होती है तब उसके सम्बन्धसे क्षुधादि दोषोंका स्वतः अभाव होजाता है अर्थात् उनका अभाव हो जाना उसका आनुषङ्गिक फल है—उसके लिये वेदनीय कर्मका अभाव-जैसे किसी दूसरे साधनके जुटने-जुटानेकी जरूरत नहीं रहती। और यह ठीक ही है; क्योंकि मोहनीयकर्मके साहचर्य अथवा सहायके बिना वेदनीयकर्म अपना कार्य करनेमें उसी तरह असमर्थ होता है जिस तरह ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ ज्ञान वीर्यान्तरायकर्म-का अनुकूल क्षयोपशम साथमें न होनेसे अपना कार्य करनेमें समर्थ नहीं होता; अथवा चारों घातिया कर्मोंका अभाव हो जाने

पर वेदनीयकर्म अपना दुःखोत्पादनादि कार्य करनेमें उसी प्रकार असमर्थ होता है जिस प्रकार कि मिट्टी और पानी आदिके बिना बीज अपना अंकुरोत्पादन कार्य करनेमें असमर्थ होता है। मोहादिकके अभावमें वेदनीयकी स्थिति जीवित-शरीर-जैसी न रहकर मृत-शरीर-जैसी हो जाती है, उसमें प्राण नहीं रहता अथवा जली रस्सीके समान अपना कार्य करनेकी शक्ति नहीं रहती। इस विषयके समर्थनमें कितने ही शास्त्रीय प्रमाण आप्त-स्वरूप, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक, श्लोकवार्तिक, आदिपुराण और जयधवला-जैसे ग्रन्थोंपरसे पण्डित दरबारीलालजीके लेखों-में उद्धृत किये गये हैं※ जिन्हें यहाँ फिरसे उपस्थित करनेकी जरूरत मालूम नहीं होती। ऐसी स्थितिमें क्षुत्पिपासा-जैसे दोषों-को सर्वथा वेदनीय-जन्य नहीं कहा जा सकता—वेदनीयकर्म उन्हें उत्पन्न करनेमें सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है। और कोई भी कार्य किसी एक ही कारणसे उत्पन्न नहीं हुआ करता, उपादान कारण के साथ अनेक सहकारी कारणोंकी भी उसके लिये जरूरत हुआ करती है, उन सबका संयोग यदि नहीं मिलता तो कार्य भी नहीं हुआ करता। और इसलिये केवलीमें क्षुधादिका अभाव मानने पर कोई भी सैद्धान्तिक कठिनाई उत्पन्न नहीं होती। वेदनीयका सत्व और उदय वर्तमान रहते हुए भी, आत्मामें अनन्तज्ञान-सुख-वीर्यादिका सम्बन्ध स्थापित होनेसे वेदनीय कर्मका पुद्गल-परमाणुपुञ्ज क्षुधादि-दोषोंको उत्पन्न करनेमें उसी तरह असमर्थ होता है जिस तरह कि कोई विषद्रव्य, जिसकी मारण शक्तिको मन्त्र तथा औषधादिके बल पर प्रक्षीण कर दिया गया हो, मारनेका कार्य करनेमें असमर्थ होता है। निःसत्व हुए विषद्रव्य के परमाणुओंको जिस प्रकार विषद्रव्यके ही परमाणु कहा

※ अनेकान्त वर्ष ८ किरण ४-५ पृ० १५९-१६१

जाता है उसी प्रकार निःसत्व हुए वेदनीयकर्मके परमाणुओंको भी वेदनीयकर्मके ही परमाणु कहा जाता है, और इस दृष्टिसे ही आगममें उनके उदयादिककी व्यवस्था की गई है। उसमें कोई प्रकारकी बाधा अथवा सैद्धान्तिक कठिनाई नहीं होती—और इसलिये प्रोफेसर साहबका यह कहना कि 'क्षुधादि दोषोंका अभाव मानने पर केवलीमें अघातियाकर्मोंके भी नाशका प्रसङ्ग आता है'* उसी प्रकार युक्तिसंगत नहीं है जिस प्रकार कि धूमके अभावमें अग्निका भी अभाव बतलाना अथवा किसी औषध-प्रयोगमें विषद्रव्यकी मारणशक्तिके प्रभावहीन हो जाने पर विष-द्रव्यके परमाणुओंका ही अभाव प्रतिपादन करना। प्रत्युत इसके, घातिया कर्मोंका अभाव होने पर भी यदि वेदनीयकर्मके उदयादि-वश केवलीमें क्षुधादिकी वेदनाओंको और उनके निरसनार्थ भोजनादिके ग्रहणकी प्रवृत्तियोंको माना जाता है तो उससे कितनी ही दुर्निवार सैद्धान्तिक कठिनाइयाँ एवं बाधाएँ उपस्थित होती हैं, जिनमेंसे दो तीन नमूनेके तौर पर इस प्रकार हैं:—

(क) यदि असातावेदनीयके उदय वश केवलीको भूख-प्यास-की वेदनाएँ सताती हैं, जो कि संक्लेश परिणामकी अविनाभा-विनी हैं †, तो केवलीमें अनन्त सुखका होना बाधित ठहरता है। और उस दुःखको न सह सकनेके कारण जब भोजन ग्रहण किया जाता है तो अनन्तवीर्य भी बाधित हो जाता है—उसका कोई मूल्य नहीं रहता—अथवा वीर्यान्तरायकर्मका अभाव उसके विरुद्ध पड़ता है।

(ख) यदि क्षुधादि वेदनाओंके उदय-वश केवलीमें भोजनादि की इच्छा उत्पन्न होती है तो केवलीके मोहकर्मका अभाव हुआ

* अनेकान्त वर्ष ७ किरण ७-८ पृ० ६२

† संकिलेसाविणाभावणीए भुक्खाए दज्झमाणस्स (धवला)

नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इच्छा मोहका परिणाम है। और मोहके सद्भावमें केवलित्व भी नहीं बनता। दोनों परस्पर विरुद्ध हैं।

(ग) भोजनादिकी इच्छा उत्पन्न होने पर केवलीमें नित्य ज्ञानोपयोग नहीं बनता, और नित्य ज्ञानोपयोगके न बन सकने पर उसका ज्ञान छद्मस्थों (असर्वज्ञों) के समान क्षायोपशमिक ठहरता है—क्षायिक नहीं। और तब ज्ञानावरण तथा उसके साथी दर्शनावरण नामके घातियाकर्मोंका अभाव भी नहीं बनता।

(घ) वेदनीयकर्मके उदयजन्य जो सुख-दुःख होता है वह सब इन्द्रियजन्य होता है और केवलीके इन्द्रियज्ञानकी प्रवृत्ति रहती नहीं। यदि केवलीमें क्षुधा-तृषादिकी वेदनाएँ मानी जाएँगी तो इन्द्रियज्ञानकी प्रवृत्ति होकर केवलज्ञानका विरोध उपस्थित होगा; क्योंकि केवलज्ञान और मतिज्ञानादिक युगपत् नहीं होते।

(ङ) क्षुधादिकी पीड़ाके वश भोजनादिकी प्रवृत्ति यथाख्यात-चारित्रकी विरोधिनी है। भोजनके समय मुनिको प्रमत्त (छठा) गुणस्थान होता है और केवली भगवान १३ वें गुणस्थानवर्ती होते हैं जिससे फिर छठेमें लौटना नहीं बनता। इससे यथा-ख्यातचारित्रको प्राप्त केवलीभगवानके भोजनका होना उनकी चर्या और पदस्थके विरुद्ध पड़ता है।

इस तरह क्षुधादिकी वेदनाएँ और उनकी प्रतिक्रिया मानने पर केवलीमें घातियाकर्मोंका अभाव ही घटित नहीं हो सकेगा, जो कि एक बहुत बड़ी सैद्धान्तिक बाधा होगी। इसीसे क्षुधादिके अभावको *'घातिकर्मक्षयजः'* तथा *'अनन्तज्ञानादिसम्बन्धजन्य'* बतलाया गया है, जिसके मानने पर कोई भी सैद्धान्तिक बाधा नहीं रहती। और इसलिये टीकाओंपरसे क्षुधादिका उन दोषोंके

रूपमें निर्दिष्ट तथा फलित होना सिद्ध है जिनका केवली भगवान-में अभाव होता है। ऐसी स्थितिमें रत्नकरण्डके उक्त छठे पद्यको क्षुत्पिपासादि दोषोंकी दृष्टिसे भी आप्तमीमांसाके साथ असंगत अथवा विरुद्ध नहीं कहा जा सकता।

ग्रन्थके सन्दर्भकी जाँच—

अब देखना यह है कि क्या ग्रन्थका सन्दर्भ स्वयं इसके कुछ विरुद्ध पड़ता है? जहाँ तक मैंने ग्रन्थके सन्दर्भकी जाँच की है और उसके पूर्वाऽपर कथन सम्बन्धको मिलाया है मुझे उसमें कहीं भी ऐसी कोई बात नहीं मिली जिसके आधार पर केवलीमें क्षुत्पिपासादिके सद्भावको स्वामी समन्तभद्रकी मान्यता कहा जा सके। प्रत्युत इसके, ग्रन्थकी प्रारम्भिक दो कारिकाओंमें जिन अतिशयोंका देवागम-नभोयान-चामरादि विभूतियोंके तथा अन्तर्बाह्य-विग्रहादि-महोदयोंके रूपमें उल्लेख एवं संकेत किया गया है और जिनमें घातिक्षय-जन्य होनेसे क्षुत्पिपासादिके अभाव का भी समावेश है उनके विषयमें एक भी शब्द ग्रन्थमें ऐसा नहीं पाया जाता जिससे ग्रन्थकारकी दृष्टिमें उन अतिशयोंका केवली भगवानमें होना अमान्य समझा जाय। ग्रन्थकारमहोदयने '*मायाविष्वपि दृश्यन्ते*' तथा '*दिव्यः सत्यः दिवौकस्स्वप्यस्ति*' इन वाक्योंमें प्रयुक्त हुए '*अपि*' शब्दके द्वारा इस बातको स्पष्ट घोषित कर दिया है कि वे अर्हत्केवलीमें उन विभूतियों तथा विग्रहादि-महोदयरूप अतिशयोंका सद्भाव मानते हैं परन्तु इतनेसे ही वे उन्हें महान् (पूज्य) नहीं समझते; क्योंकि ये अतिशय अन्यत्र मायावियों (इन्द्रजालियों) तथा रागादि-युक्त देवोंमें भी पाये जाते हैं—भले ही उनमें वे वास्तविक अथवा उस सत्यरूपमें न हों जिसमें कि वे क्षीणकषाय अर्हत्केवलीमें पाये जाते हैं। और इसलिये उनकी मान्यताका आधार केवल आगमाश्रित श्रद्धा ही नहीं है बल्कि एक दूसरा प्रबल आधार वह गुणज्ञता अथवा

परीक्षाकी कसौटी भी है जिसे लेकर उन्होंने कितने ही आप्तोंकी जाँच की है और फिर उस परीक्षाके फलस्वरूप वे वीरजिनेन्द्रके प्रति यह कहनेमें समर्थ हुए हैं कि 'वह निर्दोष आप्त आप ही हैं'। (*स त्वमेवासि निर्दोषः*) साथ ही '*युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्*' इस पद-के द्वारा उस कसौटीको भी व्यक्त कर दिया जिसके द्वारा उन्होंने आप्तोंके वीतरागता और सर्वज्ञता जैसे असाधारण गुणोंकी परीक्षा की है, जिनके कारण उनके वचन युक्ति और शास्त्रसे अविरोधरूप यथार्थ होते हैं, और आगे संक्षेपमें परीक्षाकी तफ़-सील भी दे दी है। इस परीक्षामें जिनके आगम–वचन युक्ति-शास्त्रसे अविरोधरूप नहीं पाये गये उन सर्वथा एकान्तवादियों-को आप्त न मानकर 'आप्ताभिमानदग्ध' घोषित किया है। इस तरह निर्दोष वचन-प्रणयनके साथ सर्वज्ञता और वीतरागता-जैसे गुणोंको आप्तका लक्षण प्रतिपादित किया है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि आप्तमें दूसरे गुण नहीं होते, गुण तो बहुत होते हैं किन्तु वे लक्षणात्मक अथवा इन तीन गुणोंकी तरह खास तौरसे व्यावर्तात्मक नहीं, और इसलिये आप्तके लक्षणमें वे भले ही ग्राह्य न हों परन्तु आप्तके स्वरूप-चिन्तनमें उन्हें अग्राह्य नहीं कहा जा सकता। लक्षण और स्वरूपमें बड़ा अन्तर है—लक्षण-निर्देश में जहाँ कुछ असाधारण गुणोंको ही ग्रहण किया जाता है वहाँ स्वरूपके निर्देश अथवा चिन्तनमें अशेष गुणोंके लिये गुञ्जाइश (अवकाश) रहती है। अतः अष्टसहस्रीकारने '*विग्रहादिमहोदयः*' का जो अर्थ '*शश्वन्निस्वेदत्वादिः*' किया है और जिसका विवेचन ऊपर किया जा चुका है उस पर टिप्पणी करते हुए प्रो० साहबने जो यह लिखा है कि "शरीर सम्बन्धी गुण-धर्मोंका प्रकट होना न होना आप्तके स्वरूप-चिन्तनमें कोई महत्व नहीं रखते"* वह

---

* अनेकान्त वर्ष ७ किरण ७-८ पृ० ६२

ठीक नहीं है। क्योंकि स्वयं स्वामी समन्तभद्रने अपने स्वयम्भू-स्तोत्रमें ऐसे दूसरे कितने ही गुणोंका चिन्तन किया है जिनमें शरीर-सम्बन्धी गुण-धर्मोंके साथ अन्य अतिशय भी आगये हैं †। और इससे यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी समन्तभद्र अतिशयोंको मानते थे और उनके स्मरण-चिन्तनको महत्व भी देते थे।

ऐसी हालतमें 'आप्तमीमांसा' ग्रन्थके सन्दर्भकी दृष्टिसे भी आप्तमें क्षुत्पिपासादिके अभावको विरुद्ध नहीं कहा जा सकता और तब रत्नकरण्डका उक्त छठा पद्य भी विरुद्ध नहीं ठहरता। हाँ, प्रो० साहबने आप्तमीमांसाकी ९३वीं गाथाको विरोधमें

† इस विषयके सूचक कुछ वाक्य इस प्रकार है—

(क) शरीररश्मिप्रसरः प्रभोस्ते बालार्करश्मिच्छविरालिलेप २८। यस्याङ्गलक्ष्मीपरिवेषभिन्नं तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नं, ननाश बाह्यं ······३७। समन्ततोऽङ्गभासां ते परिवेषेण भूयसा, तमो बाह्यमपाकीर्णमध्यात्मं ध्यानतेजसा ६५। यस्य च मूर्तिः कनकमयीव स्वस्फुरदाभाकृतपरिवेषा १०७। शशिरुचिशुचिशुक्ललोहितं सुरभितरं विरजो निजं वपुः। तव शिवमतिविस्मयं यते यदपि च वाङ्मनसीयमीहितम् ११३।

(ख) नभस्तलं पल्लवयन्निव त्वं सहस्रपत्राम्बुजगर्भचारैः, पादाम्बुजैः पातितमारदर्पो भूमौ प्रजानां विजहर्थ भूत्यै २९। प्रातिहार्यविभवैः परिष्कृतो देहतोऽपि विरतो भवानभूत् ७३। मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यतः ७५। पूज्ये मुहुः प्राञ्जलिदेवचक्रम् ७९। सर्वज्ञज्योतिषोद्भूतस्तावको महिमोदयः कं न कुर्यात्प्रणम्रं ते सत्त्वं नाथ सचेतनम् ९६। तव वागमृतं श्रीमत्सर्वभाषास्वभावकं प्रीणयत्यमृतं यद्वत्प्राणिनो व्यापि संसदि ९७। भूरपि रम्या प्रतिपदमासीज्जातविकोशाम्बुजमृदुहासा १०८।

उपस्थित किया है, जो निम्न प्रकार है:—

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि ।
वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः ॥९३॥

इस कारिकाके सम्बन्धमें प्रो० साहबका कहना है कि 'इसमें वीतराग सर्वज्ञके दुःखकी वेदना स्वीकार कीगई है जो कि कर्म-सिद्धान्तकी व्यवस्थाके अनुकूल है; जब कि रत्नकरण्डके उक्त छठे पद्यमें क्षुत्पिपासादिका अभाव बतलाकर दुःखकी वेदना अस्वीकार की गई है जिसकी संगति कर्मसिद्धान्तकी उन व्यवस्थाओंके साथ नहीं बैठती जिनके अनुसार केवलीके भी वेदनीयकर्म-जन्य वेदनाएँ होती हैं और इसलिये रत्नकरण्डका उक्त पद्य इस कारिकाके सर्वथा विरुद्ध पड़ता है—दोनों ग्रन्थोंका एक कर्तृत्व स्वीकार करनेमें यह विरोध बाधक है' *। जहाँ तक मैंने इस कारिकाके अर्थ पर उसके पूर्वापर सम्बन्धकी दृष्टिसे और दोनों विद्वानोंके ऊहापोहको ध्यानमें लेकर विचार किया है, मुझे इसमें सर्वज्ञका कहीं कोई उल्लेख मालूम नहीं होता। प्रो० साहबका जो यह कहना है कि 'कारिकागत 'वीतरागः' और 'विद्वान्' पद दोनों एक ही मुनि-व्यक्तिके वाचक हैं और वह व्यक्ति 'सर्वज्ञ' है, जिसका द्योतक विद्वान् पद साथमें लगा है' † वह ठीक नहीं है। क्योंकि पूर्वकारिकामें‡ जिस प्रकार अचेतन और अकषाय (वीतराग) ऐसे दो अबन्धक व्यक्तियोंमें बन्धका प्रसङ्ग उपस्थित करके परमें दुःख-सुखके उत्पादनका निमित्तमात्र होनेसे पाप-पुण्यके बन्धकी एकान्त मान्यताको सदोष सूचित किया है उसी

* अनेकान्त वर्ष ८, कि०३, पृ० १३२ तथा वर्ष ९, कि०१, पृ० ९

† अनेकान्त वर्ष ७, कि० ३-४, पृ० ३८

‡ पापं ध्रुवं परे दुःखात् पुण्यं च सुखतो यदि ।
अचेतनाऽकषायौ च बध्येयातां निमित्ततः ॥९२॥

प्रकार इस कारिकामें भी वीतराग मुनि और विद्वान् ऐसे दो अबन्धक व्यक्तियोंमें बन्धका प्रसङ्ग उपस्थित करके स्व (निज) में दुःख-सुखके उत्पादनका निमित्तमात्र होनेसे पुण्य-पापके बन्धकी एकान्त मान्यताको सदोष बतलाया है; जैसा कि अष्टसहस्रीकार श्रीविद्यानन्दाचार्यके निम्न टीका-वाक्यसे भी प्रकट है—

"स्वस्मिन् दुःखोत्पादनात् पुण्यं सुखोत्पादनात्तु पापमिति यदीष्यते तदा वीतरागो विद्वांश्च मुनिस्ताभ्यां पुण्यपापाभ्यामात्मानं युञ्ज्यान्निमित्तसद्भावात्, वीतरागस्य कायक्लेशादिरूपदुःखोत्पत्तेर्विदुषस्तत्त्वज्ञानसन्तोषलक्षणसुखोत्पत्तेस्तन्निमित्तत्वात् ।"

इसमें वीतरागके कायक्लेशादिरूप दुःखकी उत्पत्तिको और विद्वान्के तत्त्वज्ञान-सन्तोष लक्षण सुखकी उत्पत्तिको अलग २ बतलाकर दोनों (वीतराग और विद्वान्) के व्यक्तित्वको साफ तौर पर अलग घोषित कर दिया है। और इसलिए वीतरागका अभिप्राय यहाँ उस छद्मस्थ वीतरागी मुनिसे है जो राग-द्वेषकी निवृत्तिरूप सम्यक्चारित्रके अनुष्ठानमें तत्पर होता है—केवलीसे नहीं—और अपनी उस चारित्र-परिणतिके द्वारा बन्धको प्राप्त नहीं होता। और विद्वान्का अभिप्राय उस सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा * से है जो तत्त्वज्ञानके अभ्यास-द्वारा सन्तोष-सुखका अनुभव करता है और अपनी उस सम्यग्ज्ञान-परिणतिके निमित्तसे बन्धको प्राप्त नहीं होता। वह अन्तरात्मा मुनि भी हो सकता है और

* अन्तरात्माके लिये 'विद्वान्' शब्दका प्रयोग आचार्य पूज्यपादने अपने समाधितन्त्रके 'त्यक्त्वारोपं पुनर्विद्वान् प्राप्नोति परमं पदम्' इस वाक्यमें किया है और स्वामी समन्तभद्रने 'स्तुत्यान्न त्वा विद्वान् सततमभिपूज्यं नमिजिनम्' तथा 'त्वमसि विदुषां मोक्षपदवी' इन स्वयम्भूस्तोत्रके वाक्योंद्वारा जिन विद्वानोंका उल्लेख किया है वे भी अन्तरात्मा ही हो सकते हैं।

गृहस्थ भी; परन्तु परमात्मास्वरूप सर्वज्ञ अथवा आप्त नहीं †।

अतः इस कारिकामें जब केवली आप्त या सर्वज्ञका कोई उल्लेख न होकर दूसरे दो सचेतन प्राणियोंका उल्लेख है तब रत्नकरण्डके उक्त छठे पद्यके साथ इस कारिकाका सर्वथा विरोध कैसे घटित किया जा सकता है ? नहीं किया जा सकता—खासकर उस हालतमें जब कि मोहादिकका अभाव और अनन्तज्ञानादिकका सद्भाव होनेसे केवलीमें दुःखादिककी वेदनाएँ वस्तुतः बनती ही नहीं और जिसका ऊपर कितना ही स्पष्टीकरण किया जा चुका है। मोहनीयादि कर्मोंके अभावमें साता-असाता वेदनीय-जन्य सुख-दुःखकी स्थिति उस छायाके समान औपचारिक होती है—वास्तविक नहीं—जो दूसरे प्रकाशके सामने आते ही विलुप्त हो जाती है और अपना कार्य करनेमें समर्थ नहीं होती। और इसलिए प्रोफेसर साहबका यह लिखना कि "यथार्थतः वेदनीयकर्म अपनी फलदायिनी शक्तिमें अन्य अघातिया कर्मोंके समान सर्वथा स्वतन्त्र है" समुचित नहीं है। वस्तुतः अघातिया क्या, कोई भी कर्म अप्रतिहतरूपसे अपनी स्थिति तथा अनुभागादिके अनुरूप फलदानका कार्य करनेमें सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है। किसी भी कर्मके लिये अनेक कारणोंकी जरूरत पड़ती है और अनेक निमित्तोंको पाकर कर्मोंमें संक्रमण-व्यतिक्रमणादि कार्य हुआ करता है, समयसे पहिले उनकी निर्जरा भी हो जाती है और तपश्चरणादिके बलपर उनकी शक्तिको बदला भी जा सकता है। अतः कर्मोंको सर्वथा स्वतन्त्र कहना एकान्त है मिथ्यात्व है और मुक्तिका भी निरोधक है।

यहाँ 'धवला' परसे एक उपयोगी शङ्का-समाधान उद्धृत किया जाता है, जिससे केवलीमें क्षुधा-तृषाके अभावका सकारण

† अनेकान्त वर्ष ८, किरण १, पृष्ठ ३०।

प्रदर्शन होनेके साथ-साथ प्रोफेसर साहबकी इस शङ्काका भी समाधान हो जाता है कि 'यदि केवलीके सुख-दुखकी वेदना माननेपर उनके अनन्तसुख नहीं बन सकता तो फिर कर्मसिद्धान्त-में केवलीके साता और असाता-वेदनीयकर्मका उदय माना ही क्यों जाता, † और वह इस प्रकार है—

"सगसहाय-घादिकम्माभावेण णिस्सत्तिमावण्ण-असादावेदणीय-उदयादो भुक्खा-तिसाणमणुप्पत्तीए णिप्फलस्स परमाणुपुंजस्स समयं पडि परिसदं(डं)तस्स कथमुदय-ववएसो ? ण, जीव-कम्म-विवेग-मेत्त-फलं दट्ठूण उदयस्स फलत्तमब्भुवगमादो।"

—वीरसेवामन्दिर-प्रति पृ० ३७५, आरा-प्रति पृ० ७४१

शङ्का—अपने सहायक घातिया कर्मोंका अभाव होनेके कारण निःशक्तिको प्राप्त हुए असातावेदनीयकर्मके उदयसे जब (केवली में) क्षुधा-तृषाकी उत्पत्ति नहीं होती तब प्रतिसमय नाशको प्राप्त होनेवाले (असातावेदनीयकर्मके) निष्फल परमाणु-पुञ्जका कैसे उदय कहा जाता है ?

समाधान—यह शङ्का ठीक नहीं; क्योंकि जीव और कर्मका विवेक-मात्र फल देखकर उदयके फलपना माना गया है।

ऐसी हालतमें प्रोफेसर साहबका वीतराग-सर्वज्ञके दुःखकी वेदनाके स्वीकारको कर्मसिद्धान्तके अनुकूल और अस्वीकारको प्रतिकूल अथवा असङ्गत बतलाना किसी तरह भी युक्ति-सङ्गत नहीं ठहर सकता और इस तरह ग्रन्थसन्दर्भके अन्तर्गत उक्त ९३वीं कारिकाकी दृष्टिसे भी रत्नकरण्डके उक्त छठे पद्यको विरुद्ध नहीं कहा जा सकता।

समन्तभद्रके दूसरे ग्रन्थोंकी छानबीन—

अब देखना यह है कि क्या समन्तभद्रके दूसरे किसी ग्रन्थमें ऐसी कोई बात पाई जाती है जिससे रत्नकरण्डके उक्त

† अनेकान्त वर्ष ८, किरण २, पृष्ठ ८९।

'क्षुत्पिपासा' पद्यका विरोध घटित होता हो अथवा जो आप्त-केवली या अर्हत्परमेष्ठीमें क्षुधादि-दोषोंके सद्भावको सूचित करती हो। जहाँ तक मैंने स्वयम्भूस्तोत्रादि दूसरे मान्य ग्रन्थोंकी छान-बीन की है, मुझे उनमें कोई भी ऐसी बात उपलब्ध नहीं हुई जो रत्नकरण्डके उक्त छठे पद्यके विरुद्ध जाती हो अथवा किसी भी विषयमें उसका विरोध उपस्थित करती हो। प्रत्युत इसके, ऐसी कितनी ही बातें देखनेमें आती हैं जिनसे अर्हत्केवली में क्षुधादिवेदनाओं अथवा दोषोंके अभावकी सूचना मिलती है। यहाँ उनमेंसे दो चार नमूनेके तौरपर नीचे व्यक्त की जाती हैं—

(क) 'स्वदोष-शान्त्या विहितात्मशान्तिः' इत्यादि शान्ति-जिनके स्तोत्रमें यह बतलाया है कि शान्तिजिनेन्द्रने अपने दोषोंकी शान्ति करके आत्मामें शान्ति स्थापित की है और इसीसे वे शरणागतोंके लिये शान्तिके विधाता हैं। चूंकि क्षुधादिक भी दोष हैं और वे आत्मामें अशान्तिके कारण होते हैं—कहा भी है कि "*क्षुधासमा नास्ति शरीरवेदना*"। अतः आत्मामें शान्तिकी पूर्ण प्रतिष्ठाके लिये उनको भी शान्त किया गया है, तभी शान्तिजिन शान्तिके विधाता बने हैं और तभी संसार-सम्बन्धी क्लेशों तथा भयोंसे शान्ति प्राप्त करनेके लिये उनसे प्रार्थना की गई है। और यह ठीक ही है जो स्वयं रागादिक दोषों अथवा क्षुधादि-वेदनाओंसे पीडित है—अशान्त है—वह दूसरोंके लिये शान्तिका विधाता कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता।

(ख) 'त्वं शुद्धि-शक्त्योरुदयस्य काष्ठां तुलाव्यतीतां जिन शान्ति-रूपामवापिथ' इस युक्त्यनुशासनके वाक्यमें वीरजिनेन्द्रको शुद्धि, शक्ति और शान्तिकी पराकाष्ठाको पहुँचा हुआ बतलाया है। जो शान्तिकी पराकाष्ठा (चरमसीमा) को पहुँचा हुआ हो उसमें क्षुधादि-वेदनाओंकी सम्भावना नहीं बनती।

(ग) *'शर्म शाश्वतमवाप शङ्करः'* इस धर्मजिनके स्तवनमें यह बतलाया है कि धर्मनामके अर्हत्परमेष्ठीने शाश्वत सुखकी प्राप्ति की है और इसीसे वे शंकर–सुखके करनेवाले हैं। शाश्वतसुखकी अवस्थामें एक क्षणके लिये भी क्षुधादि दुःखोंका उद्भव सम्भव नहीं। इसीसे श्रीविद्यानन्दाचार्यने श्लोकवार्तिकमें लिखा है कि *'क्षुधादिवेदनोद्भूतौ नार्हतोऽनन्तशर्मता'* अर्थात् क्षुधादि-वेदनाकी उद्भूति होनेपर अर्हन्तके अनन्तसुख नहीं बनता।

(घ) *'त्वं शम्भवः सम्भवतर्षरोगैः सन्तप्यमानस्य जनस्य लोके'* इत्यादि स्तवनमें शम्भवजिनको सांसारिक तृषा-रोगोंसे प्रपीड़ित प्राणियोंके लिये उन रोगोंकी शान्तिके अर्थ आकस्मिक वैद्य बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि अर्हज्जिन स्वयं तृषा-रोगोंसे पीड़ित नहीं होते, तभी वे दूसरोंके तृषा-रोगोंको दूर करनेमें समर्थ होते हैं। इसी तरह *'इदं जगज्जन्म-जरान्तकार्तं निरञ्जनां शान्तिमजीगमस्त्वं'* इस वाक्यके द्वारा उन्हें जन्म-जरा-मरणसे पीडित जगतको निरञ्जना-शान्तिकी प्राप्ति करानेवाला लिखा है, जिससे स्पष्ट है कि वे स्वयं जन्म-जरा-मरणसे पीड़ित न होकर निरञ्जना-शान्तिको प्राप्त थे। निरञ्जना-शान्तिमें क्षुधादि-वेदनाओंके लिये अवकाश नहीं रहता।

(ङ) *'अनन्तदोषाशय-विग्रहो-ग्रहो विषङ्गवान्मोहमयश्चिरं हृदि'* इत्यादि अनन्तजित्के स्तोत्रमें जिस मोहपिशाचको पराजित करनेका उल्लेख है उसके शरीरको अनन्तदोषोंका आधारभूत बताया है, इससे स्पष्ट है कि दोषोंकी संख्या कुछ इनीगिनी ही नहीं है बल्कि बहुत बढ़ी-चढ़ी है, अनन्तदोष तो मोहनीयकर्मके ही आश्रित रहते हैं। अधिकांश दोषोंमें मोहकी पुट ही काम किया करती है। जिन्होंने मोहकर्मका नाश कर दिया है उन्होंने अनन्तदोषोंका नाश कर दिया है। उन दोषोंमें मोहके सहकार-से होनेवाली क्षुधादिकी वेदनाएँ भी शामिल हैं, इसीसे मोहनीय-

का अभाव हो जाने पर वेदनीयकर्मको क्षुधादि-वेदनाओंके उत्पन्न करनेमें असमर्थ बतलाया है।

इस तरह मूल 'आप्तमीमांसा' ग्रन्थ, उसके ९३वीं कारिका-सहित ग्रन्थसन्दर्भ, अष्टसहस्री आदि टीकाओं और ग्रन्थकारके दूसरे ग्रन्थोंके उपर्युक्त विवेचन परसे यह भले प्रकार स्पष्ट है कि रत्नकरण्डका उक्त 'क्षुत्पिपासा' पद्य स्वामी समन्तभद्रके किसी भी ग्रन्थ तथा उसके आशयके साथ कोई विरोध नहीं रखता—अर्थात् उसमें दोषका क्षुत्पिपासादिके अभावरूप जो स्वरूप समझाया गया है वह आप्तमीमांसाके ही नहीं, किन्तु आप्तमीमांसाकारकी दूसरी भी किसी कृतिके विरुद्ध नहीं है;बल्कि उन सबके साथ सङ्गत है। और इसलिये उक्त पद्यको लेकर आप्तमीमांसा और रत्नकरण्डका भिन्नकर्तृत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतः इस विषयमें प्रोफेसर साहबकी उक्त आपत्ति एवं संदिग्धता-के लिये कोई स्थान नहीं रहता—वह किसी तरह भी समुचित प्रतीत नहीं होती।

यह सब 'विचार और निर्णय' आजसे कोई १२ वर्ष पहले फरवरी सन १९४८ की अनेकान्त-किरण नं० २ में प्रकाशित किया जा चुका है, जिस पर प्रो० साहबने आज तक कोई आपत्ति नहीं की अथवा करना उचित नहीं समझा और इससे यह मालूम होता है कि उनका प्रकृत-विषयमें निश्चयकी हद तक पहुँचा हुआ सन्देह समाप्त हो चुका है—उसके लिये कोई आधार अवशिष्ट नहीं रहा, अन्यथा वे चुप बैठनेवाले नहीं थे।

यहाँ पर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि प्रो० साहबने अपने उस विलुप्त-अध्याय-विषयक निबन्धमें यह भी प्रतिपादन किया था कि 'रत्नकरण्डश्रावकाचार कुन्द-कुन्दाचार्यके उपदेशोंके पश्चात् उन्हींके समर्थनमें लिखा गया है, और इसलिये इसके कर्ता वे समन्तभद्र हो सकते हैं जिनका

उल्लेख शिलालेख व पट्टावलियोंमें कुन्दकुन्दके पश्चात् पाया जाता है। कुन्दकुन्दाचार्य और उमास्वामीका समय वीरनिर्वाण से लगभग ६५० वर्ष पश्चात् (वि० सं० १८०) सिद्ध होता है—अतः रत्नकरण्डश्रावकाचार और उसके कर्ता समन्तभद्रका समय वि० की दूसरी शताब्दीका अन्तिम भाग अथवा तीसरी शताब्दी का पूर्वार्ध होना चाहिये (यही समय जैन समाजमें आम तौर पर माना भी जाता है)। साथ ही, यह भी बतलाया था कि 'रत्नकरण्डके कर्ता ये समन्तभद्र उन शिवकोटिके गुरु भी हो सकते हैं जो रत्नमालाके कर्ता हैं। इस पिछली बात पर आपत्ति करते हुए पं० दरबारीलालजीने अनेक युक्तियोंके आधार पर जब यह प्रदर्शित किया कि 'रत्नमाला' एक आधुनिक ग्रन्थ है, रत्नकरण्ड-श्रावकाचारसे शताब्दियों बादकी रचना है, वि० की ११वीं शताब्दीके पूर्वकी तो वह हो ही नहीं सकती और न रत्नकरण्ड-श्रावकाचारके कर्ता समन्तभद्रके साक्षात् शिष्यकी ही कृति हो सकती है* तब प्रो० साहबने उत्तरकी धुनमें कुछ कल्पित युक्तियोंके आधार पर यह तो लिख दिया कि 'रत्नकरण्डकी रचना का समय विद्यानन्दके समय (ई० सन् ८१६ के लगभग) के पश्चात् और वादिराजके समय अर्थात् शक संवत् ६४७ (ई० सन् १०२५) से पूर्व सिद्ध होता है। इस समयावधिके प्रकाशमें रत्न-करण्डश्रावकाचार और रत्नमालाका रचनाकाल समीप आजाते हैं और उनके बीच शताब्दियोंका अन्तराल नहीं रहता है।"‡ साथ ही आगे चलकर उसे तीन आपत्तियोंका रूप भी दे दिया ×; परन्तु इस बातको भुला दिया कि उनका यह सब

---

* अनेकान्त वर्ष ६ किरण १२ पृ० ३८०-३८२

‡ अनेकान्त वर्ष ७ किरण ५-६ पृ० ५४

× जिनमेंसे एकका रूप है शक सं० ६४७ से पूर्वके साहित्यमें

प्रयत्न और कथन उनके पूर्व कथन एवं प्रतिपादनके विरुद्ध जाता है। उन्हें या तो अपने पूर्व कथनको वापिस ले लेना चाहिये था और या उसके विरुद्ध इस नये कथनका प्रयत्न तथा नई आपत्तियोंका आयोजन नहीं करना चाहिये था—दोनों परस्पर विरुद्ध बातें एक साथ नहीं चल सकतीं। इन सब तथा इसी प्रकारकी दूसरी *असंगत* बातोंको भी प्रदर्शित करते हुए, मेरे उक्त लेखमें, जिसके एक अंशको ऊपर उद्धृत किया गया है, उन तीनों नई खड़ी कीगई आपत्तियों पर भी विस्तारके साथ युक्तिपुरस्सर गहरा विचार करके उन्हें निःसार प्रतिपादित किया गया है ※। लेखके इस उत्तरार्द्धका भी, जो अनेकान्तके उस वर्ष (सन् १९४८) की अगली मार्च तथा अप्रेलकी किरणोंमें प्रकाशित हुआ है, प्रोफेसर साहबने कोई विरोध या प्रतिवाद करना उचित नहीं समझा। और इस तरह प्रोफेसर साहबने जिस नये सन्देहको जन्म दिया था वह अन्तको स्थिर नहीं रहा। साथ ही यह स्पष्ट होगया कि रत्नकरण्ड उन्हीं स्वामी समन्तभद्राचार्यकी कृति है जो आप्त-मीमांसा (देवागम) के रचयिता हैं।

रत्नकरण्डश्रावकाचारका तथा रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाके एक कर्तृत्वका उल्लेख न पाया जाना, दूसरीका रूप है वादिराजके पार्श्वनाथ-चरितमें रत्नकरण्डको समन्तभद्र-कृत न बतलाकर योगीन्द्र-कृत बतलाया जाना, और तीसरीका रूप है रत्नकरण्डके उपान्त्य पद्य नं० १४९ में प्रयुक्त हुए 'वीतकलंक' 'विद्या' और 'सर्वार्थसिद्धि' पदोंका आशय अकलंक और विद्यानन्द नामके आचार्यों तथा पूज्यपादके 'सर्वार्थसिद्धि' ग्रन्थके उल्लेखसे लगाना (अनेकान्त वर्ष ८ कि० ३ पृ० १३२ तथा वर्ष ९ कि० १ पृ० ९, १०)।

※ देखो. अनेकान्त वर्ष ९ किरण ३-४ में 'रत्नकरण्डके कर्तृत्व-विषयमें मेरा विचार और निर्णय' नामक लेख।

ग्रन्थके पद्योंकी जाँच

समाजमें कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं जो इस ग्रंथको स्वामी समन्तभद्रका बनाया हुआ तो जरूर स्वीकार करते हैं, परंतु उन्हें इस ग्रंथके कुछ पद्यों पर संदेह है। उनके विचारसे ग्रंथमें कुछ ऐसे पद्य भी पाये जाते हैं जो मूल ग्रंथ-का अंग न होकर किसी दूसरे ग्रंथ अथवा ग्रंथोंके पद्य हैं और बादको किसी तरह पर ग्रंथमें शामिल हो गये हैं। ऐसे पद्योंको वे लोग 'क्षेपक' अथवा 'प्रक्षिप्त' कहते हैं और इस लिये ग्रन्थपर संदेहका यह एक दूसरा प्रकार है जिसका यहाँ पर विचार होनेकी जरूरत है—

ग्रंथपर इस प्रकारके संदेहको सबसे पहले पं० पन्नालालजी बाकलीवालने, सन् १८९८ ईसवीमें, लिपिबद्ध किया। इस सालमें आपने रत्नकरंडश्रावकाचारको अन्वय और अन्वयानुगत हिन्दी अनुवादसहित तय्यार करके उसे 'दिगम्बर जैनपुस्तकालय—वर्धा'के द्वारा प्रकाशित कराया है। ग्रंथके इस संस्करणमें २१ (इक्कीस) पद्योंको 'क्षेपक' प्रकट किया गया अथवा उनपर 'क्षेपक' होनेका संदेह किया गया है, जिनकी क्रमिकसूची, कुछ आद्याक्षरोंको लिये हुए, निम्न प्रकार है—

तावदंजन; ततोजिनेंद्र; यदि पाप; श्वापि देवो; भयाशास्नेह; मातंगो; धनश्री; मद्यमांस; प्रत्याख्यान; यदनिष्टं; व्यापार; श्रीषेण; देवाधिदेव; अर्हच्चरण; निःश्रेयस; जन्मजरा; विद्यादर्शन; कालेकल्प; निःश्रेयसमधिपन्ना; पूजार्था; सुखयतु।

इन पद्योंमेंसे कुछके 'क्षेपक' होनेके हेतुओंका भी फुट-नोटों-द्वारा उल्लेख किया गया है जो यथाक्रम इस प्रकार है—

'*तावदंजन*' और '*ततोजिनेन्द्र*' ये दोनों पद्य समन्तभद्रकृत नहीं हैं; परन्तु दूसरे किस आचार्य अथवा ग्रन्थके ये पद्य हैं ऐसा

कुछ बतलाया नहीं। तीसरे *'यदि पाप'* पद्यका ग्रन्थके विषयसे सम्बन्ध नहीं मिलता। *'श्वापि देवो'* *'भयाशा'* और *'यदनिष्टं'* नामके पद्योंका सम्बन्ध, अन्वय तथा अर्थ ठीक नहीं बैठता। *'श्रीषेण'*, *'देवाधिदेव'* और *'अर्हच्चरण'* ये पद्य ग्रन्थके स्थलसे सम्बन्ध नहीं रखते। पंद्रहवें *'निःश्रेयस'* से बीसवें *'पूजार्थी'* तकके ६ पद्योंका अन्वयार्थ तथा विषय-सम्बन्ध ठीक-ठीक प्रतिभासित नहीं होता और ११वाँ *'व्यापार'* नामका पद्य 'अनभिज्ञ क्षेपक' है—अर्थात् यह पद्य मूर्खता अथवा नासमझीसे ग्रन्थमें प्रविष्ट किया गया है। क्योंकि 'प्रथम तो इसका अन्वय ही ठीक नहीं बैठता; दूसरे अगले श्लोकमें अन्यान्य ग्रन्थोंकी तरह, प्रतिदिन सामायिकका उपदेश है और इस श्लोकमें केवल उपवास अथवा एकासनेके दिन ही सामायिक करनेका उपदेश है, इससे पूर्वापर-विरोध आता है'। इस पद्यके सम्बन्धमें जोरके साथ यह वाक्य भी कहा गया है कि "श्रीमत्समंतभद्रस्वामीके ऐसे वचन कदापि नहीं हो सकते," और इस पद्यका अन्वय तथा अर्थ भी नहीं दिया गया। अन्तिम पद्यको भी शायद ऐसा ही भारी क्षेपक समझा है और इसीसे उसका भी अन्वयार्थ नहीं दिया गया। शेष पद्योंके सम्बन्धमें सिर्फ इतना ही प्रकट किया है कि वे 'क्षेपक' मालूम होते अथवा बोध होते हैं। उनके क्षेपकत्वका कोई हेतु नहीं दिया। हाँ, भूमिकामें इतना जरूर सूचित किया है कि "शेष के श्लोकोंका हेतु विस्तृत होनेके कारण प्रकाशित नहीं किया गया सो पत्रद्वारा या साक्षात् होने पर प्रकट हो सकता है।"

इस तरह पर बाकलीवालजीके तात्कालिक सन्देहका यह रूप है। उनकी इस कृतिसे कुछ लोगोंके सन्देहको पुष्टि मिली और कितने ही हृदयोंमें नवीन सन्देहका संचार हुआ।

यद्यपि, इस ग्रन्थके सम्बन्धमें अभीतक कोई प्राचीन उल्लेख अथवा पुष्ट प्रमाण ऐसा देखनेमें नहीं आया जिससे यह

निश्चित हो सके कि स्वामी समन्तभद्रने इसे इतने श्लोक-परिमाण निर्माण किया था, न ग्रन्थकी सभी प्रतियोंमें एक ही श्लोकसंख्या पाई जाती है—बल्कि कुछ प्रतियाँ ऐसी भी उपलब्ध होती हैं जिनमें श्लोकसंख्या डेढसौ (१५०) से भी बढ़ी हुई है—और इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि टीका-टिप्पणवाली प्रतियों परसे किसी मूल ग्रन्थकी नक़ल उतारते समय, लेखकोंकी असावधानी अथवा नासमझीके कारण, कभी-कभी उन प्रतियोंमें 'उक्तं च' रूपसे दिये हुए अथवा समर्थनादिके लिये टिप्पणी किये हुए—हाशिये (Margin) पर नोट किये हुए—दूसरे ग्रन्थोंके पद्य भी मूल ग्रन्थमें शामिल हो जाते हैं; और इसीसे कितने ही ग्रन्थोंमें 'क्षेपक' पाये जाते हैं*। इसके सिवाय प्रकृत ग्रन्थमें कुछ पद्य ऐसी अवस्थामें भी अवश्य हैं कि यदि उन्हें ग्रन्थसे पृथक् कर दिया जाय तो उससे शेष पद्योंके क्रम तथा विषयसम्बन्धमें परस्पर कोई बाधा नहीं आती और न कुछ अन्तर ही पड़ता है†। ऐसी हालतमें ग्रन्थके कुछ पद्यों पर सन्देहका होना अस्वाभाविक नहीं है। परन्तु ये सब बातें किसी ग्रन्थप्रतिमें 'क्षेपक' होनेका कोई प्रमाण नहीं हो सकतीं।

और इसलिये इतने परसे ही, बिना किसी गहरी खोज और जाँचके, सहसा यह नहीं कहा जा सकता कि इस ग्रन्थकी वर्तमान

* इस विषयके एक उदाहरणके लिये देखो 'पूज्यपाद-उपासकाचार-की जाँच' वाला मेरा लेख, जो जैनहितैषी भाग १५ के अंक १२ वें में प्रकाशित हुआ है। 'दशभक्ति' नामका एक ग्रन्थ शोलापुरसे, संस्कृतटीका और मराठी अनुवाद सहित, प्रकाशित हुआ है। उससे मालूम होता है कि दशभक्तियोंके मूलपाठोंमें भी कितने ही क्षेपक शामिल हो रहे हैं। यह सब नासमझ और असावधान लेखकोंकी कृपाका हो फल है।

† जैसे कि कथाओंका उल्लेख करने वाले 'तावदंजनचौरोऽङ्गे' आदि पद्य।

(१५० पद्यों वाली) प्रतिमें भी कोई क्षेपक जरूर शामिल है। ग्रन्थके किसी भी पद्यको 'क्षेपक' बतलानेसे पहले इस बातकी जाँचकी बड़ी जरूरत है कि उक्त पद्यकी अनुपस्थितिसे ग्रन्थके प्रतिपाद्य विषय-सम्बन्धादिकमें किसी प्रकारकी बाधा न आते हुए भी, नीचे लिखे कारणोंमेंसे कोई कारण उपलब्ध है या कि नहीं —

१. दूसरे अमुक विद्वान्, आचार्य अथवा ग्रन्थका वह पद्य है और ग्रन्थमें 'उक्तं च' आदि रूपसे नहीं पाया जाता।

२. ग्रन्थकर्ताके दूसरे ग्रन्थ या उसी ग्रन्थके अमुक पद्य अथवा वाक्यके साथ वह विरुद्ध पड़ता है।

३. ग्रन्थके विषय, संदर्भ, कथनक्रम अथवा प्रकरणके साथ वह असम्बद्ध है।

४. ग्रन्थकी दूसरी अमुक प्राचीन, शुद्ध और असंदिग्ध प्रतिमें वह नहीं पाया जाता।

५. ग्रन्थके साहित्यसे उसके साहित्यका कोई मेल नहीं खाता, ग्रन्थकी कथनशैली उसके अस्तित्वको नहीं चाहती अथवा ग्रन्थकर्ताके द्वारा ऐसे कथनकी सम्भावना ही नहीं है।

जब तक इन कारणोंमेंसे कोई भी कारण उपलब्ध न हो और जब तक यह न बतलाया जाय कि उस पद्यकी अनुपस्थिति से ग्रन्थके प्रतिपाद्य विषयसम्बन्धादिकमें कोई प्रकारकी बाधा नहीं आती तब तक किसी पद्यको क्षेपक कहनेका साहस करना दुःसाहस मात्र होगा।

पं० पन्नालालजी बाकलीवालने जिन पद्योंको क्षेपक बतलाया है अथवा जिन पर क्षेपक होनेका संदेह किया है उनमेंसे किसी भी पद्यके सम्बन्धमें उन्होंने यह प्रकट नहीं किया कि वह दूसरे अमुक आचार्य, विद्वान् अथवा ग्रन्थका पद्य है, या उसका कथन स्वामि समन्तभद्रप्रणीत उसी या दूसरे ग्रन्थके अमुक पद्य अथवा वाक्यके विरुद्ध है; न यही सूचित किया कि रत्नकरण्डकी दूसरी

अमुक प्राचीन, शुद्ध तथा असंदिग्ध प्रतिमें वह नहीं पाया जाता, या उसका साहित्य ग्रन्थके दूसरे साहित्यसे मेल नहीं खाता, और न एक पद्यको छोड़कर दूसरे किसी पद्यके सम्बन्धमें इस प्रकारका कोई विवेचन ही उपस्थित किया कि, वैसा कथन स्वामी समन्तभद्रका क्योंकर नहीं हो सकता। और इसलिये आपका संपूर्ण हेतुप्रयोग उपर्युक्त कारणकलापके प्रायः तीसरे नम्बरमें ही आ जाता है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि बाकलीवालजीने उन पद्योंको मूल ग्रंथके साथ असम्बद्ध समझा है। उनकी समझमें कुछ पद्योंका अन्वयार्थ ठीक न बैठने या विषयसम्बन्ध ठीक प्रतिभासित न होने आदिका भी यही प्रयोजन है। अन्यथा, 'चतुरावर्तत्रितय' नामके पद्यको भी वे 'क्षेपक' बतलाते जिसका अन्वयार्थ उन्हें ठीक नहीं भासा।

परन्तु वास्तवमें वे सभी पद्य वैसे नहीं हैं जैसा कि बाकलीवालजीने उन्हें समझा है। विचार करने पर उनके अन्वयार्थ तथा विषयसम्बन्धमें कोई खास खराबी मालूम नहीं होती और इसका निर्णय ग्रन्थकी संस्कृतटीकापरसे भी सहजमें ही हो सकता है। उदाहरणके तौर पर मैं यहाँ उसी एक पद्यको लेता हूँ जिसे बाकलीवालजीने 'अनभिज्ञक्षेपक' लिखा है और जिसके विषयमें आपका विचार संदेहकी कोटिसे निकलकर निश्चयकी हदको पहुँचा हुआ मालूम होता है। साथ ही, जिसके सम्बन्धमें आपने यहाँ तक भी कहनेका साहस किया है कि "स्वामी समन्तभद्रके ऐसे वचन कदापि नहीं हो सकते।" वह पद्य इस प्रकार है—

व्यापारवैमनस्याद्विनिवृत्त्यामन्तरात्मविनिवृत्त्या।
सामयिकं बध्नीयादुपवासे चैकभुक्ते वा ॥१००॥

इस पद्यमें, प्रधानतासे और तद्व्रतानुयायी सर्वसाधारणकी दृष्टिसे, उपवास तथा एकभुक्तके दिन सामायिक करनेका विधान

किया गया है—यह नहीं कहा गया कि केवल उपवास तथा एक-भुक्तके दिन ही सामायिक करना चाहिये। फिर भी इससे कभी कोई यह न समझ ले कि दूसरे दिन अथवा नित्य सामायिक करनेका निषेध है अतः आचार्यमहोदयने अगले पद्यमें इस बात को स्पष्ट कर दिया है और लिख दिया है कि नित्य भी (*प्रतिदिवसमपि*) निरालसी होकर सामायिक करना चाहिये। वह अगला पद्य इस प्रकार है—

सामयिकं प्रतिदिवसं यथावदप्यनलसेन चेतव्यं।
व्रतपंचकपरिपूरणकारणमवधानयुक्तेन ॥१०१॥

इस पद्यमें '*प्रतिदिवसं*' के साथ '*अपि*' शब्द खास तौरसे ध्यान देने योग्य है और वह इस पद्यसे पहले 'प्रतिदिवससामायिक' से भिन्न किसी दूसरे विधानको माँगता है। यदि पहला पद्य ग्रन्थसे निकाल दिया जाय तो यह 'अपि' शब्द बहुत कुछ खटकने लगता है। अतः उक्त पद्य क्षेपक नहीं है और न अगले पद्यके साथ उसका कोई विरोध जान पड़ता है। उसे 'अनभिज्ञ-क्षेपक' बतलाना अपनी ही अनभिज्ञता प्रकट करना है। मालूम होता है कि बाकलीवालजीका ध्यान इस '*अपि*' शब्द पर नहीं गया और इसीसे उन्होंने इसका अनुवाद भी नहीं दिया। साथ ही, उस अनभिज्ञक्षेपकका अर्थ भी उन्हें ठीक प्रतिभासित नहीं हुआ। यही वजह है कि उन्होंने उसमें व्यर्थ ही 'केवल' और 'ही' शब्दोंकी कल्पना की और उन्हें क्षेपकत्वके हेतुस्वरूप यह भी लिखना पड़ा कि इस पद्यका अन्वय ही ठीक नहीं बैठता। अन्यथा, इस पद्यका अन्वय कुछ भी कठिन नहीं है—'*सामयिकं बध्नीयात्*' को पद्यके अन्तमें कर देनेसे सहजमें ही अन्वय हो जाता है। दूसरे पद्योंके अन्वयार्थ तथा विषय-सम्बन्धकी भी प्राय: ऐसी ही हालत है। उन्हें भी आपने उस वक्त ठीक तौरसे

प्राय: भूलसे भरा हुआ जान पड़ता है । बादको मेरे दर्याफ्त करने पर, बाकलीवालजीने, अपने १८ जून सन् १९२३ के पत्रमें, इस भूलको स्वीकार भी किया है, जिसे मैं उन्हींके शब्दोंमें नीचे प्रकट करता हूँ।

"रत्नकरण्डके प्रथम संस्करणमें जिन पद्योंको मैंने क्षेपक ठहराया था उसमें कोई प्रमाण नहीं, उस वक्तकी अपनी तुच्छ बुद्धिसे ही ऐसा अनुमान हो गया था। संस्कृतटीकामें सबकी युक्तियुक्त टीका देखनेसे मेरा मन अब नहीं है कि वे क्षेपक हैं। वह प्रथम ही प्रथम मेरा काम था संस्कृत-टीका देखनेमें आई नहीं थी इसीलिये विचारार्थ प्रश्नात्मक (?) नोट कर दिये गये थे। सो मेरी भूल थी।"

यद्यपि यह बाकलीवालजीकी उस वक्तकी भूल थी परंतु इसने कितने ही लोगोंको भूलके चक्करमें डाला है, जिसका एक उदाहरण पं० नाना रामचंद्रजी नाग हैं । आपने बाकलीवालजीकी उक्त कृति परसे उन्हीं २१ पद्यों पर क्षेपक होनेका संदेह किया हो सो नहीं, बल्कि उनमेंसे पंद्रह × पद्योंको बिलकुल ही ग्रंथसे बाहरकी चीज़ समझ लिया। साथ ही तेरह पद्योंको† और भी उन्हीं-जैसे मानकर उन्हें उसी कोटिमें शामिल कर दिया और इस तरह पर इक्कीसकी जगह अट्ठाईस पद्योंको 'क्षेपक' करार देकर उन्हें 'उपा-

× उक्त २१ पद्योंमेंसे निम्न नामके छह पद्योंको छोड़कर जो शेष रहते हैं उनको—

मद्यमांस, यदनिष्टं, नि:श्रेयस, जन्मजरा, विद्यादर्शन, काले कल्प।

† उन तेरह पद्योंकी नामसूची इस प्रकार है—

ओजस्तेजो, अष्टगुण, नवनिधि, अमरासुर, शिवमजर, रागद्वेष, मकराकार, पंचानां पापानां, गृहहारि, संवत्सर, सामयिकं, गृहकर्मणा, उच्चैर्गोत्रं।

सकाध्ययन'की उस प्रथमावृत्तिसे बिल्कुल ही निकाल डाला—छापा तक भी नहीं—जिसको उन्होंने शक सं० १८२६ (वि० सं० १९६१) में मराठी अनुवाद-सहित प्रकाशित किया था। इसके बाद नाग साहबने अपनी बुद्धिको और भी उसी मार्गमें दौड़ाया और तब आपको अन्धकारमें ही—विना किसी आधार या प्रमाणके—यह सूझ पड़ा कि इस ग्रन्थमें और भी कुछ क्षेपक हैं जिन्हें ग्रन्थसे बाहर निकाल देना चाहिये। साथ ही, यह भी मालूम पड़ा कि निकाले हुए पद्योंमेंसे कुछका फिरसे ग्रन्थमें प्रवेश कराना चाहिये। और इसलिये शक सं० १८४४ (वि० सं० १९७९) में जब आपने इस ग्रन्थकी द्वितीयावृत्ति प्रकाशित कराई तब आपने अपनी उस सूझ-बूझको कार्यमें परिणत कर डाला—अर्थात्, प्रथमावृत्ति-वाले २८ पद्योंमेंसे २३ * और २६ † नये इस प्रकार ४९ ‡ पद्योंको उक्त आवृत्तिमें स्थान नहीं दिया। उन्हें क्षेपक

* पाँच पद्य जिन्हें प्रथमावृत्तिमें, ग्रन्थसे बाहरकी चीज समझकर, निकाल दिया गया था और द्वितीयावृत्तिमें जिनको पुन: प्रविष्ट किया गया है उनके नाम इस प्रकार हैं—

मकराकर, गृहहारि, संवत्सर, सामयिकं, देवाधिदेव।

† इन २६ पद्योंमें छह तो वे बाकलीवालजीवाले पद्य हैं जिन्हे आपने प्रथमावृत्तिके अवसर पर क्षेपक नहीं समझा था और जिनके नाम पहले दिये जा चुके हैं। शेष २० पद्योंकी नामसूची इस प्रकार है—

देशयामि, क्षुत्पिपासा, परमेष्ठी, अनात्मार्थं, सम्यग्दर्शनसम्पन्न, दर्शनं, गृहस्थो, न सम्यक्त्व, मोहितिमिरा, हिंसानृत, सकलं, अल्पफल, सामयिके, शीतोष्ण, अशरण, चतुराहार, नवपुण्यैः, क्षितिगत, श्रावकपदानि, येन स्वयं।

‡ अक्टूबर सन् १९२१ के 'जैनबोधक' में सेठ रावजी सखाराम दोशीने इन पद्योंकी संख्या ५८ (अट्ठावन) दी है और निकाले हुए पद्योंके

अथवा ग्रन्थसे बाहरकी चीज समझकर एकदम निर्वासित कर दिया है—और अपने ऐसा करनेका कोई भी युक्तियुक्त कारण नहीं दिया। हाँ, टाइटिल और प्रस्तावना-द्वारा इतना जरूर सूचित किया है कि, ग्रन्थकी यह द्वितीयावृत्ति पं० पन्नालाल बाकलीवाल-कृत 'जैनधर्मामृतसार' भाग २ रा नामक पुस्तककी उस प्रथमावृत्तिके अनुकूल है जो नागपुरमें जून सन् १८६६ ई० को छपी थी। साथ ही यह भी बतलाया है कि उस पुस्तकमें सिर्फ उन्हीं श्लोकोंको यहाँ छोड़ा गया है जो दूसरे आचार्यके थे, बाकी भगवत्समंतभद्रके १०० श्लोक इस आवृत्तिमें ज्योंके त्यों ग्रहण किये गये हैं। परन्तु उस पुस्तकका नाम न तो 'उपासकाध्ययन' है और न 'रत्नकरण्ड', न नाग साहबकी इस द्वितीयावृत्तिकी तरह उसके ७ भाग हैं और न उसमें समन्तभद्रके १०० श्लोक ही पाये जाते हैं; बल्कि वह एक संग्रहपुस्तक है जिसमें प्रधानतः रत्नकरण्ड-श्रावकाचार और पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामक ग्रन्थोंसे श्रावकाचार-विषयका कुछ कथन प्रश्नोत्तररूपसे संग्रह किया गया है और उसे 'प्रश्नोत्तरश्रावकाचार' ऐसा नाम भी दिया है। उसमें यथा-

---

जो क्रमिक नम्बर, समूचे ग्रन्थकी दृष्टिसे, दिये हैं उनसे वह संख्या ५६ हो जाती है। साथ ही २१, २६, ३२, ४१, ६३, ६७, ६६, ७०, ७६, ७७, ७८, ७६, ८०, ८३, ८७, ८८, ८६, ६१, ६३, ६४, ६५, ६६, १०१, ११२, और १४८ नम्बरवाले २५ पद्योंको भी निकाले हुए सूचित किया है, जिन्हें वास्तवमें निकाला नहीं गया! और निकाले हुए २, २८, ३१, ३३, ३४, ३६, ३६, ४०, ४७, ४८, ६६, ८५, ८६, १०४ और १४६ नम्बर वाले १५ पद्योंका उस सूचीमें उल्लेख ही नहीं किया! इस प्रकारके गलत और भ्रामक उल्लेख, निःसन्देह बड़े ही खेदजनक और अनर्थमूलक होते हैं। बम्बई प्रान्तिक सभाने भी शायद इसी पर विश्वास करके अपने २१ वें अधिवेशनके तृतीय प्रस्तावमें ५८ संख्याका गलत उल्लेख किया है। (देखो जनवरी सन् १६२२ का 'जैनबोधक' पत्र)

वश्यकता 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' से कुल ८६ श्लोक उद्धृत किये गये हैं। अतः नाग साहबकी यह द्वितीयावृत्ति उसीके अनुकूल है अथवा उसीके आधार पर प्रकाशित की गई है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। मालूम होता है कि उन्होंने इस प्रकारकी बातों-द्वारा * पब्लिकके सामने असल बात पर कुछ पर्दा डालना चाहा है। और वह असल बात यह है कि, आपकी समझमें यह ग्रन्थ एक 'शतक' ग्रन्थ मालूम होता है और इसलिये आप इसमें १०० श्लोक मूलके और बाकी सब क्षेपक समझते हैं। इसी बातको आपने अपने चैत्र शुक्ल ४ शक संवत १८४४ के पत्रमें मुझपर इस प्रकार प्रकट भी किया था—

"....यह शतक है, और ५० † श्लोक क्षेपक हैं, १०० श्लोक लक्षण के हैं।"

परंतु यह सब आपकी केवल कल्पना ही कल्पना थी। आपके पास इसके समर्थनमें कोई भी प्रमाण उपस्थित नहीं किया गया, जिसका यहाँ पर ऊहापोह किया जाता। हाँ, एक बार प्रथमावृत्ति के अवसर पर, उसकी प्रस्तावनामें, आपने ग्रंथसे निकाले हुए २८ पद्योंके सम्बंधमें यह प्रकट किया था कि, वे पद्य ग्रंथकी कर्णाटक वगैरह प्रतिमें 'उक्तंच' रूपसे दिये हुए हैं अतः, समंतभद्राचार्यके न होकर दूसरे आचार्यके होनेसे, हमने उन्हें इस पुस्तक में ग्रहण नहीं किया। प्रस्तावनाके वे शब्द इस प्रकार हैं—

* एक दो बातें और भी ऐसी ही हैं जिन्हें लेख बढ़ जानेके भयादि-से यहां छोड़ा गया है।

† यद्यपि उक्त द्वितीयावृत्तिमें ५० की जगह ४६ श्लोक ही निकाले गये हैं और १०१ छापे गये हैं परन्तु प्रस्तावनामें १०० श्लोकोंके छापने की ही सूचना की गई है। इससे संभव है कि अन्तका 'पापमरातिः' वाला पद्य गलतीसे कम्पोज होकर छप गया हो और, सब पद्यों पर एक क्रमसे नम्बर न होनेके कारण, उसका कुछ ख़याल न रहा हो।

"ह्या पुस्तकाच्या प्रती कर्नाटकांत वगैरे आहेत त्यांत कांहीं उक्तं च म्हणून श्लोक घातलेले आहेत ते श्लोक समंतभद्र आचार्यांचे रचलेले नसून दुसऱ्या आचार्यांचे असल्यामुळें ते आम्हीं ह्या पुस्तकांत घेतले नाहींत।"

परंतु कर्णनाटक वगैरहकी वह दूसरी प्रति कौनसी है जिसमें उन २८ पद्योंको 'उक्तं च' रूपसे दिया है, इस बातका कोई पता आप, कुछ विद्वानोंके दर्याफ्त करने पर भी, नहीं बतला सके। और इसलिये आपका उक्त उल्लेख मिथ्या पाया गया। इस प्रकारके मिथ्या उल्लेखोंको करके व्यर्थकी गड़बड़ पैदा करनेमें आपका क्या उद्देश्य अथवा हेतु था, इसे आप ही समझ सकते हैं। परंतु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं और न इस कहनेमें मुझे जरा भी संकोच हो सकता है कि, आपकी यह सब कार्रवाई बिल्कुल ही अविचारित हुई है और बहुत ही आपत्तिके योग्य है। कुछ पद्योंका क्रम भी आपने बदला है और वह भी आपत्तिके योग्य है। एक माननीय ग्रंथमेंसे, बिना किसी प्रबल प्रमाणकी उपलब्धिके और बिना इस बातका अच्छी तरहसे निर्णय हुए कि उनमें कोई क्षेपक शामिल है या नहीं, अपनी ही कोरी कल्पनाके आधारपर अथवा स्वरुचिमात्रसे कुछ पद्योंको (चाहे उनमें कोई क्षेपक भी भले ही हों) इस तरहपर निकाल डालना एक बहुत ही बड़े दुःसाहस तथा भारी धृष्टताका कार्य है। और इस लिये नागसाहबकी यह सब अनुचित कार्रवाई कदापि अभिनन्दनके योग्य नहीं हो सकती। आपने उन पद्योंको निकालते समय यह भी नहीं सोचा कि उनमेंसे कितने ही पद्य ऐसे हैं जो आजसे कई शताब्दियों पहलेके बने हुए ग्रंथोंमें स्वामी समंतभद्रके नामसे उल्लेखित पाये जाते हैं, कितने ही 'श्रावकपदानि देवैः' जैसे पद्योंके निकाल डालनेसे दूसरे पद्योंका महत्व तथा विषय कम हुआ जाता है; अथवा रत्नकरंडपर संस्कृत तथा कनड़ी आदिकी कितनी ही टीकाएं ऐसी मिलती हैं जिनमें

वे सब पद्य मूलरूपसे दिये हुए हैं, और इस लिये मुझे अधिक सावधानीसे काम लेना चाहिये। सचमुच ही नागसाहबने ऐसा करते हुए बड़ी भारी भूलसे काम लिया है। परंतु यह अच्छा हुआ कि अन्तमें आपको भी अपनी भूल मालूम पड़ गई और आपने, अपनी इस नासमझीपर खेद प्रकट करते हुए, यह प्रण किया है कि, मैं भविष्यमें ऐसी कमती श्लोकवाली कोई प्रति इस ग्रंथकी प्रकाशित नहीं करूँगा * ।

यह सब कुछ होते हुए भी, ग्रंथके कितने ही पद्योंपर अर्से तक आपका संदेह बना रहा है। एक पत्रमें तो आपने मुझे यहाँ तक सूचित किया है कि—"क्षेपककी शंका बहुत लोगोंको है परंतु उनका पक्का आधार नहीं मिलता।" इस वाक्यसे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि नाग साहबने जिन पद्योंको 'क्षेपक' करार दिया है उन्हें क्षेपक करार देनेके लिये आपके अथवा आपके मित्रों-के पास कोई पक्का आधार (प्रमाण) नहीं था और इसलिये आपका यह सब कोरा संदेह ही संदेह रहा है।

रत्नकरंडश्रावकाचारकी एक आवृत्ति दक्षिण महाराष्ट्र-जैनसभाके जनरल सेक्रेटरी (×प्रोफेसर अण्णा साहब बाबाजी लट्ठे) ने भी मराठी अनुवाद-सहित प्रकाशित कराई है। प्रकाशक हैं 'भाऊ बाबाजी लट्ठे, कुरुंदवाड।' इस आवृत्तिमें यद्यपि मूल श्लोक वे ही १५० दिये हैं जो सटीक प्रतिमें पाये जाते हैं परन्तु प्रस्तावनामें इतना जरूर सूचित किया है कि इन श्लोकों-में कुछ 'असम्बद्ध' श्लोक भी हैं। साथ ही, यह भी बतलाया है कि, कनडी लिपिकी एक प्रतिमें, जो उन्हें रा० देवाप्पा उपाध्याय

---

* देखो 'जैनबोधक' वर्ष ३२ का छठा अंक।

× यह नाम मुझे पं० नाना रामचन्द्रजी नागके पत्रसे मालूम हुआ है। साथ ही, यह भी ज्ञात हुआ है कि इस आवृत्तिका अनुवादादि कार्य भी प्रोफेसर साहबका ही किया हुआ है।

से प्राप्त हुई थी, ५० श्लोक अधिक हैं जिनमेंसे उन श्लोकोंको छोड़कर जो स्पष्ट रूपसे 'क्षेपक' मालूम होते थे शेष ७ पद्योंको परिशिष्टके तौर पर दिया गया है। इस सूचनासे दो बातें पाई जाती हैं—एक तो यह कि, कनडी लिपिमें इस ग्रन्थकी ऐसी भी प्रति है जिसमें २०० श्लोक पाये जाते हैं; दूसरी यह कि, लठ्ठे साहबको भी इन डेढसौ श्लोकोंमेंसे कुछ पर क्षेपक होनेका संदेह है जिन्हें वे असम्बद्ध कहते हैं। यद्यपि आपने ऐसे पद्योंकी कोई सूची नहीं दी और न क्षेपक-सम्बन्धी कोई विशेष विचार ही उपस्थित किया—बल्कि उस प्रकारके विचारको वहाँ पर 'अप्रस्तुत' कहकर छोड़ दिया है×—तो भी उदाहरणके लिये आपने २७ वें पद्यकी ओर संकेत किया है और उसे असम्बद्ध बतलाया है। वह पद्य इस प्रकार है—

यदि पापनिरोधोऽन्यसंपदा किं प्रयोजनं।
अथ पापास्रवोस्त्यन्यसंपदा किं प्रयोजनं॥

यह पद्य स्थूल दृष्टिसे भले ही कुछ असम्बद्धसा मालूम होता हो परन्तु जब इसके गम्भीर अर्थ पर गहराईके साथ विचार किया जाता है और पूर्वापर-पद्योंके अर्थके साथ उसकी शृङ्खला मिलाई जाती है तो यह असम्बद्ध नहीं रहता। इसके पहले २५वें पद्यमें मदका अष्टभेदात्मक स्वरूप बतलाकर २६वें पद्यमें उस मदके करनेका दोष दिखलाया गया है और यह जतलाया गया है कि किसी कुल जाति या ऐश्वर्यादिके मदमें आकर धर्मात्माओं का—सम्यग्दर्शनादिक युक्त व्यक्तियोंका—तिरस्कार नहीं करना चाहिये। इसके बाद विवादस्थ पद्यमें इस बातकी शिक्षा की गई है कि जो लोग कुलैश्वर्यादि सम्पत्तिसे युक्त हैं वे अपनी

× यथा—"मूल पुस्तकांत म्हणून दिलेल्या १५० श्लोकांत देखील कांहीं असंबद्ध दिसतात. उदाहरणार्थ २७ वाँ श्लोक पहा. परन्तु हा विचार या ठिकाणीं अप्रस्तुत आहे."

तत्तद्विषयक मदपरिणतिको दूर करनेके लिये कैसे और किस प्रकारके विचारों-द्वारा समर्थ हो सकते हैं। धर्मात्मा वही होता है जिसके पापका निरोध है—पापास्रव नहीं होता। विपरीत इसके, जो पापास्रवसे युक्त है उसे पापी अथवा अधर्मात्मा समझना चाहिये। इस पद्यमें यह बतलाया गया है कि जिसके पास पापके निरोधरूप धर्मसंपत्ति अथवा पुण्यविभूति मौजूद है उसके लिये कुलैश्वर्यादिकी सम्पत्ति कोई चीज नहीं—अप्रयोजनीय है—उसके अन्तरंगमें उससे भी अधिक तथा विशिष्टतर सम्पत्तिका सद्भाव है, जो कालांतरमें प्रकट होगी और इसलिये वह तिरस्कारका पात्र नहीं। इसी तरह जिसकी आत्मामें पापास्रव बना हुआ है उसके कुलैश्वर्यादि सम्पत्ति किसी कामकी नहीं। वह उस पापास्रवके कारण शीघ्र नष्ट हो जायगी और उसके दुर्गतिगमनादिकको रोक नहीं सकेगी। ऐसी सम्पत्तिको पाकर मद करना मूर्खता है। जो लोग इस सम्पूर्ण तत्त्वको समझते हैं वे कुलैश्वर्यादिविहीन धर्मात्माओंका कदापि तिरस्कार नहीं करते। अगले दो पद्योंमें भी इसी भावको पुष्ट किया गया है—यह समझाया गया है कि, एक मनुष्य जो सम्यग्दर्शनरूपी धर्मसम्पत्तिसे युक्त है वह चाण्डालका पुत्र होने पर भी—कुलादि-सम्पत्तिसे अत्यन्त गिरा हुआ होने पर भी—तिरस्कारका पात्र नहीं होता। उसे गणधरादिक देवोंने 'देव' कहा है—आराध्य बतलाया है। उसकी दशा उस अंगारके सदृश होती है जो बाह्यमें भस्मसे आच्छादित होने पर भी अन्तरंगमें तेज तथा प्रकाशको लिये हुए है और इसलिये कदापि उपेक्षणीय नहीं होता। मनुष्य तो मनुष्य, एक कुत्ता भी धर्मके प्रतापसे सम्यग्दर्शनादिके माहात्म्यसे—देव बन जाता है और पापके प्रभावसे—मिथ्यात्वादिके कारण—एक देव भी कुत्तेका जन्म ग्रहण करता है। ऐसी हालतमें दूसरी ऐसी कौनसी सम्पत्ति है जो मनुष्योंको अथवा संसारी जीवोंको धर्म-

के प्रसादसे प्राप्त न हो सकती हो ? कोई भी नहीं। और इसलिये कुलैश्वर्यादि-विहीन धर्मात्मा लोग कदापि तिरस्कारके योग्य नहीं होते। यहाँ २६ वें पद्यमें *'अन्या सम्पत्'* और २७ वें पद्यमें *'अन्य सम्पदा'* पद खास तौरसे ध्यान देने योग्य हैं। इनमें 'अन्या' और 'अन्य' विशेषणोंका प्रयोग उस कुलैश्वर्यादि-सम्पत्तिको लक्ष्य करके किया गया है जिसे पाकर मूढ लोग मद करते हैं और जिनके उस मदका उल्लेख २५, २६ नम्बरके पद्योंमें किया गया है और इससे इन सब पद्योंका भले प्रकार एक सम्बन्ध स्थापित होता है। अतः उक्त २७ वाँ पद्य असम्बद्ध नहीं है।

कुछ विद्वानोंका ख़याल है कि सम्यग्दर्शनकी महिमावाले पद्यों में कितने ही पद्य क्षेपक हैं, उनकी रायमें या तो वे सभी पद्य क्षेपक हैं जो छंद-परिवर्तनको लिये हुए—३४वें पद्यके बाद अध्ययन (परिच्छेद)के अन्त तक—पाये जाते हैं और नहीं तो वे पद्य क्षेपक ज़रूर होने चाहियें जिनमें उन्हें पुनरुक्तियाँ मालूम देती हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि ग्रन्थमें ३४वें पद्यके बाद अनुष्टुप्की जगह आर्या छन्द बदला है। परन्तु छन्दका परिवर्तन किसी पद्य-को क्षेपक करार देनेके लिये कोई गारंटी नहीं होता। बहुधा ग्रंथों-में इस प्रकारका परिवर्तन पाया जाता है—खुद स्वामी समन्तभद्र के 'जिनशतक' और 'स्वयम्भूस्तोत्र' ही इसके खासे उदाहरण हैं जिनमें किसी-किसी तीर्थंकरकी स्तुति भिन्न छन्दमें ही नहीं किन्तु एकसे अधिक छन्दोंमें भी की गई है। इसके सिवाय, यहाँ पर जो छन्द बदला है वह दो एक अपवादोंको छोड़कर बराबर ग्रन्थके अन्त तक चला गया है—ग्रन्थके बाकी सभी अध्ययनों की रचना प्रायः उसी छन्दमें हुई है—और इसलिये छन्दाधारपर उठी हुई इस शंकामें कुछ भी बल मालूम नहीं होता। हाँ, पुन-रुक्तियोंकी बात ज़रूर विचारणीय है, यद्यपि केवल पुनरुक्ति भी किसी पद्यको क्षेपक नहीं बनाती तो भी इस कहनेमें मुझे ज़रा भी

संकोच नहीं होता कि स्वामी समन्तभद्रके प्रबन्धोंमें व्यर्थकी पुन-रुक्तियाँ नहीं हो सकतीं। इसी बातकी जाँचके लिये मैंने इन पद्योंको कई बार बहुत गौरके साथ पढ़ा है; परन्तु मुझे उनमें ज़रा भी पुनरुक्तिका दर्शन नहीं हुआ। प्रत्येक पद्य नये-नये भाव और नये-नये शब्द-विन्यासको लिये हुए हैं। प्रत्येकमें विशेषता पाई जाती है—हर एकका प्रतिपाद्यविषय, सम्यग्दर्शनका माहात्म्य अथवा फल होते हुए भी अलग-अलग है—और सभी पद्य एक टकसालके—एक ही विद्वान्के द्वारा रचे हुए—मालूम होते हैं। उनमेंसे किसी एकको अथवा किसीको भी 'क्षेपक' कहनेका साहस नहीं होता। मालूम नहीं उन लोगोंने कहाँसे इनमें पुनरुक्तियोंका अनुभव किया है। शायद उन्होंने यह समझा हो और वे इसी बातको कहते भी हों कि 'जब ३५वें पद्यमें यह बतलाया जा चुका है कि शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव नारक, तिर्यंच, नपुंसक और स्त्रीकी पर्यायोंमें जन्म नहीं लेता, न दुष्कुलोंमें जाता है और न विक-लांग, अल्पायु तथा दरिद्री ही होता है तो इससे यह नतीजा सहज ही निकल जाता है कि वह मनुष्य तथा देवपर्यायोंमें जन्म लेता है, पुरुष होता है, अच्छे कुलोंमें जाता है; साथ ही धनादिक की अच्छी अवस्थाको भी पाता है। और इसलिये मनुष्य तथा देव-पर्यायकी अवस्थाओंके सूचक अगले दो पद्योंके देनेकी ज़रू-रत नहीं रहती। यदि उन्हें दिया भी था तो फिर उनसे अगले दो पद्योंके देनेकी ज़रूरत न थी। और अन्तका ४१ वाँ पद्य तो बिलकुल ही अनावश्यक जान पड़ता है, वह साफ तौरसे पुनरु-क्तियोंको लिये हुए है—उसमें पहले चार पद्योंके ही आशयका संग्रह किया गया है—या तो उन चार पद्योंको ही देना था और या उन्हें न देकर इस एक पद्यको ही देना काफी था।'

इस सम्बन्धमें मैं सिर्फ़ इतना ही कहना उचित समझता हूँ कि प्रथम तो 'ज़रूरत नहीं रहती' या 'ज़रूरत नहीं थी' और

'पुनरुक्ति' ये दोनों एक चीज़ नहीं हैं, दोनोंमें बहुत बड़ा अन्तर है और इसलिये ज़रूरत न होनेको पुनरुक्ति समझ लेना और उसके आधार पर पद्योंको क्षेपक मान लेना भूलसे खाली नहीं है। दूसरे, ३५ वें पद्यसे मनुष्य और देवपर्यायसम्बन्धी जो नतीजा निकलता है वह बहुत कुछ सामान्य है और उससे उन विशेष अवस्थाओंका लाज़िमी तौर पर बोध नहीं होता जिनका उल्लेख अगले पद्योंमें किया गया है—एक जीव देव-पर्यायको प्राप्त हुआ भी भवनत्रिकमें (भवनवासी-व्यन्तर-ज्योतिषियोंमें) जन्म ले सकता है और स्वर्गमें साधारण देव हो सकता है। उसके लिये यह लाज़िमी नहीं होता कि वह स्वर्गमें देवोंका इन्द्र भी हो। इसी तरह मनुष्यपर्यायको प्राप्त होता हुआ कोई जीव मनुष्यों-की दुष्कुल और दरिद्रतादि दोषोंसे रहित कितनी ही जघन्य तथा मध्यम श्रेणियोंमें जन्म ले सकता है। उसके लिये मनुष्य पर्यायमें जाना ही इस बातका कोई नियामक नहीं है कि वह महाकुल और महाधनादिककी उन संपूर्ण विभूतियोंसे युक्त होता हुआ 'मानवतिलक' भी हो जिनका उल्लेख ३६ वें पद्यमें किया गया है। और यह तो स्पष्ट ही है कि एक मनुष्य महाकुलादि-सम्पन्न मानवतिलक होता हुआ भी—नारायण, बलभद्रादि पदों-विभूषित होता हुआ भी—चक्रवर्ती अथवा तीर्थंकर नहीं होता। अतः सम्यग्दर्शनके माहात्म्य तथा फलको अच्छी तरहसे प्रख्यापित करनेके लिये उन विशेष अवस्थाओंको दिखलानेकी खास ज़रूरत थी जिनका उल्लेख बादके चार पद्योंमें किया गया है और इसलिये वे पद्य क्षेपक नहीं हैं। हाँ, अन्तका ४१ वाँ पद्य यदि वह सचमुच ही 'संग्रहवृत्त' है—जैसा कि टीकाकारने भी प्रकट* किया है—कुछ खटकता ज़रूर है। परन्तु मेरी रायमें वह

* यथा—"यत्प्राक् प्रत्येकं श्लोकैः सम्यग्दर्शनस्य फलमुक्तं तद्दर्शना-धिकारस्य समाप्तौ संग्रहवृत्तेनोपसंहृत्य प्रतिपादयन्नाह—"

कोरा संग्रहवृत्त नहीं है। उसमें ग्रन्थकारमहोदयने एक दूसरा ही भाव रक्खा है जो पहले पद्योंसे उपलब्ध नहीं होता। पहले पद्य अपनी-अपनी बातका खंडशः उल्लेख करते हैं। वे इस बात-को नहीं बतलाते कि एक ही जीव, सम्यग्दर्शनके माहात्म्यसे, उन सभी अवस्थाओंको भी क्रमशः प्राप्त कर सकता है—अर्थात् देवेन्द्र, चक्रवर्ति और तीर्थंकर पदोंको पाता हुआ मोक्षमें जा सकता है। इसी खास बातको बतलानेके लिये इस पद्यका अवतार हुआ मालूम होता है। और इसलिये यह भी 'क्षेपक' नहीं है।

सल्लेखना अथवा सद्धर्मका फल प्रदर्शित करने वाले जो '*निःश्रेयस*' आदि छह पद्य हैं उनका भी हाल प्रायः ऐसा ही है। वे भी सब एक ही टाइपके पद्य हैं और पुनरुक्तियोंसे रहित पाये जाते हैं। वहाँ पहले पद्यमें जिन 'निःश्रेयस' और 'अभ्युदय' नामके फलोंका उल्लेख है अगले पद्योंमें उन्हीं दोनोंके स्वरूपादि-का स्पष्टीकरण किया गया है। अर्थात् दूसरेमें निःश्रेयसका और छठेमें अभ्युदयका स्वरूप दिया है और शेष पद्योंमें निःश्रेयसको प्राप्त होनेवाले पुरुषोंकी दशाका उल्लेख किया है, इसलिये उनमें भी कोई क्षेपक नहीं और न उनमें परस्पर कोई असम्बद्धता ही पाई जाती है।

इसी तरह पर '*क्षुत्पिपासा*' '*परमेष्ठी परंज्योति*' और '*अनात्मार्थं विनारागैः*' नामके तीनों पद्योंमें भी कोई क्षेपक मालूम नहीं होता। वे आप्तके स्वरूपको विशद करनेके लिये यथावश्यकता और यथा-स्थान दिये गये हैं। पहले पद्यमें क्षुधा-तृषादि दोषोंके अभावकी प्रधानतासे आप्तका स्वरूप बतलाया है और उसके बतलानेकी जरूरत थी; क्योंकि दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंके अष्टादशदोष-सम्बन्धी कथनमें परस्पर बहुत बड़ा अन्तर* पाया

* श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा माने हुए अठारह दोषोंके नाम इस प्रकार हैं—१ वीर्यान्तराय, २ भोगान्तराय, ३ उपभोगान्तराय, ४ दाना-

जाता है। श्वेताम्बर भाई आप्तके क्षुधा-तृषादिकका होना भी मानते हैं जो दिगम्बरोंको इष्ट नहीं है—और ये सब अन्तर उनके प्राय: सिद्धान्त-भेदोंपर अवलम्बित हैं। इस पद्यके द्वारा पूर्वपद्यमें आए हुए *'उत्सन्नदोषेण'* पदका बहुत कुछ स्पष्टीकरण हो जाता है। दूसरे पद्यमें आप्तके कुछ खास-खास नामोंका उल्लेख किया गया है—यह बतलाया गया है कि आप्तको परमेष्ठी, परंज्योति, विराग (वीतराग), विमल, कृती, सर्वज्ञ, सार्व तथा शास्ता आदि भी कहते हैं—और नामकी यह परिपाटी दूसरे प्राचीन ग्रन्थोंमें भी पाई जाती है जिसका एक उदाहरण श्रीपूज्यपादस्वामीका 'समाधितन्त्र ग्रन्थ' है, उसमें भी परमात्माकी नामावलीका एक *'निर्मल: केवल:'* इत्यादि पद्य दिया है। अस्तु, तीसरे पद्यमें आप्तस्वरूपसे उत्पन्न होनेवाले इस प्रश्नको हल किया गया है कि जब शास्ता वीतराग है तो वह किस तरह पर और किस उद्देशसे हितोपदेश देता है और क्या उसमें उसका कोई निजी प्रयोजन है? इस तरह पर ये तीनों ही पद्य प्रकरणके अनुकूल हैं और ग्रन्थके आवश्यक अङ्ग जान पड़ते हैं।

कुछ लोगोंकी दृष्टिमें, भोगोपभोगपरिमाण नामक गुणव्रतके कथनमें आया हुआ, *'त्रसहतिपरिहरणार्थं'* नामका पद्य भी खटकता है। उनका कहना है कि 'इस पद्यमें मद्य, मांस और मधुके त्यागका जो विधान किया गया है वह विधान उससे पहले अष्टमूल गुणोंके प्रतिपादक *'मद्यमांसमधुत्यागै:'* नामके श्लोकमें आ चुका है। जब मूलगुणोंमें ही उनका त्याग आचुका तब

न्तराय, ५ लाभान्तराय, ६ निद्रा, ७ भय, ८ अज्ञान, ९ जुगुप्सा, १० हास्य, ११ रति, १२ अरति, १३ राग, १४ द्वेष, १५ अविरति, १६ काम, १७ शोक, १८ मिथ्यात्व। (देखो, विवेकविलास और जैनतत्त्वादर्श।)

उत्तरगुणोंमें, बिना किसी विशेषताका उल्लेख किये, उसको फिर से दुहरानेकी क्या जरूरत थी ? इसलिये यह पद्य पुनरुक्त-दोषसे युक्त होनेके साथ-साथ अनावश्यक भी जान पड़ता है। यदि मांसादिके त्यागका हेतु बतलानेके लिये इस पद्यको देनेकी जरूरत ही थी तो इसे उक्त *'मद्यमांसमधुत्यागैः'* नामक पद्यके साथ ही—उससे ठीक पहले या पीछे देना चाहिये था। वही स्थान इसके लिये उपयुक्त था और तब इसमें पुनरुक्त आदि दोषोंकी कल्पना भी नहीं हो सकती थी।'

ऊपरके इस कथनसे यह तो स्पष्ट है कि यह पद्य मद्यादिके त्याग-विषयक हेतुओंका अथवा उनके त्यागकी दृष्टिका उल्लेख करनेकी वजहसे कथनकी कुछ विशेषताको लिये हुए जरूर है और इसलिये इसे पुनरुक्त या अनावश्यक नहीं कह सकते। अब देखना सिर्फ इतना ही है कि इस पद्यको अष्टमूलगुणवाले पद्य-के साथ न देकर यहाँ क्यों दिया गया है। मेरी रायमें इसे यहाँ पर देनेका मुख्य हेतु यह मालूम होता है कि ग्रंथमें, इससे पहले, जो 'भोगोपभोगपरिमाणव्रत' का तथा 'भोग' का स्वरूप दिया गया है उससे यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि क्या मद्यादिक भोग पदार्थोंका भी इस व्रतवालेको परिमाण करना चाहिये ? उत्तरमें आचार्यमहोदयने, इस पद्यके द्वारा, यही सूचित किया है कि 'नहीं, इन चीजोंका उसके परिमाण नहीं होता, ये तो उसके लिये बिल्कुल वर्जनीय हैं।' साथ ही, यह भी बतला दिया है कि क्यों वर्जनीय अथवा त्याज्य हैं। यदि यह पद्य यहाँ न दिया जाकर अष्टमूलगुणवाले पद्यके साथ ही दिया जाता तो यहाँ पर तो इससे मिलते-जुलते आशयके किसी दूसरे पद्यको देना पड़ता और इस तरह पर ग्रन्थमें एक बातकी पुनरुक्ति अथवा एक पद्यकी व्यर्थकी वृद्धि होती। यहाँ इस पद्यके देनेसे दोनों काम निकल जाते हैं—पूर्वोद्दिष्ट मद्यादिके त्यागका हेतु भी

मालूम हो जाता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इस व्रत-वालेके मद्यादिकका परिमाण नहीं होता, बल्कि उनका सर्वथा त्याग होता है। ऐसी हालतमें यह पद्य खंडरूपसे व्रतोंके अनुष्ठान-की एक दृष्टिको लिये हुए होनेसे संदेहकी दृष्टिसे देखे जानेके योग्य मालूम नहीं होता।

कुछ लोग उक्त अष्टमूलगुणवाले पद्यको ही 'क्षेपक' समझते हैं परन्तु इसके समर्थनमें उनके पास कोई हेतु या प्रमाण नहीं है। शायद उनका यह खयाल हो कि इस पद्यमें पंचाणुव्रतोंको जो मूलगुणोंमें शामिल किया है वह दूसरे ग्रन्थोंके विरुद्ध है, जिनमें अणुव्रतोंकी जगह पंच उदुम्बरफलोंके त्यागका विधान-पाया जाता है, और इतने परसे ही वे लोग इस पद्यको संदेहकी दृष्टिसे देखने लगे हों। यदि ऐसा है तो यह उनकी निरी भूल है। देशकालकी परिस्थितिके अनुसार आचार्योंका मतभेद परस्पर होता आया है *। उसकी वजहसे कोई पद्य क्षेपक करार नहीं दिया जा सकता। भगवज्जिनसेन आदि और भी कई आचार्यों-ने अणुव्रतोंको मूलगुणोंमें शामिल किया है। पं० आशाधरजीने अपने सागारधर्मामृत और उसकी टीकामें समन्तभद्रादिके इस मतभेदका उल्लेख भी किया है। वास्तवमें सकलव्रती मुनियोंके मूलगुणोंमें जिस प्रकार पंच महाव्रतोंका होना जरूरी है उसी प्रकार देशव्रती श्रावकोंके मूलगुणोंमें पंचाणुव्रतोंका होना भी जरूरी मालूम होता है। देशव्रती श्रावकोंको लक्ष्य करके ही आचार्यमहोदयने इन मूल गुणोंकी सृष्टि की है। पंच उदुम्बर-वाले मूलगुण प्रायः बालकोंको—अव्रतियों अथवा अनभ्यस्त देशसंयमियोंको—लक्ष्य करके लिखे गये हैं; जैसा कि शिवकोटि आचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

* इसके लिये देखो 'जैनाचार्योंका शासनभेद' नामका मेरा वह निबन्ध जो जैनग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय बम्बईसे प्रकाशित हुआ है।

मद्यमांसमधुत्यागसंयुक्ताणुव्रतानि नुः ।
अष्टौ मूलगुणाः पंचोदुम्बरैश्चार्भकेष्वपि ॥ —रत्नमाला

ऐसी हालतमें यह पद्य भी संदेहकी दृष्टिसे देखे जानेके योग्य नहीं। यह अणुव्रतोंके बाद अपने उचित स्थान पर दिया गया है। इसके न रहनेसे, अथवा यों कहिये कि श्रावकाचारविषयक ग्रन्थमें श्रावकोंके मूलगुणोंका उल्लेख न होनेसे, ग्रन्थमें एक प्रकारकी भारी त्रुटि रह जाती, जिसकी स्वामी समन्तभद्र-जैसे अनुभवी ग्रन्थकारोंसे कभी आशा नहीं की जा सकती थी। इसलिये यह पद्य भी क्षेपक नहीं हो सकता।

संदिग्ध पद्य

ग्रन्थमें प्रोषधोपवास नामके शिक्षाव्रतका कथन करनेवाले दो पद्य इस प्रकारसे पाये जाते हैं—

(१) *पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु ।*
चतुरभ्यवहार्याणां प्रत्याख्यानं सदिच्छाभिः ॥१०६॥

(२) *चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः ।*
स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारंभमाचरति ॥१०६॥

इनमें पहले पद्यसे प्रोषधोपवास व्रतका कथन प्रारम्भ होता है और उसमें यह बतलाया गया है कि 'पर्वणी (चतुर्दशी) तथा अष्टमीके दिनोंमें सदिच्छासे जो चार प्रकारके आहारका त्याग किया जाता है उसे 'प्रोषधोपवास' समझना चाहिये'। यह प्रोषधोपवास व्रतका लक्षण हुआ। टीकामें भी निम्न वाक्यके द्वारा इसे लक्षण ही सूचित किया है—

'अथेदानीं प्रोषधोपवासलक्षणं शिक्षाव्रतं व्याचक्षाणः प्राह'—

इस पद्यके बाद दो पद्योंमें उपवास-दिनके विशेष कर्तव्योंका निर्देश करके व्रतातीचारोंसे पहले, वह दूसरा पद्य दिया है जो

ऊपर नम्बर (२) पर उद्धृत है। इस पद्यमें भी प्रोषधोपवासका लक्षण बतलाया गया है। और उसमें भी वही चार प्रकारके आहार-त्यागकी पुनरावृत्ति की गई है। मालूम नहीं, यहाँ पर यह पद्य किस उद्देशसे रक्खा गया है। कथनक्रमको देखते हुए, इस पद्यकी स्थिति कुछ संदिग्ध जरूर मालूम होती है। टीकाकार भी उसकी इस स्थितिको स्पष्ट नहीं कर सके। उन्होंने इस पद्य-को देते हुए सिर्फ इतना ही लिखा है कि—

'अधुना प्रोषधोपवासस्तल्लक्षणं कुर्वन्नाह—'

अर्थात्—अब प्रोषधोपवासका लक्षण करते हुए कहते हैं। परन्तु प्रोषधोपवासका लक्षण तो दो ही पद्य पहले किया और कहा जा चुका है, अब फिरसे उसका लक्षण करने तथा कहनेकी क्या जरूरत पैदा हुई, इसका कुछ भी स्पष्टीकरण अथवा समा-धान टीकामें नहीं है। अस्तु; यदि यह कहा जाय कि इस पद्यमें 'प्रोषध' और 'उपवास' का अलग-अलग स्वरूप दिया है—चार प्रकारके आहारत्यागको उपवास और एक बार भोजन करनेको 'प्रोषध' ठहराया है—और इस तरह पर यह सूचित किया है कि प्रोषधपूर्वक—पहले दिन एक बार भोजन करके—जो अगले दिन उपवास किया जाता है—चार प्रकारके आहारका त्याग किया जाता है—उसे प्रोषधोपवास कहते हैं, तो इसके सम्बन्धमें सिर्फ इतना ही निवेदन है कि प्रथम तो पद्यके पूर्वार्धमें भले ही उपवास और प्रोषधका अलग-अलग स्वरूप दिया हो परन्तु उसके उत्तरार्धसे यह ध्वनि नहीं निकलती कि उसमें प्रोषधपूर्वक उपवासका नाम 'प्रोषधोपवास' बतलाया गया है। उसके शब्दोंसे सिर्फ इतना ही अर्थ निकलता है कि उपोषण (उपवास) पूर्वक जो आरंभाचरण किया जाता है उसे 'प्रोषधोपवास' कहते हैं—बाकी धारणक और पारणकके दिनोंमें एकभुक्तिकी जो कल्पना टीकाकारने की है वह सब उसकी अतिरिक्त कल्पना मालूम

होता है। इस लक्षणसे साधारण उपवास भी प्रोषधोपवास हो जाते हैं; और ऐसी हालतमें इस पद्यकी स्थिति और भी ज्यादा गड़बड़में पड़ जाती है। दूसरे, यदि यह मान भी लिया जाय कि, प्रोषधपूर्वक उपवासका नाम ही प्रोषधोपवास है और वही इस पद्यके द्वारा अभिहित है तो वह स्वामी समन्तभद्रके उस पूर्व-कथनके विरुद्ध पड़ता है जिसके द्वारा पर्वदिनोंमें उपवासका नाम प्रोषधोपवास सूचित किया गया है और इस तरह पर प्रोषधोपवासकी *'प्रोषधे पर्वदिने उपवासः प्रोषधोपवासः'* यह निरुक्ति की गई है। प्रोषध शब्द 'पर्वपर्यायवाची' है और प्रोषधोपवास-का अर्थ *'प्रोषधे उपवासः'* है, यह बात श्रीपूज्यपाद, अकलंकदेव, विद्यानन्द, सोमदेव आदि सभी प्रसिद्ध विद्वानोंके ग्रन्थोंसे पाई जाती है, जिसके दो एक उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

"प्रोषधशब्दः पर्वपर्यायवाची। शब्दादिग्रहणं प्रतिनिवृत्तौत्सुक्यानि पंचापीन्द्रियाण्युपेत्य तस्मिन्वसंतीत्युपवासः। चतुर्विधाहारपरित्याग इत्यर्थः। प्रोषधे उपवासः प्रोषधोपवासः।" —सर्वार्थसिद्धिः

*"प्रोषधशब्दः पर्वपर्यायवाची, प्रोषधे उपवासः प्रोषधोपवासः।"*इत्यादि
—तत्त्वार्थराजवार्तिक

"प्रोषधे पर्वण्युपवासः प्रोषधोपवासः।" —श्लोकवार्तिक

"पर्वाणि प्रोषधान्याहुर्मासे चत्वारि तानि च" इत्यादि —यशस्तिलक

"प्रोषधः पर्वपर्यायवाची। पर्वणि चतुर्विधाहारनिवृत्तिः प्रोषधोपवासः"
—चारित्रसार

"इह प्रोषधशब्दः रूढ्या पर्वसु वर्तते। पर्वाणि चाष्टम्यादितिथयः पूरणात्पर्वधर्मोपचयहेतुत्वादिति"— —श्रा० प्र० टीकायां, हरिभद्रः

बहुत कुछ छानबीन करने पर भी दूसरा ऐसा कोई भी ग्रन्थ मेरे देखनेमें नहीं आया जिसमें प्रोषधका अर्थ 'सकृद्भुक्ति' और

प्रोषधोपवासका अर्थ 'सुकृद्भुक्तिपूर्वक उपवास' किया गया हो। प्रोपधका अर्थ 'सकृद्भुक्ति' नहीं है, यह बात खुद स्वामी समन्तभद्रके निम्न वाक्यसे भी प्रकट होती है जो इसी ग्रन्थमें बादको 'प्रोषधोपवास' प्रतिमाका स्वरूप प्रतिपादन करनेके लिये दिया गया है---

पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य ।
प्रोषधनियमविधायी प्रणधिपरः प्रोषधानशनः ॥

इससे 'चतुराहारविसर्जन' नामका उक्त पद्य स्वामी समन्तभद्रके उत्तर कथनके भी विरुद्ध है, यह स्पष्ट हो जाता है। ऐसी हालतमें---ग्रंथके पूर्वोत्तर कथनोंसे भी विरुद्ध पड़नेके कारण---इस पद्यको स्वामी समन्तभद्रका स्वीकार करनेमें बहुत अधिक संकोच होता है। आश्चर्य नहीं जो यह पद्य प्रभाचन्द्रीय टीकासे पहले ही, किसी तरह पर, ग्रंथमें प्रक्षिप्त हो गया हो और टीकाकारको उसका ख़याल भी न हो सका हो।

अब मैं उन पद्यों पर विचार करता हूँ जो अधिकांश लोगोंकी शंकाका विषय बने हुए हैं। वे पद्य दृष्टान्तोंके पद्य हैं और उनकी संख्या ग्रन्थमें छह पाई जाती हैं। इनमेंसे '*तावदंजन*' और '*ततो जिनेन्द्रभक्त*' नामके पहले दो पद्योंमें सम्यग्दर्शनके निःशंकितादि अष्ट अंगोंमें प्रसिद्ध होनेवाले आठ व्यक्तियोंके नाम दिये हैं। '*मातंगो धनदेवश्च*' नामके तीसरे पद्यमें पाँच व्यक्तियोंके नाम देकर यह सूचित किया है कि इन्होंने उत्तम पूजातिशयको प्राप्त किया है। परन्तु किस विषयमें ? इसका उत्तर पूर्व पद्यसे सम्बन्ध मिलाकर यह दिया जा सकता है कि अहिंसादि पंचाणुव्रतोंके पालन-विषयमें। इसके बाद ही 'धनश्री' नामक पद्यमें पाँच नाम और देकर लिखा है कि उन्हें भी क्रमशः उसी प्रकार उपाख्यानका विषय बनाना चाहिये। परन्तु इनके उपाख्यानका क्या विषय होना चाहिये अथवा ये किस विषयके

दृष्टान्त हैं, यह कुछ सूचित नहीं किया और न पूर्व पद्योंसे ही इसका कोई अच्छा निष्कर्ष निकलता है। पहले पद्यके साथ सम्बन्ध मिलानेसे तो यह नतीजा निकलता है कि ये पाँचों दृष्टान्त भी अहिंसादिक व्रतोंके हैं और इसलिये इनके भी पूजातिशयको दिखलाना चाहिये। हाँ, टीकाकार प्रभाचन्द्रने यह जरूर सूचित किया है कि ये क्रमशः हिंसादिकसे युक्त व्यक्तियोंके दृष्टान्त हैं। '*श्रीषेण*' नामके पाँचवें पद्यमें चार नाम देकर यह सूचित किया गया है कि ये चतुर्भेदात्मक वैयावृत्यके दृष्टान्त हैं। और '*अर्हच्चरणसपर्या*' नामक छठे पद्यमें लिखा है कि राजगृहमें एक प्रमोदमत्त (विशिष्ट धर्मानुरागसे मस्त) मेंडकने एक फूलके द्वारा अर्हन्तके चरणोंकी पूजाके माहात्म्यको महात्माओंपर प्रकट किया था।

इन पद्योंपर जो आपत्तियाँ की जाती हैं अथवा की जा सकती हैं उनका समुच्चय सार इस प्रकार है—

(१) ग्रन्थके संदर्भ और उसकी कथनशैलीपरसे यह स्पष्ट है कि ग्रन्थमें श्रावकधर्मका प्रतिपादन औपदेशिक ढंगसे नहीं किन्तु विधिवाक्योंके तौरपर अथवा आदेशरूपसे किया गया है। ऐसी हालतमें किसी दृष्टान्त या उपाख्यानका उल्लेख करने अथवा ऐसे पद्योंके देनेकी कोई जरूरत नहीं होती और इसलिये ग्रन्थमें ये पद्य निरे अनावश्यक तथा बेमोलसे मालूम होते हैं। इनकी अनुपस्थितिसे ग्रंथके प्रतिपाद्य विषय-सम्बन्धादिकमें किसी प्रकारकी कोई बाधा भी नहीं आती।

(२) शास्त्रोंमें एक ही विषयके अनेक दृष्टान्त अथवा उपाख्यान पाये जाते हैं; जैसे अहिंसाव्रतमें 'मृगसेन' धीवरका, असत्यभाषणमें राजा 'वसु' का, अब्रह्मसेवनमें 'कडारपिंग' का और परिग्रह-विषयमें 'पिण्याकगंध' का उदाहरण सुप्रसिद्ध है। भगवती आराधना और यशस्तिलकादि ग्रन्थोंमें इन्हींका उल्लेख

किया गया है। एक ही व्यक्तिकी कथासे कई कई विषयोंके उदाहरण भी निकलते हैं—जैसे वारिषेणकी कथासे स्थितीकरण अंग तथा अचौर्यव्रतका और अनन्तमतीकी कथासे ब्रह्मचर्यव्रत तथा निःकांक्षित अंगका। इसी तरहपर कुछ ऐसी भी कथाएँ उपलब्ध हैं जिनके दृष्टान्तोंका प्रयोग विभिन्न रूपसे पाया जाता है। इसी ग्रन्थमें सत्यघोषकी जिस कथाको असत्य-भाषणका दृष्टान्त बनाया गया है 'भगवती आराधना' और 'यशस्तिलक'में उसीको चोरीके सम्बन्धमें प्रयुक्त किया गया है। इसी तरह विष्णुकुमार-की कथाको कहीं-कहीं 'वात्सल्य' अंगमें न देकर 'प्रभावना' अंग-में दिया गया है †।

कथा-साहित्यकी ऐसी हालत होते हुए और एक नामके अनेक व्यक्ति होते हुए भी स्वामी समन्तभद्र-जैसे सतर्क विद्वानोंसे, जो अपने प्रत्येक शब्दको बहुत कुछ जाँच-तोलकर रखते हैं यह आशा नहीं की जा सकती कि वे उन दृष्टान्तोंके यथेष्ट मार्मिक अंशका उल्लेख किये बिना ही उन्हें केवल उनके नामोंसे ही उद्धृत करनेमें सन्तोष मानते, और जो दृष्टान्त सर्वमान्य नहीं उसे भी प्रयुक्त करते, अथवा बिना प्रयोजन ही किसी खास दृष्टान्तको दूसरों पर महत्व देते।

(३) यदि ग्रन्थकारमहोदयको, अपने ग्रन्थमें दृष्टान्तोंका उल्लेख करना ही इष्ट होता तो वे प्रत्येक व्यक्तिके कार्यकी गुरुता और उसके फलके महत्त्वको कुछ जँचे-तुले शब्दोंमें जरूर दिखलाते। साथ ही, उन दूसरे विषयोंके उदाहरणोंका भी, उसी प्रकारसे, उल्लेख करते जो ग्रन्थमें अनुदाहृत स्थितिमें पाये जाते हैं—अर्थात्, जब अहिंसादिक व्रतोंके साथ उनके प्रतिपक्षी हिंसा-दिक पापोंके भी उदाहरण दिये गये हैं तो सम्यग्दर्शनके निःशं-

† देखो, 'अरुंगल छेप्पु' नामक तामिल भाषाका ग्रन्थ, जो सन् १९२५ से पहले अंग्रेजी जैनगजटमें, अनुवादसहित, मुद्रित हुआ है।

कितादि अष्ट अंगोंके साथ उनके प्रतिपक्षी शंकादिक दोषोंके भी उदाहरण देने चाहियें थे। इसी प्रकार तीन मूढताओंको धरने-वाले न धरनेवाले, मद्य-मांस-मधु आदिका सेवन करनेवाले न करनेवाले, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंके पालनमें तत्पर-अतत्पर, '*उच्चैर्गोत्रं प्रणतेः*' नामक पद्यमें जिन फलोंका उल्लेख है उनको पानेवाले, सल्लेखनाकी शरणमें जानेवाले और न जाने-वाले, इन सभी व्यक्तियोंका अलग-अलग दृष्टान्तरूपसे उल्लेख करना चाहिये था। परन्तु यह सब कुछ भी नहीं किया गया और न उक्त छहों पद्योंकी उपस्थितिमें इस न करनेकी कोई माकूल (समुचित) वजह ही मालूम होती है। ऐसी हालतमें उक्त पद्योंकी स्थिति और भी ज्यादा संदेहास्पद हो जाती है।

(४) '*धनश्री*' नामका पद्य जिस स्थितिमें पाया जाता है उसमें उसके उपाख्यानोंका विषय अच्छी तरहसे प्रतिभासित नहीं होता। स्वामी समन्तभद्रकी रचनामें इस प्रकारका अधूरापन नहीं हो सकता।

(५) ब्रह्मचर्याणुव्रतके उदाहरणमें 'नीली' नामकी एक स्त्री-का जो दृष्टान्त दिया गया है वह ग्रन्थके संदर्भसे—उसकी रचनासे—मिलता हुआ मालूम नहीं होता। स्वामी समन्तभद्र-द्वारा यदि उस पद्यकी रचना हुई होती तो वे, अपने ग्रन्थकी पूर्वरचनाके अनुसार, वहाँ पर किसी पुरुष-व्यक्तिका ही उदा-हरण देते—स्त्रीका नहीं; क्योंकि उन्होंने ब्रह्मचर्याणुव्रतका जो स्वरूप '*न तु परदारान् गच्छति*' नामके पद्यमें 'परदारनिवृत्ति' और 'स्वदारसंतोष' नामोंके साथ दिया है वह पुरुषोंको प्रधान करके ही लिखा गया है। दृष्टान्त भी उसके अनुरूप ही होना चाहिये था।

(६) परिग्रहपरिमाणव्रतमें 'जय' का दृष्टान्त दिया गया है। टीकामें प्रभाचन्द्रने 'जय' को कुरुवंशी राजा 'सोमप्रभ'

का पुत्र और सुलोचनाका पति सूचित किया है। परन्तु इस राजा 'जय' (जयकुमार) की जो कथा भगवज्जिनसेनके 'आदि-पुराण' में पाई जाती है उससे वह परिग्रहपरिमाणव्रतका धारक न होकर 'परदारनिवृत्ति' नामके शीलव्रतका—ब्रह्मचर्याणुव्रतका—धारक मालूम होता है और उसी व्रतकी परीक्षामें उत्तीर्ण होनेपर उसे देवता-द्वारा पूजातिशयकी प्राप्ति हुई थी। टीकाकार प्रभाचन्द्र भी इस सत्यको छिपा नहीं सके और न प्रयत्न करने पर भी इस कथाको पूरी तौरसे 'परिग्रहपरिमाण' नामके अणुव्रतकी बना सके हैं। उन्होंने शायद मूलके अनुरोधसे यह लिख तो दिया कि 'जय' परिमितपरिग्रही था और स्वर्गमें इन्द्रने भी उसके इस परिग्रह-परिमाणव्रतकी प्रशंसा की थी परन्तु कथामें वे अन्ततक उसका निर्वाह पूरी तौरसे नहीं कर सके। उन्होंने एक देवताको स्त्रीके रूपमें भेजकर जो परीक्षा कराई है उससे वह जयके शीलव्रतकी ही परीक्षा हो गई है। आदिपुराणमें, इस प्रसंगपर साफ़ तौरसे जयके शीलमाहात्म्यका ही उल्लेख किया है, जिसके कुछ पद्य इस प्रकार हैं—

अमरेन्द्रो सभामध्ये शीलमाहात्म्यशंसनं ।
जयस्य तत्प्रियायाश्च प्रकुर्वति कदाचन ॥२६०॥
श्रुत्वा तदादिमे कल्पे रविप्रभविमानजः ।
श्रीशो रविप्रभाख्येन तच्छीलान्वेषणं प्रति ॥२६१॥
प्रेषिता कांचना नाम देवी प्राप्य जयं सुधीः ।

× × × ×

स्वानुरागं जये व्यक्तमकरोद्विकृतेक्षणा ।
तद्दुष्टचेष्टितं दृष्ट्वा मा मंस्था पापमीदृशं ॥२६७॥
सोदर्या त्वं ममादायि मया मुनिवराद्व्रतं ।
परांगनांगसंसर्गसुखं मे विषभक्षणं ॥२६८॥

× × × ×

आबिभ्यद्देवता चैवं शीलवत्याः परे न के।
ज्ञात्वा तच्छीलमाहात्म्यं गत्वा स्वस्वामिनं प्रति ॥२७१॥
प्राशंसत्सा तयोस्तादृङ्माहात्म्यं सोऽपि विस्मयात्।
रविप्रभः समागत्य तावुभौ तद्‌गुणप्रियः ॥२७२॥
स्ववृत्तान्तं समाख्याप युवाभ्यां क्षम्यतामिति।
पूजयित्वा महारत्नैर्नाकलोकं समीयिवान् ॥२७३॥

—पर्व ४७वाँ

श्रीजिनसेनाचार्य-प्रणीत हरिवंशपुराणमें भी, निम्नलिखित दो पद्यों-द्वारा, 'जय' के शीलमाहात्म्यको ही सूचित किया है—

शक्रप्रशंसनादेत्य रतिप्रभसुरेण सः।
परीक्ष्य स्वस्त्रिया मेरावन्यदा पूजितो जयः ॥१३०॥
सर्वासामेव शुद्धीनां शीलशुद्धिः प्रशस्यते।
शीलशुद्धिर्विशुद्धानां किंकरास्त्रिदशा नृणाम् ॥१३१॥

—सर्ग १२वाँ

इस तरह पर जयका उक्त दृष्टान्तरूपसे उल्लेख उसके प्रसिद्ध आख्यानके विरुद्ध पाया जाता है और इससे भी पद्यकी स्थिति संदिग्ध होजाती है।

(७) इन पद्योंमें दिये हुए दृष्टान्तोंको टीकामें जिस प्रकारसे उदाहृत किया है, यदि सचमुच ही उनका वही रूप है और वही उनसे अभिप्रेत है तो उससे इन दृष्टान्तोंमें ऐसा कोई विशेष महत्त्व भी मालूम नहीं होता, जिसके लिये स्वामी समन्तभद्र-जैसे महान् आचार्योंको उनके नामोल्लेखका प्रयत्न करनेकी ज़रूरत पड़ती। वे प्रकृत-विषयको पुष्ट बनाने अथवा उसका प्रभाव हृदय पर स्थापित करनेके लिये पर्याप्त नहीं हैं। कितने ही दृष्टान्त

तो इनसे भी अधिक महत्त्वके, हिंसा-अहिंसादिके विषयमें, प्रतिदिन देखने तथा सुननेमें आते हैं।

इन्हीं सब कारणोंसे उक्त छहों पद्योंको स्वामी समन्तभद्रके पद्य स्वीकार करनेसे इनकार किया जाता है और कहा जाता है कि वे 'क्षेपक' हैं।

मेरी रायमें, इन आपत्तियोंमेंसे सबसे पिछली आपत्ति तो ऐसी है जिसमें कुछ भी बल मालूम नहीं होता; क्योंकि उसकी कल्पनाका आधार एक मात्र संस्कृतटीका है। यह बिल्कुल ठीक है; और इसमें कोई सन्देह नहीं कि टीकाकारने इन दृष्टान्तोंकी जो कथाएँ दी हैं वे बहुत ही साधारण तथा श्रीहीन हैं, और कहीं-कहीं पर तो अप्राकृतिक भी जान पड़ती हैं। उनमें भावोंका चित्रण बिल्कुल नहीं और इसलिये वे प्रायः निष्प्राण मालूम होती हैं। टीकाकारने, उन्हें देते हुए, इस बातका कुछ भी ध्यान रक्खा मालूम नहीं होता कि जिस व्रत, अव्रत अथवा गुण-दोषादिके विषयमें ये दृष्टान्त दिये गये हैं उनका वह स्वरूप उस कथाके पात्रमें परिस्फुट (अच्छी तरहसे व्यक्त) कर दिया गया या नहीं जो इस ग्रन्थ अथवा दूसरे प्रधान ग्रन्थोंमें पाया जाता है, और उसके फलप्रदर्शनमें भी किसी असाधारण विशेषताका उल्लेख किया गया अथवा नहीं। अनन्तमतीकी कथामें एक जगह भी 'निःकांक्षित' अंगके स्वरूपको और उसके विषयमें अनंतमतीकी भावनाको व्यक्त नहीं किया गया; प्रत्युत इसके, अनन्तमतीके ब्रह्मचर्यव्रतके माहात्म्यका ही यत्र तत्र कीर्तन किया गया है; 'प्रभावना' अंगकी लम्बी कथामें 'प्रभावना' के स्वरूपको प्रदर्शित करना तो दूर रहा, यह भी नहीं बतलाया गया कि वज्रकुमारने कैसे रथ चलवाया—क्या अतिशय दिखलाया और उसके द्वारा क्योंकर और क्या प्रभावना

[illegible]देवकी कथामें इस बातको बतलानेकी शायद जरूरत ही नहीं

समझी गई कि धनदेवकी सत्यताको राजाने कैसे प्रमाणित किया, और बिना उसको सूचित किये वैसे ही राजासे उसके हक़में फैसला दिला दिया गया! असत्यभाषणका दोष दिखलानेके लिये जो सत्यघोषकी कथा दी गई है उसमें उसे चोरीका ही अपराधी ठहराया है, जिससे यह दृष्टान्त, असत्यभाषणका न रहकर, दूसरे ग्रन्थोंकी तरह चोरीका ही बन गया है। और इस तरह पर इन सभी कथाओंमें इतनी अधिक त्रुटियाँ पाई जाती हैं कि उन पर एक खासा विस्तृत निबन्ध लिखा जा सकता है। परन्तु टीकाकारमहाशय यदि इन दृष्टान्तोंको अच्छी तरहसे खिला नहीं सके, उनके मार्मिक अंशोंका उल्लेख नहीं कर सके और न त्रुटियोंको दूर करके उनकी कथाओंको प्रभावशालिनी ही बना सके हैं, तो यह सब उनका अपना दोष है। उसकी वजहसे मूल ग्रन्थ पर कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। और न मूल आख्यान वैसे कुछ निःसार अथवा महत्त्वशून्य ही हो सकते हैं जैसा कि टीकामें उन्हें बता दिया गया है। इसीसे मेरा यह कहना है कि इस ७ वीं आपत्तिमें कुछ भी बल नहीं है।

छठी आपत्तिके सम्बन्धमें यह कहा जा सकता है कि पद्यमें जिस 'जय' का उल्लेख है वह सुलोचनाके पतिसे भिन्न कोई दूसरा ही व्यक्ति होगा अथवा दूसरे किसी प्राचीन पुराणमें जयको, परदारनिवृत्ति व्रतकी जगह अथवा उसके अतिरिक्त, परिग्रहपरिमाणव्रतका व्रती लिखा होगा। परन्तु पहली अवस्थामें इतना जरूर मानना होगा कि वह व्यक्ति टीकाकारके समयमें भी इतना अप्रसिद्ध था कि टीकाकारको उसका बोध नहीं हो सका और इसलिये उसने सुलोचनाके पति 'जय' को ही जैसे-तैसे उदाहृत किया है। दूसरी हालतमें, उदाहृत कथा परसे,

जरूर मालूम होता है। चौथी आपत्तिके सम्बन्धमें यह कल्पना की जा सकती है कि *'धनश्री'* नामका पद्य कुछ अशुद्ध होगया है। उसका *'यथाक्रमं'* पाठ जरा खटकता भी है। यदि ऐसे पद्यों-में इस आशयके किसी पाठके देनेकी जरूरत होती तो वह *'मातंगो'* तथा *'श्रीषेण'* नामके पद्योंमें भी जरूर दिया जाता; क्योंकि उनमें भी पूर्वकथित विषयोंके क्रमानुसार दृष्टान्तोंका उल्लेख किया गया है। परन्तु ऐसा नहीं है; इसलिये यह पाठ यहाँ पर अनावश्यक मालूम होता है। इस पाठकी जगह यदि उसीकी जोड़का दूसरा *'ऽन्यथासमं'* पाठ बना दिया जाय तो झगड़ा बहुत कुछ मिट जाता है और तब इस पद्यका यह स्पष्ट आशय हो जाता है कि, पहले पद्यमें मातंगादिकके जो दृष्टान्त दिये गये हैं उनके साथ (समं) ही इन *'धनश्री'* आदिके दृष्टान्तोंको भी विपरीतरूपसे (अन्यथा) उदाहृत करना चाहिये—अर्थात्, वे अहिंसादिव्रतोंके दृष्टान्त हैं तो इन्हें हिंसा-दिक पापोंके दृष्टान्त समझना चाहिये और वहाँ पूजातिशयको दिखाना है तो यहाँ तिरस्कार और दुःखके अतिशयको दिखलाना होगा। इस प्रकारके पाठभेदका हो जाना कोई कठिन बात भी नहीं है। भंडारोंमें ग्रन्थोंकी हालतको देखते हुए, वह बहुत कुछ साधारण जान पड़ती है। परन्तु तब इस पाठभेदके सम्बन्धमें यह मानना होगा कि वह टीकासे पहले हो चुका है और टीका-कारको दूसरे शुद्ध पाठकी उपलब्धि नहीं हुई। यही वजह है कि उसने *'यथाक्रमं'* पाठ ही रक्खा है और पद्यके विषयको स्पष्ट करनेके लिये उसे टीकामें *'हिंसादिविरत्यभावे'* पदकी वैसे ही ऊपरसे कल्पना करनी पड़ी है।

शेष आपत्तियोंके सम्बन्धमें, बहुत कुछ विचार करने पर भी, मैं अभी तक ऐसा कोई समाधानकारक उत्तर निश्चित नहीं कर ... अंग स्वीकार करनेमें

सहायता मिल सके * । दूसरे किसी विद्वानकी ओरसे भी मुझे आज तक वैसा कोई उत्तर या तद्विषयक सुझाव प्राप्त नहीं होसका है। इन आपत्तियोंमें बहुत कुछ तथ्य पाया जाता है; और इसलिये इनका पूरी तौरसे समाधान हुए बिना उक्त छहों या पाँच पद्योंको पूर्ण रूपसे ग्रन्थका अंग नहीं कहा जा सकता—उन्हें स्वामी समन्तभद्रकी रचना स्वीकार करनेमें बहुत बड़ा संकोच होता है। आश्चर्य नहीं जो ये पद्य भी टीकासे पहले ही ग्रन्थमें प्रक्षिप्त हो गये हों और साधारण दृष्टिसे देखने अथवा परीक्षादृष्टिसे न देखनेके कारण वे टीकाकारको लक्षित न हो सके हों। यह भी संभव है कि इन्हें किसी दूसरे संस्कृत-टीकाकारने रचा हो, कथाओंसे पहले उनकी सूचनाके लिये अपनी टीकामें दिया हो और बादको उस टीका परसे मूलग्रन्थकी नकल उतारते समय असावधान लेखकोंकी कृपासे वे मूलका ही अंग बना दिये गये हों। परन्तु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि ये पद्य संदिग्ध जरूर हैं और इन्हें सहसा मूलग्रन्थका अंग अथवा स्वामी समन्तभद्रकी रचना माननेमें संकोच जरूर होता है।

यहाँ तककी इस सम्पूर्ण जाँचमें जिन पद्योंकी चर्चा की गई है, मैं समझता हूँ, उनसे भिन्न ग्रन्थमें दूसरे ऐसे कोई भी पद्य मालूम नहीं होते जो खास तौरसे संदिग्ध स्थितिमें पाये जाते हों अथवा जिन पर किसीने अपना युक्तिपुरस्सर संदेह प्रकट

* यद्यपि छठे पद्यका रंगढंग दूसरे पद्योंसे कुछ भिन्न है और उसे ग्रन्थका अंग माननेको जी भी कुछ चाहता है परन्तु पहली आपत्ति उसमें खास तौरसे बाधा डालती है और यह स्वीकार करने नहीं देती कि वह भी निःसन्देह ग्रन्थका कोई अंग है। हाँ, यदि इसे दृष्टान्तके रूपमें न लेकर फल-प्रतिपादनके रूपमें लिया जाय (अर्हत्पूजाके फलविषयका दूसरा कोई पद्य है भी नहीं) तो इसे एक प्रकारसे ग्रन्थका अंग कहना ठीक हो सकता है।

किया हो और इसलिये जिनकी जाँचकी इस समय ज़रूरत हो। 'क्षुत्पिपासा' नामक मूल छठे पद्यकी विस्तृत जाँच 'नया सन्देह' शीर्षकके नीचे आ ही चुकी है। अस्तु।

यह तो हुई ग्रन्थकी उन प्रतियोंके पद्योंकी जाँच जो सटीक प्रतिकी तरह डेढसौ श्लोक संख्याको लिये हुए हैं, अब दूसरी उन प्रतियोंको भी लीजिये जिनमें ग्रन्थकी श्लोकसंख्या कुछ न्यूनाधिकरूपसे पाई जाती है।

अधिक पद्योंवाली प्रतियाँ

ग्रन्थकी हस्तलिखित प्रतियोंमें, यद्यपि, ऐसी कोई भी उल्लेख-योग्य प्रति अभी तक मेरे देखनेमें नहीं आई जिसमें श्लोकोंकी संख्या डेढसौसे कम हो; परन्तु आराके 'जैनसिद्धान्तभवन' में ग्रन्थकी ऐसी कितनी ही पुरानी प्रतियाँ ताड़पत्रों पर ज़रूर मौजूद हैं जिनमें श्लोक-संख्या, परस्पर कमती-बढ़ती होते हुए भी, डेढसौसे अधिक पाई जाती है। इन प्रतियोंमेंसे दो मूल प्रतियोंको जाँचने और साथ ही दो कनड़ी टीकावाली प्रतियों परसे उन्हें मिलानेका मुझे अवसर मिला है, और उस जाँचसे कितनी ही ऐसी बातें मालूम हुई हैं जिन्हें ग्रन्थके पद्योंकी जाँचके इस अवसर पर प्रकट कर देना ज़रूरी मालूम होता है—बिना उनके प्रकट किये यह जाँच अधूरी ही रहेगी। अतः पाठकोंकी अनुभव-वृद्धिके लिये यहाँ उस जाँचका कुछ सार दिया जाता है—

(१) भवनकी मुद्रित सूचीमें रत्नकरण्डश्रावकाचारकी जिस प्रतिका नम्बर ६३४ दिया है वह मूल प्रति है और उसमें ग्रन्थके पद्योंकी संख्या १९० दी है—अर्थात् ग्रन्थकी प्रभाचन्द्रीय संस्कृत-टीकावाली प्रतिसे अथवा डेढसौ श्लोकों वाली अन्यान्य मुद्रित-अमुद्रित प्रतियोंसे उसमें ४० पद्य अधिक पाये जाते हैं। वे ४० पद्य अपने-अपने स्थानकी सूचनाके साथ, इस प्रकार हैं—

'नाऽङ्गहीनमलं' नामके २१ वें पद्यके बाद—

सूर्यार्घ्यो ग्रहणस्नानं संक्रान्तौ द्रविणव्ययः ।
संध्यासेवाग्निसंस्कारो (सत्कारो) देहगेहार्चनाविधिः ॥२१॥
गोपृष्ठान्तनमस्कारः तन्मूत्रस्य निषेवणं ।
रत्नवाऽनभूवृक्षशस्त्रशैलादिसेवनं ॥२३॥

'न सम्यक्त्वसमं' नामके ३४ वें पद्यके बाद—

दुर्गतावायुषो बंधात्सम्यक्त्वं यस्य जायते ।
गतिच्छेदो न तस्यास्ति तथाप्यल्पतरा स्थितिः ॥३७॥

'अष्टगुण' नामके ३७ वें पद्यके बाद—

उक्तं च—अणिमा महिमा लघिमा गरिमान्तर्धानकामरूपित्वं ।
प्राप्तिप्राकाम्यवशित्वेशित्वाप्रतिहतत्वमिति वैक्रियिकाः ॥४१॥

'नवनिधि' नामके ३८ वें पद्यके बाद—

उक्तं च त्रयं—रक्षितयक्षसहस्रकालमहाकालपाण्डुमाणवशंख-
नैसर्पपद्मपिंगलनानारत्नाश्च नवनिधयः ॥४३॥
ऋतुयोग्यवस्तुभाजनधान्यायुधतूर्यहर्म्यवस्त्राणि ।
आभरणरत्ननिकरान् क्रमेण निधयः प्रयच्छंति ॥४४॥
चक्रं छत्रमसिर्दण्डो मणिश्चर्म च काकिणी ।
ग्रह-सेनापती तक्षपुरोधाऽश्वगजस्त्रियः ॥४५॥

'प्राणातिपात' नामके ५२ वें पद्यके बाद—

स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा कषायवान् ।
पूर्वं प्राण्यंतराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः ॥६०॥

'अतिवाहना' नामके ६२ वें पद्यके बाद—

वधादसत्याच्चौर्याच्च कामाद्ग्रन्थान्निवर्तनं ।
पंचकाणुव्रतं राज्यभुक्तिः षष्ठमणुव्रतम् ॥७१॥

अह्नोमुखेऽवसाने च यो द्वे द्वे घटिके त्यजन् ।
निशाभोजनदोषज्ञोऽश्नात्यसौ पुण्यभाजनम् ॥७२॥
मौनं भोजनवेलायां ज्ञानस्य विनयो भवेत् ।
रक्षणं चाभिमानस्येत्युद्दिशंति मुनीश्वराः ॥७३॥
हृदनं मूत्रणं स्नानं पूजनं परमेष्ठिनां ।
भोजनं सुरतं स्तोत्रं कुर्यान्मौनसमन्वितः ॥७४॥
मांसरक्तार्द्रचर्मास्थिपूयदर्शनतस्त्यजेत् ।
मृतांगिवीक्षणादन्नं प्रत्याख्यानान्नसेवनात् ॥७५॥
मातंगश्वपचादीनां दर्शने तद्वचः श्रुतौ ।
भोजनं परिहर्तव्यं मलमूत्रादिदर्शने ॥७६॥

'मद्यमांस' नामके ६६ वें पद्यके बाद—

मांसाशिषु दया नास्ति न सत्यं मद्यपायिषु ।
धर्मभावो न जीवेषु मधूदुम्बरसेविषु ॥८१॥

'अल्पफल' नामके ८५वें पद्यके बाद—

स्थूलाः सूक्ष्मास्तथा जीवाः सन्त्युदुम्बरमध्यगाः ।
तन्निमित्तं जिनोद्दिष्टं पंचोदुम्बरवर्जनं ॥१०१॥
रससंपृक्तफलं यो दशति(ऽश्नाति) त्रसतनुरसैश्च संमिश्रम् ।
तस्य च मांसनिवृत्तिर्विफला खलु भवति पुरुषस्य ॥१०२॥
विल्वालाबुफले त्रिभुवनविजयी शिलीद्रकं (?) न सेवेत ।
आपंचदशातिथिभ्यः पयोऽपि वत्सोद्भवात्समारभ्य ॥१०३॥
गालितं शुद्धमप्यम्बु संमूर्छति मुहूर्ततः ।
अहोरात्रं तदुष्णं स्यात्कांजिकं दूरवह्निकं ॥१०४॥
दृतिप्रायेषु पात्रेषु तोयं स्नेहं तु नाश्रयेत् ।
नवनीतं न धर्तव्यमूर्ध्वं तु प्रहरार्धतः ॥१०५॥

'चतुराहारविसर्जन' नामके १०६ वें पद्यके बाद—

स प्रोषधोपवासस्तूत्तममध्यमजघन्यतस्त्रिविधः ।
चतुराहारविसर्जनजलसहिता चाम्लभेदः स्यात् ॥१३०॥

'नवपुण्यैः' नामके पद्य नं० ११३ के बाद—

खंडनी पेषणी चुल्ही उदकुम्भी प्रमार्जिनी।
पंचसूना गृहस्थस्य तेन मोक्षं न गच्छति ॥१३५॥
स्थापनमुच्चैः स्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामश्च।
वाक्कायहृदयशुद्धय एषणशुद्धिश्च नवविधं पुण्यं ॥१३६॥
श्रद्धाशक्तिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता दया क्षान्तिः।
यस्यैते सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति ॥१३७॥

'आहारौषध' नामके पद्य नं० ११७ के बाद—

उक्तं च त्रयम्—भैषज्यदानतो जीवो बलवान् रोगवर्जितः।
सल्लक्षणः सुवर्णांगः तप्त्वा मोक्षं व्रजेदसौ ॥१४२॥

'श्रावकपदादि' नामके पद्य नं० १३६ के बाद—

दर्शनिकव्रतिकावपि सामयिकः प्रोषधोपवासश्च (सी च)।
सचित्तरात्रिभक्तव्रतनिरतौ ब्रह्मचारी च ॥१६२॥
आरंभाद्विनिवृत्तः परिग्रहादनुमतेः ततोद्दिष्टात्।
इत्येकादशनिलया जिनोदिताः श्रावकाः क्रमशः ॥१६३॥

'सम्यग्दर्शनशुद्धः' नामके पद्य नं० १३७ के बाद—

मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट्।
अष्टौ शंकादयश्चेति दृग्दोषाः पंचविंशतिः ॥१६५॥
द्यूतं च मासं च सुरा च वेश्या पापर्द्धिचौर्यपरदारसेवाः।
एतानि सप्तव्यसनानि लोके पापाधिके पुंसि करा भवंति॥१६६
अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षन्यग्रोधादिफलान्यपि।
त्यजेन्मधुविशुद्धयाऽसौ दर्शनिक इति स्मृतः ॥१६७॥

'मूलफल' नामके पद्य नं० १४१ के बाद—

येन सचित्तं त्यक्तं दुर्जयजिह्वा विनिर्जिता तेन।
जीवदया तेन कृता जिनवचनं पालितं तेन ॥१७२॥

'अन्नं पानं' नामके पद्य नं० १४२ के बाद—

योो निशि भुक्तं मुंचति तेनानशनं कृतं च षण्मासं ।
संवत्सरस्य मध्ये निर्दिष्टं मुनिवरेणेति ॥ १७४ ॥

'मलबीजं' नामके पद्य नं० १४३ के बाद—

यो न च याति विकारं युवतिजनकटाक्षबाणविद्धोपि ।
सत्वेन (व) शूरशूरो रणशूरो नो भवेच्छूरः ॥१७६॥

'बाह्येषु दशसु' नामके पद्य नं० १४५ के बाद—

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदं ।
यानं शय्यासनं कुप्यं भांड चेति बहिर्दश ॥ १७६ ॥
मिथ्यात्ववेदहास्यादिषट्कषायचतुष्टयं ।
रागद्वेषाश्च संगा स्युरंतरंगचतुर्दशः ॥ १८० ॥
बाह्यग्रंथविहीना दरिद्रमनुजाः स्वपापतः सन्ति ।
पुनरभ्यंतरसंगत्यागी लोकेऽतिदुर्लभो जीवः ॥ १८१ ॥

'गृहतो मुनिवन' नामके पद्य नं० १४७ के बाद—

एकादशके स्थाने चोत्कृष्टश्रावको भवेद्द्विविधः ।
वस्त्रैकधरः प्रथमः कौपीनपरिग्रहोऽन्यस्तु ॥ १८४ ॥
कौपीनोऽसौ रात्रिप्रतिमायोगं करोति नियमेन ।
लोचं पिंछं धृत्वा भुंक्ते ह्युपविश्य पाणिपुटे ॥ १८५ ॥
वीरचर्या च सूर्यप्रतिमा त्रैकालयोगनियमश्च ।
सिद्धान्तरहस्यादिस्वध्ययनं नास्तिदेशविरतानां ॥ १८६ ॥
आद्यास्तु षड्जघन्याः स्युर्मध्यमास्तदनु त्रयं ।
शेषौ द्वावुत्तमावुक्तौ जैनेषु जिनशासने ॥ १८७ ॥

(२) भवनकी दूसरी मूलप्रतिमें, जिसका नम्बर ६३१ है, इन उपर्युक्त चालीस पद्योंमेंसे ४३, ४४, ४५, ६० और ८१ नम्बर-वाले पाँच पद्य तो बिलकुल नहीं हैं; शेष पैंतीस पद्योंमें भी २२, २३, ३७, १३५, १३६, १३७, १६२, १६३, १६५, १६६,

१६७, १८४, १८५, १८६, १८७, नम्बरवाले पंद्रह पद्योंको मूल-ग्रंथका अंग नहीं बनाया गया—उन्हें टिप्पणीके तौरपर इधर उधर हाशियेपर दिया है और उनमेंसे '*खंडनी पेषणी*' आदि तीन पद्योंके साथ 'उक्तं च' तथा '*एकादशके*' आदि चार पद्योंके साथ '*उक्तं च चतुष्टयं*' ये शब्द भी लगे हुए हैं। ४१, १७४ और १७६ नम्बरवाले तीन पद्योंको ग्रंथका अंग बनाकर पीछेसे कोष्टकके भीतर कर दिया है और उसके द्वारा यह सूचित किया गया है कि ये पद्य मूलग्रंथके पद्य नहीं हैं—भूलसे मध्यमें लिखे गये हैं—उन्हें टिप्पणी के तौरपर हाशिये पर लिखना चाहिये था। इस तरहपर अठारह पद्योंको ग्रंथका अंग नहीं बनाया गया है। बाकीके सतरह पद्योंमेंसे, जिन्हें ग्रंथका अंग नहीं बनाया है, ७१ से ७६, १०१ से १०५ और १७२ नम्बर वाले १२ पद्योंको 'उक्तं च' '*उक्तं च पंचकं*' इत्यादि रूपसे दिया है और उसके द्वारा प्रथम मूलप्रतिके आशयसे भिन्न यह सूचित किया गया है कि ये स्वामी समन्तभद्रसे भी पहलेके—दूसरे आचार्योंके—पद्य हैं और उन्हें समन्तभद्रने अपने मूलग्रंथमें उद्धृत किया है। हाँ, पहली प्रतिमें '*भैषज्यदानतो*' नामके जिस पद्य नं० १४२ को 'उक्तं च त्रयं' शब्दोंके साथ दिया है वह पद्य यहाँ उक्त शब्दोंके संसर्गसे रहित पाया जाता है और इसलिये पहली प्रतिमें उक्त शब्दोंके द्वारा जो यह सूचित होता था कि अगले '*श्रीषेण*' तथा '*देवाधिदेव*' नामके वे पद्य भी 'उक्तं च' समझने चाहियें जो डेढ़सौ श्लोक-वाली प्रतियों में पाये जाते हैं वह बात इस प्रतिसे निकल जाती है। एक विशेषता और भी इस प्रतिमें देखी जाती है और वह यह है कि '*अतिवाहना*' नामके ६२वें पद्यके बाद जिन छह श्लोकों-का उल्लेख पहली प्रतिमें पाया जाता है उनका वह उल्लेख इस प्रतिमें उक्त स्थानपर नहीं है। यहाँ पर उन पद्योंमेंसे सिर्फ '*अह्नो-मुखे*' नामके ७२ वें पद्यका ही उल्लेख है—और उसे भी देकर

फिर कोष्टकमें कर दिया है। उन छहों पद्योंको इस प्रतिमें '*मद्यमांस*' नामके ६६ वें पद्यके बाद 'उक्तं च' रूपसे दिया है और उनके बाद '*पंचाणुव्रत*' नामके ६३ वें मूल पद्यको फिरसे उद्धृत किया है।

(३) भवनकी तीसरी ६४१ नम्बरवाली प्रति कनड़ीटीका-सहित है। इसमें पहली मूल प्रतिवाले वे सब चालीस पद्य, जो ऊपर उद्धृत किये गये हैं, अपने अपने पूर्वसूचित स्थान पर और उसी क्रमको लिये हुए, टीकाके अंगरूपसे पाये जाते हैं। सिर्फ़ '*द्यूतं च मांसं*' नामके पद्य नं० १६६ की जगह टीकामें उसी आशय का यह पद्य दिया हुआ है—

द्यूतं मांसं सुरा वेश्या पापर्द्धिः परदारता।
स्तेयेन सह सप्तेति व्यसनानि विदूरयेत्॥

इसके सिवाय इतनी विशेषता और भी है कि पहली मूल प्रतिमें सिर्फ पाँच पद्योंके साथ ही 'उक्तं च,' 'उक्तं च त्रयं' शब्दों-का संयोग था। इस प्रतिमें उन पद्योंके अतिरिक्त दूसरे और भी २१ पद्योंके साथ वैसे शब्दोंका संयोग पाया जाता है—अर्थात् नं० १०१ से १०५ तकके पाँच पद्योंको 'उक्तं च पंचकं,' १३५ ※ से १३७ नम्बर वाले तीन पद्योंको 'उक्तं च,' १६५ से १६७ नम्बर वाले तीन पद्योंको 'उक्तं च त्रयं' १७२, १७४, १७६ नम्बर वाले पद्योंको जुदा-जुदा 'उक्तं च,' १७९ से १८१ नम्बर वाले तीन पद्योंको 'उक्तं च त्रयं' और १८४ से १८७ नंबर वाले चार पद्यों-को 'उक्तं च चतुष्टयं' शब्दोंके साथ उद्धृत किया है। साथ ही, इस टीका तथा दूसरी टीकामें भी '*भैषज्यदानतो*' नामके पद्य के साथ '*श्रीषेण*' और '*देवाधिदेव*' नामके पद्योंको भी 'उक्तं च

※ १३५ और १३६ नम्बरवाले पद्य रत्नकरण्डकी संस्कृतटीकामें भी 'तदुक्तं' आदि रूपसे उद्धृत किये गये हैं।

त्रयं' रूपसे एक साथ उद्धृत किया है। भाऊ बाबाजी लट्ठे द्वारा प्रकाशित रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावनादिसे ऐसा मालूम होता है कि कनड़ी लिपिकी २०० श्लोकों वाली प्रतिमें *'भैषज्य-दानतो'* नामक पद्यके बाद यह पद्य भी दिया हुआ है—

शास्त्रदानफलेनात्मा कलासु सकलास्वापि ।
परिज्ञाता भवेत्पश्चात्केवलज्ञानभाजनं ॥१॥

सम्भव है कि *'श्रीषेण'*नामक मूल पद्यको साथ लेकर ये तीनों पद्य ही 'उक्तं च त्रयं' शब्दोंके वाच्य हों, और 'शास्त्रदान' नामका यह पद्य कनड़ी टीकाकी इन प्रतियोंमें छूट गया हो।

(४) भवनकी चौथी ६२६ नम्बरवाली प्रति भी कनड़ी-टीकासहित है। इसकी हालत प्रायः तीसरी प्रति जैसी है, विशेषता सिर्फ इतनी ही यहाँ उल्लेखयोग्य है कि इसमें १७४ नम्बरवाले पद्यके साथ 'उक्तं च' शब्द नहीं दिये और १७२ नम्बरवाले पद्यके साथ 'उक्तं च' की जगह 'उक्तं च त्रयं' शब्दोंका प्रयोग किया है परन्तु उनके बाद श्लोक वही एक दिया है। इसके सिवाय इस टीकामें ६० नम्बरवाले पद्यको 'उक्तं च', ७१ से ७६ नम्बरवाले छह पद्योंको 'उक्तं च षट्कं' और १६२, १६३ नम्बरवाले दो पद्योंको 'उक्तं च द्वयं' लिखा है। और इन ६ पद्योंका वह उल्लेख तीसरी प्रतिसे इस प्रतिमें अधिक है।

(५) चारों प्रतियोंके इस परिचय से * साफ जाहिर है कि उक्त दोनों मूल प्रतियोंमें परस्पर कितनी विभिन्नता है। एक प्रतिमें जो श्लोक टिप्पणादिके तौर पर दिये हुए हैं, दूसरीमें वे

* यह परिचय उस नोट परसे दिया गया है जो ३१ अक्टूबर सन् १६२० को जैनसिद्धान्तभवन आराका निरीक्षण समाप्त करते हुए मैंने पं० शान्तिराजजीकी सहायतासे तय्यार किया था।

ही श्लोक मूलरूपसे पाये जाते हैं। इसी तरह दोनों टीकाओंमें जिन पद्योंको 'उक्तं च' आदि रूपसे दूसरे ग्रन्थोंसे उद्धृत करके टीकाका एक अंग बनाया गया था उन्हें उक्त मूल प्रतियों अथवा उनसे पहली प्रतियोंके लेखकोंने मूलका ही अंग बना डाला है। यद्यपि, इस परिचयसे किसीको यह बतलानेकी ऐसी कुछ जरूरत नहीं रहती कि पहली मूल प्रतिमें जो ४० पद्य बढ़े हुए हैं और दूसरी मूलप्रतिमें जिन १७ पद्योंको मूलका अंग बनाया गया है वे सब मूलग्रन्थके पद्य नहीं हैं; बल्कि टीका-टिप्पणियोंके ही अंग हैं—विज्ञ पाठक ग्रन्थमें उनकी स्थिति, पूर्वापर पद्योंके साथ उनके सम्बन्ध, टीकाटिप्पणियोंमें उनकी उपलब्धि, ग्रन्थके साहित्यसंदर्भ, ग्रन्थकी प्रतिपादन-शैली, समन्तभद्रके मूल ग्रन्थों-की प्रकृति और दूसरे ग्रन्थोंके पद्यादि-विषयक अपने अनुभव-परसे सहज ही में इस नतीजेको पहुँच सकते हैं कि ये सब दूसरे ग्रन्थोंके पद्य हैं और इन प्रतियों तथा इन्हीं जैसी दूसरी प्रतियोंमें किसी तरह पर प्रक्षिप्त हो गये हैं—फिर भी साधारण पाठकोंके संतोषके लिये, यहाँ पर कुछ पद्योंके सम्बन्धमें, नमूनेके तौरपर, यह प्रकट कर देना अनुचित न होगा कि वे कौनसे ग्रन्थोंके पद्य हैं और इस ग्रन्थमें उनकी क्या स्थिति है। अतः नीचे उसीका यत्किंचित् प्रदर्शन किया जाता है :—

(क) '*सूर्यार्घ्यो ग्रहणस्नानं,*' '*गोपृष्ठान्तनमस्कारः*' नामके ये दो पद्य, यशस्तिलक ग्रन्थके छठे आश्वासके पद्य हैं और उसके चतुर्थकल्पमें पाये जाते हैं। दूसरी मूल प्रतिमें, यद्यपि, इन्हें टिप्पणीके तौर पर नीचे दिया है तो भी पहली मूलप्रतिमें '*आपगासागरस्नानं*' नामके पद्यसे पहले देकर यह सूचित किया है कि ये लोकमूढताके द्योतक पद्य हैं और, इस तरह पर, ग्रन्थकर्ता-ने लोकमूढताके तीन पद्य दिये हैं। परन्तु ऐसा नहीं है। ग्रन्थकार महोदयने शेष दो मूढताओंकी तरह 'लोकमूढता' का भी वर्णन

एक ही पद्यमें किया है। १३ वीं शताब्दीके विद्वान् पं० आशाधर-जीने भी अपने 'अनगारधर्मामृत' की टीकामें स्वामी समन्तभद्र-के नामसे—'स्वामिसूक्तानि' पदके साथ—मूढत्रयके द्योतक उन्हीं तीन पद्योंको उद्धृत किया है जो सटीक ग्रन्थमें पाये जाते हैं। इसके सिवाय, उक्त दोनों पद्य खालिस 'लोकमूढता' के द्योतक हैं भी नहीं। और न उन्हें वैसा सूचित किया गया है। यशस्तिलक-में उनके मध्यवर्ती यह पद्य और दिया है—

नदीनदसमुद्रेषु मज्जनं धर्मचेतसां।
तरुस्तूपाग्रभक्तानां वन्दनं भृगुसंश्रयः॥

और इस तरह पर तीनों पद्योंमें मूढताओंके कथनका कुछ समुच्चय किया गया है—पृथक्-पृथक् स्वरूप किसीका नहीं दिया गया—जैसा कि उनके बादके निम्न पद्यसे प्रकट है—

समयान्तर-पाषण्ड-वेद-लोक-समाश्रयम्।
एवमादिविमूढानां ज्ञेयं मूढमनेकधा॥

इस सब कथनसे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि उक्त दोनों पद्य मूलग्रन्थके नहीं बल्कि यशस्तिलकके हैं।

(ख) 'मूढत्रयं' नामका १६५ नम्बरवाला पद्य भी यशस्ति-लकके छठे आश्वास (कल्प नं० २१) का पद्य है। वह साफ़ तौरसे '*सम्यग्दर्शनशुद्धः*' पदकी टीका-टिप्पणीके लिये उद्धृत किया हुआ ही जान पड़ता है—दूसरी प्रतिकी टिप्पणीमें वह दिया भी है। मूलग्रन्थके संदर्भके साथ उसका कोई मेल नहीं—वह वहाँ निरा अनावश्यक जान पड़ता है। स्वामिसमन्तभद्रने सूत्ररूपसे प्रत्येक प्रतिमाका स्वरूप एक-एक पद्यमें ही दिया है।

इसी तरह पर, '*मांसासिषु*' और '*श्रद्धा शक्ति*' नामके पद्य नं० ८१, १३७ भी यशस्तिलकके ही जान पड़ते हैं। वे क्रमशः उसके ७ वें, ८ वें आश्वासमें ज़रासे पाठभेदके * साथ पाये जाते हैं।

* पहले पद्यमें 'धर्मभावो न जीवेषु' की जगह 'आनृशंस्यं न मर्त्येषु'

मूलग्रन्थके संदर्भके साथ इनका भी मेल नहीं—पहले पद्यमें 'उदुम्बरसेवा' का उल्लेख खास तौरसे खटकता है—ये पद्य भी टीका-टिप्पणीके लिये ही उद्धृत किये हुए जान पड़ते हैं। पहला पद्य दूसरी प्रतिमें है भी नहीं और दूसरा उसकी टिप्पणीमें ही पाया जाता है। इससे भी ये मूलपद्य मालूम नहीं होते।

(ग) '*अह्नोमुखेवसाने*' नामका ७२ नम्बरवाला पद्य हेमचन्द्राचार्यके 'योगशास्त्र' का पद्य है और उसके तीसरे प्रकाशमें नम्बर ६३ पर पाया जाता है। यहाँ मूलग्रन्थकी पद्धति और उसके प्रतिपाद्य विषयके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं।

(घ) '*वधादसत्यात्*' नामका ७१वाँ पद्य चामुण्डरायके 'चारित्रसार' ग्रन्थका पद्य है और वहींसे लिया हुआ जान पड़ता है। इसमें जिन पंचाणुव्रतोंका उल्लेख है उनका वह उल्लेख इससे पहले, मूल ग्रन्थके ५२ वें पद्यमें आ चुका है। स्वामी समन्तभद्रकी प्रतिपादनशैली इस प्रकार व्यर्थकी पुनरुक्तियोंको लिये हुए नहीं होती। इसके सिवाय ५१ वें पद्यमें अणुव्रतोंकी संख्या पाँच दी है और यहाँ इस पद्यमें '*रात्र्यभुक्ति*' को भी छठा अणुव्रत बतलाया है, इससे यह पद्य ग्रन्थके साथ बिल्कुल असम्बद्ध मालूम होता है।

इस तरह पर '*दर्शनिकव्रतकावपि*' '*आरम्भाद्विनिवृत्तः*' और '*आद्यास्तु षट् जघन्याः*' नामके तीनों पद्य भी चारित्रसार ग्रन्थसे लिये हुए मालूम होते हैं और उसमें यथास्थान पाये जाते हैं। दूसरी मूल प्रतिमें भी इन्हें टिप्पणीके तौरपर ही उद्धृत किया है और टीकामें तो 'उक्तं च' रूपसे दिया ही है। मूल ग्रन्थके सन्दर्भके साथ ये अनावश्यक प्रतीत होते हैं।

यह पाठ दिया है। और दूसरे पद्यमें 'शक्तिः' की जगह 'तुष्टिः,' 'दयाक्षान्ति' की जगह 'क्षमाशक्तिः' और 'यस्यैते' की जगह 'यत्रैते' ये पाठ दिये हैं जो बहुत साधारण हैं।

(ङ) *'मौनं भोजनवेलायां'*, *'मांसरक्तार्द्रचर्मास्थि'*, *'स्थूलाः सूक्ष्मास्तथा जीवाः'* नामके ७३, ७५ और १०१ नम्बरवाले ये तीनों पद्य पूज्यपादकृत उस उपासकाचारके पद्य हैं जिसकी जाँच-का लेख मैंने जैनहितैषी भाग १५ के १२ वें अंकमें प्रकाशित कराया था। उसमें ये पद्य क्रमशः नम्बर २६, २८ तथा ११ पर दर्ज हैं। यहाँ ग्रन्थके साहित्य-सन्दर्भादिसे इनका भी कोई मेल नहीं और ये ख़ासे असम्बद्ध मालूम होते हैं।

ऐसी ही हालत दूसरे पद्योंकी है और वे कदापि मूलग्रन्थके अंग नहीं हो सकते। उन्हें भी, उक्त पद्योंकी तरह, किसी समय किसी व्यक्तिने, अपनी याददाश्त आदिके लिये, टीका-टिप्पणीके तौर पर उद्धृत किया है और बादको, उन टीका-टिप्पणवाली प्रतियोंपरसे मूल ग्रन्थकी नकल उतारते समय, लेखकोंकी असा-वधानी और नासमझीसे वे मूलग्रन्थका ही एक बेढंगा अथवा बेडौल अंग बना दिये गये हैं। सच है 'मुर्दा बदस्त ज़िन्दा ख्वाह गाड़ो या कि फूँको।' शास्त्र हमारे कुछ कह नहीं सकते, उन्हें कोई तोड़ो या मरोड़ो, उनकी कलेवरवृद्धि करो अथवा उन्हें तनुक्षीण बनाओ, यह सब लेखकोंके हाथका खेल और उन्हींकी करतूत है। इन बुद्धू अथवा नासमझ लेखकोंकी बदौलत ग्रन्थों-की कितनी मिट्टी ख़राब हुई है उसका अनुमान तक भी नहीं हो सकता। ग्रन्थोंकी इस ख़राबीसे कितनी ही ग़लतफ़हमियाँ फैल चुकी हैं और यथार्थ-वस्तुस्थितिको मालूम करनेमें बड़ी ही दिक्क़तें आ रही हैं। श्रुतसागरसूरिको भी शायद ग्रन्थकी कोई ऐसी ही प्रति उपलब्ध हुई है और उन्होंने उस परसे *'एकादशके'* आदि उन चार पद्योंको स्वामी समन्तभद्र-द्वारा ही निर्मित समझ लिया है जो *'गृहतो मुनिवनमित्वा'* नामके १४७ वें पद्यके बाद उक्त पहली मूल प्रतिमें पाये जाते हैं। यही वजह है कि उन्होंने 'षट्-

प्राभृत' की टीकामें* उनका महाकवि समन्तभद्रके नामके साथ उल्लेख किया है और उनके आदिमें लिखा है *'उक्तं च समन्तभद्रेण महाकविना'*। अन्यथा, वे समन्तभद्रके किसी भी ग्रन्थमें नहीं पाये जाते और न अपने साहित्य परसे ही वे इस बातको सूचित करते हैं कि उनके रचयिता स्वामी समन्तभद्र-जैसे कोई प्रौढ विद्वान् और महाकवि आचार्य हैं। अवश्य ही वे दूसरे किसी ग्रन्थ अथवा ग्रन्थोंके पद्य हैं और इसीसे दूसरी मूल प्रतिके टिप्पणमें और दोनों कनड़ी टीकाओंमें उन्हें *'उक्तं च चतुष्टयं'* शब्दोंके साथ उद्धृत किया है। एक पद्य तो उनमेंसे चारित्रसार ग्रन्थका ऊपर बतलाया भी जा चुका है।

आराके जैनसिद्धान्तभवनकी उक्त प्रतियोंकी जाँचके बाद मुझे और भी अनेक शास्त्रभण्डारोंमें ऐसी अधिक पद्योंवाली प्रतियोंको देखने तथा कुछको जाँचनेका भी अवसर मिला है। जिनमें कारंजाके मूलसंघी चन्द्रनाथ-चैत्यालयकी दो प्रतियाँ यहाँ उल्लेख-योग्य हैं। इनमें एक मूल (नं० ५८७) और दूसरी (नं० ५८६) कनडी-टीका-सहित है। टीकावाली प्रतिमें ४५ पद्य बढ़े हुए हैं, उन पर भी टीका है और वे मूलके अंग रूपमें ही पत्रोंके मध्यमें दिये हुए हैं, जब कि टीकाको ऊपर-नीचे अंकित किया गया है। इन पद्योंकी स्थिति आरा-भवनकी प्रायः चौथी प्रति-जैसी है। दूसरी मूल प्रतिके पद्योंकी संख्या २१६ है अर्थात् उसमें ६६ पद्य बढ़े हुए हैं, जिनमें ४० पद्य तो आराकी पहली मूलप्रति-वाले और २६ पद्य उससे अधिक हैं। यह प्रति शक संवत् १६५१ में चैत्र-शुक्ल-प्रतिपदाको ब्रह्मचारी माणिकसागरके द्वारा १६ पत्रों पर स्वपठनार्थ लिखकर पूर्ण हुई है। इस मूलप्रतिमें आराकी उक्त मूल प्रतिसे जो २६ पद्य बढ़े हुए हैं और जिन्हें

* देखो, सूत्रप्राभृतकी गाथा नम्बर २१ की टीका।

एक प्रकारसे मूलकार स्वामी समन्तभद्रकी कृति तथा उनके द्वारा उद्धृत अन्य कृतियोंके रूपमें सूचित किया गया है, वे सब भी मूलग्रन्थका कोई अंग न होकर दूसरे ग्रन्थोंसे दूसरोंके द्वारा अपनी किसी रुचिकी पूर्तिके लिये उठाकर रक्खे हुए पद्य हैं, जो बादको असावधान प्रतिलेखकोंकी कृपासे ग्रन्थमें प्रक्षिप्त होगये हैं। उनमें से दो-एक पद्य नमूनेके तौर पर यहाँ दिये जाते हैं :—

(१) *मद्य-पल-मधु-निशासन-पंचफली-विरति-पंचकाप्तनुतिः।*
जीवदया जलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः ॥

यह पद्य 'मद्यमांसमधु' नामक ६६वें पद्यके बाद उद्धृत 'मांसाशिषु दया नास्ति' नामक पद्यके अनन्तर दिया है। इसमें दूसरे प्रकारके अष्टमूलगुणोंका मतभेदके रूपमें उल्लेख है और जो ग्रन्थ-सन्दर्भके साथ किसी तरह भी सुसम्बद्ध नहीं है। यह पद्य वास्तव में पं० आशाधरजीके सागारधर्मामृतका पद्य है और वहाँ यथा-स्थान स्थित है। कारंजाकी दूसरी प्रतिमें इसे तथा इससे पूर्ववर्ती 'मांसाशिषु' पद्य दोनोंको 'उक्तं च' रूपसे उद्धृत किया भी है।

(२) *देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।*
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिनेदिने ॥

यह पद्य '*नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः*' नामक ११३ वें पद्यके बाद जो चार पद्य '*खंडनी पेषनी चुल्ली*' इत्यादि 'उक्तं च' रूपसे दिये हैं उनमें दूसरा है, शेष तीन पद्य वे ही हैं जो आरा-भवनकी उक्त प्रतियोंमें पाये जाते हैं, प्रभाचन्द्रकी टीकामें भी उद्धृत हैं और कारंजाकी दूसरी प्रतिमें जिन्हें 'उक्तं च त्रयं' रूपसे दिया है और इसलिये जो मूलग्रन्थके पद्य नहीं हैं। उनके साथका यह चौथा पद्य ग्रन्थ-संदर्भके साथ असंगत होनेसे मूलग्रन्थका पद्य नहीं हो सकता, पद्मनन्दि-श्रावकाचारका जान पड़ता है।

(३) *ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः।*
अन्नदानात्सुखी नित्यं निर्व्याधिर्भेषजाद्भवेत् ॥

यह पद्य '*हरितपिधाननिधाने*' नामक उस पद्य (नं० १२१) के बाद दिया है जो कि वैय्यावृत्त्यके अतिचारोंको लिये हुए है। इसमें ज्ञान, अभय, अन्न और औषध नामके चार दानोंका फल दिया है, जिनका फल '*आहारौषध*' नामके पद्यके अनन्तर 'उक्तं च' रूपसे दिये हुए ३-४ पद्योंमें एक दो बार पहले भी आगया है अतः इसका भी ग्रन्थके साहित्य-संदर्भ तथा उसकी प्रकृति आदिके साथ कोई मेल नहीं है, इसलिये यह वैसे ही साफ़ तौर पर प्रक्षिप्त जान पड़ता है और किसी दूसरे ग्रन्थका पद्य है।

जाँचका साराँश—

इस लम्बी-चौड़ी जाँचका सारांश सिर्फ इतना ही है कि—

(१) ग्रन्थकी दो प्रकारकी प्रतियाँ पाई जाती हैं—एक तो वे जो संस्कृत-टीकावाली प्रतिकी तरह डेढ़सौ श्लोक-संख्याको लिये हुए हैं और दूसरी वे जिन्हें ऊपर 'अधिक पद्योंवाली प्रतियाँ' सूचित किया है। तीसरी प्रकारकी ऐसी कोई उल्लेखयोग्य प्रति अभी तक उपलब्ध नहीं हुई जिसमें पद्योंकी संख्या डेढसौसे कम हो। परन्तु ऐसी प्रतियोंके उपलब्ध होनेकी संभावना बहुत कुछ है। उनकी तलाशका अभी तक कोई यथेष्ट प्रयत्न भी नहीं हुआ, जिसके होनेकी जरूरत है।

(२) ग्रन्थकी डेढ़सौ श्लोकोंवाली इस प्रतिके जिन पद्योंको क्षेपक बतलाया जाता है अथवा जिन पर क्षेपक होनेका सन्देह किया जाता है उनमेंसे '*चतुराहारविसर्जन*' और दृष्टान्तोंवाले पद्योंको छोड़कर शेष पद्योंका क्षेपक होना युक्तियुक्त मालूम नहीं होता और इसलिये उनके विषयका सन्देह प्रायः निराधार जान पड़ता है।

(३) ग्रन्थमें '*चतुराहारविसर्जन*' नामका पद्य और दृष्टान्तोंवाले छहों पद्य, ऐसे सात पद्य, बहुत कुछ संदिग्ध स्थितिमें पाये जाते हैं। उन्हें ग्रन्थका अंग मानने और स्वामी समन्तभद्रके

पद्य स्वीकारनेमें कोई युक्तियुक्त कारण प्रायः मालूम नहीं देता। वे खुशीसे उस कसौटी (कारणकलाप) के दूसरे तीसरे और पाँचवें भागोंमें आ जाते हैं जो क्षेपकोंकी जाँचके लिये इस प्रकरणके शुरूमें दी गई है। परन्तु इन पद्योंके क्षेपक होनेकी हालतमें यह ज़रूर मानना पड़ेगा कि उन्हें ग्रन्थमें प्रक्षिप्त हुए बहुत समय बीत चुका है—वे प्रभाचन्द्रकी टीकासे पहले ही ग्रन्थमें प्रविष्ट हो चुके हैं—और इसलिये ग्रन्थकी ऐसी प्राचीन तथा असंदिग्ध प्रतियोंको खोज निकालनेकी खास ज़रूरत है जो इस टीकासे पहलेकी या कमसे कम विक्रमी १२वीं शताब्दीसे पहले की लिखी हुई हों अथवा जो खास तौरपर प्रकृत विषयपर अच्छा प्रकाश डालनेके लिये समर्थ हो सकें। साथ ही, इस बातकी भी तलाश होनी चाहिये कि १२ वीं शताब्दीसे पहलेके बने हुए कौन-कौनसे ग्रन्थोंमें किस रूपसे ये पद्य पाये जाते हैं और उक्त संस्कृत टीकासे पहलेकी बनी हुई कोई दूसरी टीका भी इस ग्रन्थपर उपलब्ध होती है या नहीं। ऐसा होनेपर ये पद्य तथा दूसरे पद्य भी और ज़्यादा रोशनीमें आ जाएँगे और मामला बहुत कुछ स्पष्ट तथा साफ़ हो जायगा।

(४) अधिक पद्योंवाली प्रतियोंमें जो पद्य अधिक पाये जाते हैं वे सब क्षेपक हैं। उन पर क्षेपकत्वके प्रायः सभी लक्षण चरितार्थ होते हैं और ग्रन्थमें उनकी स्थिति बहुत ही आपत्तिके योग्य पाई जाती है। वे बहुत साफ़ तौर पर दूसरे ग्रन्थोंसे टीका-टिप्पणीके तौरपर उद्धृत किये हुए और बादको लेखकोंकी कृपा-से ग्रन्थका अंग बना दिये गये मालूम होते हैं। ऐसे पद्योंको ग्रन्थका अङ्ग मानना उसे बेढंगा और बेडौल बना देना है। इस प्रकारकी प्रतियाँ पद्योंकी एक संख्याको लिये हुए नहीं हैं और यह बात उनके क्षेपकत्वको और भी ज़्यादा पुष्ट करती है।

आशा है, इस जाँचके लिये जो इतना परिश्रम किया गया है वह व्यर्थ न जायगा। विज्ञ पाठक इसके द्वारा अनेक स्थितियों, परिस्थितियों और घटनाओंका अनुभव कर ज़रूर अच्छा लाभ उठाएँगे और यथार्थ वस्तुस्थितिको समझनेमें बहुत कुछ कृतकार्य होंगे। साथ ही, जिनवाणी माताके भक्तोंसे यह भी आशा की जाती है कि, वे धर्मग्रन्थोंकी ओर अपनी लापर्वाहीको और अधिक दिनों तक जारी न रखकर शीघ्र ही माताकी सच्ची रक्षा, सच्ची ख़बरगीरी और उसके सच्चे उद्धारका कोई ठोस प्रयत्न करेंगे, जिससे प्रत्येक धर्मग्रन्थ अपनी अविकल-स्थितिमें सर्व-साधारणको उपलब्ध हो सके।

ग्रन्थकी संस्कृत-टीका

इस ग्रन्थपर, 'रत्नकरण्डक-विषमपदव्याख्यान' नामके एक संस्कृतटिप्पणको छोड़कर, जो आराके जैनसिद्धान्तभवनमें मौजूद है और जिसपरसे उसके कर्त्ताका कोई नामादिक मालूम नहीं होता, संस्कृतकी * सिर्फ़ एक ही टीका अभी तक उपलब्ध हुई है, जो प्रभाचन्द्राचार्यकी बनाई हुई है। इसी टीकाकी बाबत, पिछले पृष्ठोंमें, मैं बराबर कुछ न कुछ उल्लेख करता आया हूँ

* कनड़ी भाषामें भी इस ग्रन्थपर कुछ टीकाएँ उपलब्ध हैं परन्तु उनके रचयिताओं आदिका कुछ हाल मालूम नहीं हो सका। तामिल भाषाका 'अरुंगलछेप्पु' (रत्नकरण्डक) ग्रन्थ इस ग्रन्थको सामने रख-कर ही बनाया गया मालूम होता है और कुछ अपवादोंको छोड़कर इसी-का ही प्राय: भावानुवाद अथवा सारांश जान पड़ता है। (देखो, अँग्रेजी जैनगजटमें प्रकाशित उसका अंग्रेजी अनुवाद) परन्तु वह कब बना और किसने बनाया इसका कोई पता नहीं चलता—टीका उसे कह नहीं सकते। हिन्दीमें पं० सदासुखजीका भाष्य (स्वतन्त्र व्याख्यान) प्रसिद्ध ही है।

और उस परसे टीकाका कितना ही परिचय मिल जाता है। मेरी इच्छा थी कि इस टीकापर एक विस्तृत आलोचना लिख दी जाती परन्तु समयके अभावसे वह कार्यमें परिणत नहीं हो सकी। यहाँपर टीकाके सम्बन्धमें, सिर्फ इतना ही निवेदन कर देना उचित मालूम होता है कि यह टीका प्रायः साधारण है—ग्रन्थके मर्मको अच्छी तरहसे उद्घाटन करनेके लिये पर्याप्त नहीं है और न इसमें गृहस्थधर्मके तत्त्वोंका कोई अच्छा विवेचन ही पाया जाता है—सामान्य रूपसे ग्रन्थके प्रायः शब्दानुवादको ही लिये हुए है। कहीं-कहीं तो ज़रूरी पदोंके शब्दानुवादको भी छोड़ दिया है; जैसे '*भयाशास्नेह*' नामके पद्यकी टीकामें '*कुदेवागम-लिंगिनां*' पदका कोई अनुवाद अथवा स्पष्टीकरण नहीं दिया गया जिसके देनेकी ख़ास ज़रूरत थी, और कितने ही पदोंमें आए हुए '*आदि*' शब्दकी कोई व्याख्या नहीं की गई, जिससे यह मालूम होता कि वहाँ उससे क्या कुछ अभिप्रेत है। कहीं-कहीं व्रतातिचारादिके कथनमें तत्त्वार्थसूत्रसे संगति बिठलानेकी चेष्टा कीगई है, जो समुचित प्रतीत नहीं होती। इसके सिवाय, टीकामें ये तीन ख़ास विशेषताएँ पाई जाती हैं—

प्रथम तो यह कि, इसमें मूल ग्रन्थको सातकी जगह पाँच परिच्छेदोंमें विभाजित किया है—अर्थात् 'गुणव्रत' और 'प्रतिमा' वाले अधिकारोंको अलग-अलग परिच्छेदोंमें न रखकर उन्हें क्रमशः 'अणुव्रत' और 'सल्लेखना' नामके परिच्छेदोंमें शामिल कर दिया है। मालूम नहीं, यह लेखकोंकी कृपाका फल है अथवा टीकाकारका ही ऐसा विधान है। जहाँ तक मैं समझता हूँ, विषय-विभागकी दृष्टिसे, ग्रन्थके सात परिच्छेद या अध्ययन ही ठीक मालूम होते हैं और वे ही ग्रन्थकी मूल प्रतियोंमें पाये जाते हैं ❀। यदि सात परिच्छेद नहीं रखने थे तो फिर चार होने

❀ देखो 'सनातनजैनग्रन्थमाला' के प्रथम गुच्छकमें प्रकाशित रत्न-

चाहियें थे। गुणव्रतोंके अधिकारको तो *'एवं पंचप्रकारमणुव्रतं प्रतिपाद्येदानीं त्रिःप्रकारं गुणव्रतं प्रतिपादयन्नाह'* इस वाक्यके साथ अणुव्रत-परिच्छेदमें शामिल कर देना परन्तु शिक्षाव्रतोंके कथनको शामिल न करना क्या अर्थ रखता है, यह कुछ समझमें नहीं आता। इसीसे टीकाकी यह विशेषता मुझे आपत्तिके योग्य जान पड़ती है।

दूसरी विशेषता यह कि, इसमें दृष्टान्तोंवाले छहों पद्योंको उदाहृत किया है—अर्थात्, उनकी तेईस कथाएँ दी हैं। ये कथाएँ कितनी साधारण, श्रीहीन, निष्प्राण तथा आपत्तिके योग्य हैं और उनमें क्या कुछ त्रुटियाँ पाई जाती हैं, इस विषयकी कुछ सूचनाएँ पिछले पृष्ठोंमें, *'संदिग्धपद्य'* शीर्षकके नीचे सातवीं आपत्तिका विचार करते हुए, दी जा चुकी हैं। वास्तवमें इन कथाओंकी त्रुटियोंको प्रदर्शित करनेके लिये एक अच्छा खासा निबन्ध लिखा जा सकता है, जिसकी यहाँ पर उपेक्षा की जाती है।

तीसरी विशेषता यह है कि, इस टीकामें श्रावकके ग्यारह पदोंको—प्रतिमाओं, श्रेणियों अथवा गुणस्थानोंको—सल्लेखनानुष्ठाता (समाधिमरण करनेवाले) श्रावकके ग्यारह भेद बतलाया है—अर्थात्, यह प्रतिपादन किया है कि जो श्रावक समाधिमरण करते हैं—सल्लेखनाव्रतका अनुष्ठान करते हैं—उन्हींके ये ग्यारह भेद हैं। यथा—

करण्डश्रावकाचार, जिसे निर्णयसागरप्रेस बम्बईने सन् १९०५ में प्रकाशित किया था। जैनग्रन्थरत्नाकर-कार्यालय बम्बई आदि द्वारा प्रकाशित और भी बहुत संस्करणोंमें तथा पुरानी हस्तलिखित प्रतियोंमें वे ही सात अध्ययन या परिच्छेद पाये जाते हैं।

"साम्प्रतं योऽसौ सल्लेखनानुष्ठाता श्रावकस्तस्य कति प्रतिमा भवन्तीत्याशंक्याह—

श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु ।
स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह सन्तिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः ॥"

इस अवतरणमें '*श्रावकपदानि*' नामका उत्तर अंश तो मूल-ग्रन्थका पद्य है और उससे पहला अंश टीकाकारका वह वाक्य है जिसे उसने उक्त पद्यको देते हुए उसके विषयादिकी सूचना रूपसे दिया है। इस वाक्यमें लिखा है कि 'अब सल्लेखनाका अनुष्ठाता जो श्रावक है उसके कितनी प्रतिमाएँ होती हैं इस बातकी आशंका करके आचार्य कहते हैं।' परन्तु आचार्यमहोदयके उक्त पद्यमें न तो वैसी कोई आशंका उठाई गई है और न यही प्रतिपादन किया गया है कि वे ग्यारह प्रतिमाएँ सल्लेखनानुष्ठाता श्रावकके होती हैं; बल्कि '*श्रावकपदानि*' पदके प्रयोग-द्वारा उसमें सामान्यरूपसे सभी श्रावकोंका ग्रहण किया है—अर्थात् यह बतलाया है कि श्रावकलोग ग्यारह श्रेणियोंमें विभाजित हैं। इसके सिवाय, अगले पद्योंमें, श्रावकोंके उन ग्यारह पदोंका जो अलग-अलग स्वरूप दिया है उसमें सल्लेखनाके लक्षणकी कोई व्याप्ति अथवा अनुवृत्ति भी नहीं पाई जाती—सल्लेखनाका अनुष्ठान न करता हुआ भी एक श्रावक अनेक प्रतिमाओंका पालन कर सकता है और उन पदोंसे विभूषित हो सकता है। इसलिये टीकाकारका उक्त लिखना मूलग्रन्थके आशयके प्रायः विरुद्ध जान पड़ता है। दूसरे प्रधान ग्रन्थोंसे भी उसका कोई समर्थन नहीं होता—प्रतिमाओंका कथन करनेवाले दूसरे किसी भी आचार्य अथवा विद्वानके ग्रन्थोंमें ऐसा विधान नहीं मिलता जिससे यह मालूम होता हो कि ये प्रतिमाएँ सल्लेखनानुष्ठाता श्रावकके ग्यारह भेद हैं। प्रत्युत इसके, ऐसा प्रायः देखनेमें आता है कि इन सभी श्रावकोंको मरणके निकट आने पर सल्लेखनाके सेवनकी प्रेरणा

की गई है, जिसका एक उदाहरण 'चारित्रसार' ग्रन्थका यह वाक्य है—"*उक्तैरुपासकैर्मारणान्तिकी सल्लेखना प्रीत्या सेव्या।*" और यह है भी ठीक, सल्लेखनाका सेवन मरणके संनिकट होनेपर ही किया जाता है और बाकीके धर्मोंका—व्रत-नियमादिकोंका—अनुष्ठान तो प्रायः जीवनभर हुआ करता है। इसलिये ये ग्यारह प्रतिमाएँ केवल सल्लेखनानुष्ठाता श्रावकके भेद नहीं हैं बल्कि श्रावकाचार-विधिके * विभेद हैं—श्रावकधर्मका अनुष्ठान करनेवालोंकी ख़ास श्रेणियाँ हैं—और इनमें प्रायः सभी श्रावकों-का समावेश हो जाता है। मेरी रायमें टीकाकारको '*सल्लेखना-नुष्ठाता*' के स्थान पर '*सद्धर्मानुष्ठाता*' पद देना चाहिये था। ऐसा होने पर मूलग्रन्थके साथ भी टीकाकी संगति ठीक बैठ जाती; क्योंकि मूलमें इससे पहले उस सद्धर्म अथवा समीचीन धर्मके फलका कीर्तन किया गया है जिसके कथनकी आचार्यमहोदयने ग्रन्थके शुरूमें प्रतिज्ञा की थी और पूर्व पद्यमें '*फलति सद्धर्मः*' ये शब्द भी स्पष्टरूपसे दिये हुए हैं—उसी सद्धर्मके अनुष्ठाताको अगले पद्यों-द्वारा ग्यारह श्रेणियोंमें विभाजित किया है। परन्तु जान पड़ता है टीकाकारको ऐसा करना इष्ट नहीं था और शायद यही वजह हो जो उसने सल्लेखना और प्रतिमाओं दोनोंके अधिकारोंको एक ही परिच्छेदमें शामिल किया है। परन्तु कुछ भी हो, यह तीसरी विशेषता भी आपत्तिके योग्य ज़रूर है †।

---

* श्रीअमितगति आचार्यके निम्नवाक्यसे भी ऐसा ही पाया जाता है—

एकादशोक्ता विदितार्थतत्त्वैरुपासकाचारविधेर्विभेदाः।
पवित्रमारोढुमनस्यलभ्यं सोपानमार्गा इव सिद्धिसौधम्॥

—उपासकाचार।

† यहाँ तक यह प्रस्तावना उस प्रस्तावनाका संशोधित, परिवर्तित और परिवर्द्धित रूप है जो माणिकचन्द-ग्रन्थमालामें प्रकाशित रत्नकरण्ड-श्रावकाचार (सटीक)के लिये १७ फर्वरी सन् १९२५ को लिखी गई थी।

समन्तभद्रका संक्षिप्त परिचय

इस ग्रन्थके सुप्रसिद्ध कर्ता स्वामी समन्तभद्र हैं, जिनका आसन जैनसमाजके प्रतिभाशाली आचार्यों, समर्थ विद्वानों तथा लेखकों और सुपूज्य महात्माओंमें बहुत ऊँचा है। आप जैनधर्मके मर्मज्ञ थे, वीरशासनके रहस्यको हृदयङ्गम किये हुए थे, जैनधर्मकी साक्षात् जीती-जागती मूर्ति थे और वीरशासनका अद्वितीय प्रतिनिधित्व करते थे; इतना ही नहीं बल्कि आपने अपने समयके सारे दर्शनशास्त्रोंका गहरा अध्ययनकर उनका तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया था और इसीसे आप सब दर्शनों, धर्मों अथवा मतोंका सन्तुलनपूर्वक परीक्षण कर यथार्थ वस्तुस्थितिरूप सत्यको ग्रहण करनेमें समर्थ हुए थे और उस असत्यका निर्मूलन करनेमें भी प्रवृत्त हुए थे जो सर्वथा एकान्तवादके सूत्रसे संचालित होता था। इसीसे महान् आचार्य श्रीविद्यानन्दस्वामीने युक्त्यनुशासन-टीकाके अन्तमें आपको *'परीक्षेक्षण'*—परीक्षा-नेत्रसे सबको देखनेवाले—लिखा है और अष्टसहस्रीमें आपके वचन-माहात्म्यका बहुत कुछ गौरव ख्यापित करते हुए एक स्थान पर यह भी लिखा है कि—'स्वामी समन्तभद्रका वह निर्दोष प्रवचन जयवन्त हो—अपने प्रभावसे लोकहृदयोंको प्रभावित करे—जो नित्यादि एकान्तगर्तोंमें—वस्तु कूटस्थवत् सर्वथा नित्य ही है अथवा क्षण-क्षणमें निरन्वय-विनाशरूप सर्वथा क्षणिक (अनित्य) ही है, इस प्रकारकी मान्यतारूप एकान्त-खड्डोंमें—पड़नेके लिये विवश हुए प्राणियोंको अनर्थसमूहसे निकालकर मंगलमय उच्च पद प्राप्त करानेके लिए समर्थ है, स्याद्वादन्यायके मार्गको प्रख्यात करनेवाला है, सत्यार्थ है, अलंघ्य है, परीक्षापूर्वक प्रवृत्त हुआ है अथवा प्रेक्षावान्—समीक्ष्यकारी—आचार्यमहोदयके द्वारा जिस-

की प्रवृत्ति हुई है और जिसने सम्पूर्ण मिथ्याप्रवादको विघटित अथवा तितर बितर कर दिया है।' यथा—

नित्याद्येकान्तगर्तप्रपतनविवशान्प्राणिनोऽनर्थसार्थाद्-
उद्धर्तुं नेतुमुच्चैः पदममलमलं मंगलानामलंघ्यम् ।
स्याद्वाद-न्यायवर्त्म प्रथयदवितथार्थं वचः स्वामिनोऽदः
प्रेक्षावत्त्वात्प्रवृत्तं जयतु विघटिताऽशेषमिथ्याप्रवादम् ॥

और दूसरे स्थान पर यह बतलाया है कि—'जिन्होंने परीक्षावानोंके लिये कुनीति और कुप्रवृत्तिरूप-नदियोंको सुखा दिया है, जिनके वचन निर्दोषनीति—स्याद्वादन्यायको लिये हुए होनेके कारण मनोहर हैं तथा तत्त्वार्थसमूहके संद्योतक हैं वे योगियोंके नायक, स्याद्वादमार्गके अग्रणी नेता, शक्ति-सामर्थ्यसे सम्पन्न-विभु और सूर्यके समान देदीप्यमान—तेजस्वी श्रीस्वामी समन्तभद्र कलुषित-आशय-रहित प्राणियोंको—सज्जनों अथवा सुधीजनों-को—विद्या और आनन्द-घनके प्रदान करनेवाले होवें—उनके प्रसादसे (प्रसन्नतापूर्वक उन्हें चित्तमें धारण करनेसे) सबोंके हृदयमें शुद्ध ज्ञान और आनन्दकी वर्षा होवे।'

जैसा कि निम्न पद्यसे प्रकट है—

येनाशेष-कुनीति-वृत्ति-सरितः प्रेक्षावतां शोषिताः
यद्वाचोऽप्यकलंकनीति-रुचिरास्तत्त्वार्थ-सार्थद्युतः ।
स श्रीस्वामिसमन्तभद्र-यतिभृद्भूयाद्विभुर्भानुमान्
विद्याऽऽनन्द-घनप्रदोऽनघधियां स्याद्वादमार्गाग्रणीः ॥

साथ ही, तीसरे स्थान पर एक पद्य-द्वारा यह प्रकट किया है कि—'जिनके नय-प्रमाण-मूलक अलंघ्य उपदेशों—प्रवचनको सुनकर—महा उद्धतमति वे एकान्तवादी भी प्रायः शान्तताको

प्राप्त हो जाते हैं जो कारणसे कार्यादिकका सर्वथा भेद ही नियत मानते हैं अथवा यह स्वीकार करते हैं कि कारण-कार्यादिक सर्वथा अभिन्न ही हैं—एक ही हैं—वे निर्मल तथा विशालकीर्ति-से युक्त अतिप्रसिद्ध योगिराज स्वामी समन्तभद्र सदा जयवन्त रहें—अपने प्रवचनप्रभावसे बराबर लोकहृदयोंको प्रभावित करते रहें।' वह पद्य इस प्रकार है—

कार्यादेर्भेद एव स्फुटमिह नियतः सर्वथाकारणादे-
रित्याद्येकान्तवादोद्धततर-मतयः शान्ततामाश्रयन्ति ।
प्रायो यस्योपदेशादविघटितनयान्मानमूलादलंघ्यात्
स्वामी जीयात्स शश्वत्प्रथिततरयतीशोऽकलङ्कोरुकीर्तिः ॥

इसी तरह विक्रमकी ७वीं शताब्दीके सातिशय विद्वान् श्री-अकलंकदेव जैसे महर्द्धिक आचार्यने अपनी अष्टशती (देवागम-विवृत्ति) में समन्तभद्रको '*भव्यैकलोकनयन*'—भव्य जीवोंके हृदयान्धकारको दूर करके अन्तःप्रकाश करने तथा सन्मार्ग दिख-लाने वाला अद्वितीय सूर्य—और 'स्याद्वादमार्गका पालक (संर-क्षक)' बतलाते हुए, यह भी लिखा है कि—'उन्होंने सम्पूर्ण पदार्थ-तत्त्वोंको अपना विषय करनेवाले स्याद्वादरूपी पुण्योदधि-तीर्थको, इस कलिकालमें, भव्यजीवोंके आन्तरिक मलको दूर करनेके लिये प्रभावित किया है—उसके प्रभावको सर्वत्र व्याप्त किया है—और ऐसा लिखकर उन्हें बारंबार नमस्कार किया है'—

तीर्थं सर्वपदार्थ-तत्त्व-विषय-स्याद्वाद-पुण्योदधे-
भव्यानामकलङ्क-भावकृतये प्राभावि काले कलौ ।
येनाचार्यसमन्तभद्र-यतिना तस्मै नमः सन्ततम्
कृत्वा विव्रियते स्तवो भगवतां देवागमस्तत्कृतिः ॥

स्वामी समन्तभद्र यद्यपि बहुतसे उत्तमोत्तम गुणोंके स्वामी थे फिर भी कवित्व, गमकत्व, वादित्व और वाग्मित्व नामके चार गुण आपमें असाधारण कोटिकी योग्यताको लिये हुए थे—ये चारों शक्तियाँ उनमें खास तौरसे विकासको प्राप्त हुई थीं—और इनके कारण उनका निर्मल यश दूर-दूर तक चारों ओर फैल गया था। उस समय जितने 'कवि' थे—नये नये सन्दर्भ अथवा नई नई मौलिक रचनाएँ तय्यार करनेवाले समर्थ विद्वान् थे, 'गमक' थे—दूसरे विद्वनोंकी कृतियोंके मर्म एवं रहस्यको समझने तथा दूसरोंको समझानेमें प्रवीणबुद्धि थे, विजयकी ओर वचन-प्रवृत्ति रखनेवाले 'वादी' थे, और अपनी वाक्पटुता तथा शब्दचातुरीसे दूसरोंको रंजायमान करने अथवा अपना प्रेमी बना लेनेमें निपुण ऐसे 'वाग्मी' थे, उन सबपर समन्तभद्रके यशकी छाया पड़ी हुई थी, वह चूड़ामणिके समान सर्वोपरि था और वादको भी बड़े-बड़े विद्वानों तथा महान् आचार्योंके द्वारा शिरोधार्य किया गया है। जैसा कि विक्रमकी ९वीं शताब्दीके विद्वान भगवज्जिनसेनाचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

> **कवीनां गमकानां च वादीनां वाग्मिनामपि ।**
> **यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते ॥**
>
> —आदिपुराण

स्वामी समन्तभद्रके इन चारों गुणोंकी लोकमें कितनी धाक थी विद्वानोंके हृदय पर इनका कितना सिक्का जमा हुआ था और वे वास्तवमें कितने अधिक महत्वको लिये हुए थे, इन सब बातोंका कुछ अनुभव करानेके लिये कितने ही प्रमाण-वाक्योंको 'स्वामी समन्तभद्र' नामके उस ऐतिहासिक निबन्धमें संकलित किया गया है जो माणिकचन्द्रग्रन्थमालामें प्रकाशित हुए रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी विस्तृत प्रस्तावनाके अनन्तर २५२ पृष्ठोंपर

जुदा ही अङ्कित है और अलगसे भी विषयसूची तथा अनुक्रमणिकाके साथ प्रकाशित हुआ है। यहाँ संक्षेपमें कुछ थोड़ासा ही सार दिया जाता है और वह इस प्रकार है:—

(१) भगवज्जिनसेनने, आदिपुराण में, समन्तभद्रको 'महान् कविवेधा'—कवियोंको उत्पन्न करनेवाला महान् विधाता (ब्रह्मा)—लिखा है और साथ ही यह प्रकट किया है कि 'उनके वचनरूपी वज्रपातसे कुमतरूपी पर्वत खण्ड-खण्ड हो गए थे'—

नमः समन्तभद्राय महते कविवेधसे ।
यद्वचो वज्रपातेन निर्भिन्नाः कुमताद्रयः ॥

(२) वादिराजसूरिने, यशोधर चरितमें, समन्तभद्रको 'काव्यमाणिक्योंका रोहण' (पर्वत) लिखा है और यह भावना की है कि वे हमें सूक्तिरत्नोंके प्रदान करनेवाले होवें।'—

श्रीमत्समन्तभद्राद्याः काव्य-मणिक्यरोहणाः ।
सन्तु नः संततोत्कृष्टाः सूक्तिरत्नोत्करप्रदाः ॥

(३) वादीभसिंहसूरिने, गद्यचिन्तामणिमें, समन्तभद्रमुनीश्वरका जयघोष करते हुए उन्हें 'सरस्वतीकी स्वच्छन्द-विहारभूमि' बतलाया है और लिखा है कि 'उनके वचनरूपी वज्रके निपातसे प्रतिपक्षी सिद्धान्त-रूप पर्वतोंकी चोटियाँ खण्ड-खण्ड हो गई थीं—अर्थात् समन्तभद्रके आगे प्रतिपक्षी सिद्धान्तोंका प्रायः कुछ भी मूल्य या गौरव नहीं रहा था और न उनके प्रतिपादक प्रतिवादीजन ऊँचा मुँह करके ही सामने खड़े हो सकते थे।'—

सरस्वती-स्वैर-विहारभूमयः समन्तभद्रप्रमुखा मुनीश्वराः ।
जयन्ति वाग्वज्र-निपात-पाटित-प्रतीपराद्धान्त-महीध्रकोटयः ॥

(४) वर्द्धमानसूरिने, वराङ्ग चरितमें, समन्तभद्रको 'महाकवीश्वर', 'कुवादिविद्या-जय-लब्ध-कीर्ति' और 'सुतर्कशास्त्रामृत-

सारसागर' लिखा है और यह प्रार्थना की है कि 'वे मुझ कवित्व-कांक्षीपर प्रसन्न होवें—उनकी विद्या मेरे अन्तःकरणमें स्फुरायमान होकर मुझे सफल-मनोरथ करे।'—

समन्तभद्रादि-महाकवीश्वराः कुवादि-विद्या-जय-लब्ध-कीर्तयः।
सुतर्क-शास्त्रामृतसार-सागरा मयि प्रसीदन्तु कवित्वकांक्षिणि ॥

(५) श्री शुभचन्द्राचार्यने, ज्ञानार्णवमें, यह प्रकट किया है कि 'समन्तभद्र-जैसे कवीन्द्र-सूर्योंकी जहाँ निर्मलसूक्तिरूप किरणें स्फुरायमान हो रही हैं वहां वे लोग खद्योत—जुगनूँकी तरह हँसीके ही पात्र होते हैं जो थोड़ेसे ज्ञानको पाकर उद्धत हैं—कविता (नूतन संदर्भकी रचना) करके गर्व करने लगते हैं।'—

समन्तभद्रादिकवीन्द्रभास्वतां स्फुरन्ति यत्राऽमलसूक्तिरश्मयः।
व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जनाः ॥

(६) भट्टारक सकलकीर्तिने, पार्श्वनाथचरित्रमें, लिखा है कि 'जिनकी वाणी (ग्रन्थादिरूप भारती) संसारमें सब ओरसे मंगलमय है और सारी जनताका उपकार करनेवाली है उन कवियोंके ईश्वर समन्तभद्रको सादर वन्दन (नमस्कार) करता हूँ।'—

समन्ताद्भुवने भद्रं विश्वलोकोपकारिणी।
यद्वाणी तं प्रवन्दे समन्तभद्रं कवीश्वरम् ॥

(७) ब्रह्मअजितने, हनुमच्चरितमें, समन्तभद्रको 'दुर्वादियोंकी वादरूपी खाज—खुजलीको मिटानेके लिये अद्वितीय महौषधि' बतलाया है।—

जीयात्समन्तभद्रोऽसौ भव्य-कैरव-चन्द्रमाः।
दुर्वादि-वाद-कण्डूनां शमनैकमहौषधिः ॥

(८) कवि दामोदरने, चन्द्रप्रभचरितमें, लिखा है कि 'जिनकी भारतीके प्रतापसे—ज्ञानभण्डाररूप मौलिक कृतियोंके अभ्याससे—समस्त कविसमूह सम्यग्ज्ञानका पारगामी हो गया उन कविनायक—नई नई मौलिक रचनाएँ करने वालोंके शिरोमणि—योगी समन्तभद्रकी मैं स्तुति करता हूँ।'—

यद्भारत्याः कविः सर्वोऽभवत्संज्ञानपारगः ।
तं कवि-नायकं स्तौमि समन्तभद्र-योगिनम् ॥

(९) वसुनन्दी आचार्यने, स्तुतिविद्याकी टीकामें, समन्तभद्रको 'सद्बोधरूप'—सम्यग्ज्ञानकी-मूर्ति—और 'वरगुणालय'—उत्तम-गुणोंका आवास—बतलाते हुए यह लिखा है कि 'उनके निर्मल-यशकी कान्तिसे ये तीनों लोक अथवा भारतके उत्तर, दक्षिण और मध्य ये तीनों प्रदेश कान्तिमान थे—उनका यशस्तेज सर्वत्र फैला हुआ था।'—

समन्तभद्रं सद्बोधं स्तुवे वर-गुणालयम् ।
निर्मलं यद्यशष्कान्तं बभूव भुवनत्रयम् ॥

(१०) विजयवर्णीने, शृङ्गारचन्द्रिकामें, समन्तभद्रको 'महा-कवीश्वर' बतलाते हुए लिखा है कि 'उनके द्वारा रचे गये प्रबन्ध-समूहरूप सरोवरमें, जो रसरूप जल तथा अलङ्काररूप कमलोंसे सुशोभित है और जहाँ भावरूप हँस विचरते हैं, सरस्वती-क्रीडा किया करती है।'—सरस्वती देवीके क्रीडास्थल (उपाश्रय) होनेसे समन्तभद्रके सभी प्रबन्ध (ग्रन्थ) निर्दोष, पवित्र एवं महती शोभासे सम्पन्न हैं।'—

समन्तभद्रादिमहाकवीश्वरैः कृतप्रबन्धोज्वल-सत्सरोवरे ।
लसद्रसालङ्कृति-नीर-पङ्कजे सरस्वती क्रीडति भाव-बन्धुरे ॥

(११) अजितसेनाचार्यने, अलङ्कारचिन्तामणिमें, कई पुरातन पद्य ऐसे संकलित किये हैं जिनसे समन्तभद्रके वाद-माहात्म्यका कितना ही पता चलता है। एक पद्यसे मालूम होता है कि 'समन्तभद्र कालमें कुवादीजन प्रायः अपनी स्त्रियोंके सामने तो कठोर भाषण किया करते थे—उन्हें अपनी गर्वोक्तियाँ अथवा बहादुरीके गीत सुनाते थे—परन्तु जब योगी समन्तभद्रके सामने आते थे तो मधुरभाषी बन जाते थे और उन्हें 'पाहि पाहि'—रक्षा करो रक्षा करो अथवा आप ही हमारे रक्षक हैं—ऐसे सुन्दर मृदुल वचन ही कहते बनता था।' और यह सब समन्तभद्रके असाधारण-व्यक्तित्वका प्रभाव था। वह पद्य इस प्रकार है—

कुवादिनः स्वकान्तानां निकटे परुषोक्तयः।
समन्तभद्र-यत्यग्रे पाहि पाहीति सूक्तयः॥

दूसरे पद्यसे यह जाना जाता है कि 'जब महावादी श्रीसमन्तभद्र (सभास्थान आदिमें) आते थे तो कुवादीजन नीचामुख करके अँगूठोंसे पृथ्वी कुरेदने लगते थे अर्थात् उन लोगों पर—प्रतिवादियोंपर—समन्तभद्रका इतना प्रभाव पड़ता था कि वे उन्हें देखते ही विषण्णवदन हो जाते और किंकर्तव्यविमूढ बन जाते थे।' वह पद्य इस प्रकार है—

श्रीमत्समन्तभद्राख्ये महावादिनि चागते।
कुवादिनोऽलिखन्भूमिमंगुष्ठैरानताननाः॥

और एक तीसरे पद्यमें यह बतलाया गया है कि—'वादी समन्तभद्रकी उपस्थितिमें, चतुराईके साथ स्पष्ट शीघ्र और बहुत बोलनेवाले धूर्जटिकी—तन्नामक महाप्रतिवादी विद्वान्की—जिह्वा ही जब शीघ्र अपने बिलमें घुस जाती है—उसे कुछ बोल नहीं आता—तो फिर दूसरे विद्वानोंकी तो कथा (बात) ही क्या

है ? उनका अस्तित्व तो समन्तभद्रके सामने कुछ भी महत्त्व नहीं रखता ।' वह पद्य, जो कविहस्तिमल्लके 'विक्रान्तकौरव' नाटकमें भी पाया जाता है, इस प्रकार है—

अवटु-तटमटति झटिति स्फुट-पटु-वाचाट-धूर्जटेर्जिह्वा ।
वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति का कथाऽन्येषाम् ॥

यह पद्य शकसंवत् १०५० में उत्कीर्ण हुए श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० ५४ (६७) में भी थोड़ेसे पाठ-भेदके साथ उपलब्ध होता है । वहाँ 'धूर्जटेर्जिह्वा' के स्थानपर '*धूर्जटेरपि जिह्वा*' और '*सति का कथाऽन्येषां*' की जगह '*तव सदसि भूप ! कास्थाऽन्येषां*' पाठ दिया गया है, और इसे समन्तभद्रके वादारम्भ-समारम्भ-समयकी उक्तियोंमें शामिल किया है । पद्यके उस रूपमें धूर्जटिके निरुत्तर होनेपर अथवा धूर्जटिकी गुरुतर पराजयका उल्लेख करके राजासे पूछा गया है कि 'धूर्जटि-जैसे विद्वानकी ऐसी हालत होनेपर अब आपकी सभाके दूसरे विद्वानोंकी क्या आस्था है ?—क्या उनमेंसे कोई वाद करनेकी हिम्मत रखता है ?'

(१२) श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० १०५ में समन्तभद्रका जयघोष करते हुए उनके सूक्तिसमूहको—सुन्दर प्रौढ युक्तियोंको लिये हुए प्रवचनको—वादीरूपी हाथियोंको वशमें करनेके लिये 'वज्रांकुश' बतलाया है और साथ ही यह लिखा है कि 'उनके प्रभावसे यह सम्पूर्ण पृथ्वी एक बार दुर्वादुकोंकी वार्तासे भी विहीन होगई थी—उनकी कोई बात भी नहीं करता था ।'—

समन्तभद्रस्स चिराय जीयाद्वादीभ-वज्रांकुश-सूक्तिजालः ।
यस्य प्रभावात्सकलावनीयं वंध्यास दुर्वादुक-वार्त्तयाऽपि ॥

(१३) श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० १०८ में भद्रमूर्ति-समन्तभद्रको जिनशासनका 'प्रणेता' (प्रधान नेता) बतलाते हुए यह भी प्रकट किया है कि 'उनके वचनरूपी वज्रके कठोरपातसे

प्रतिवादीरूप पर्वत चूर चूर हो गये थे—कोई भी प्रतिवादी उनके सामने नहीं ठहरता था।'—

समन्तभद्रोऽजनि भद्रमूर्तिस्ततः प्रणेता जिनशासनस्य।
यदीय-वाग्वज्र-कठोरपातश्चूर्णीचकार प्रतिवादि-शैलान्॥

(१४) तिरुमकूडलुनरसीपुरके शिलालेख नं० १०५ में समन्तभद्रके एक वादका उल्लेख करते हुए लिखा है कि 'जिन्होंने वाराणसी (बनारस) के राजाके सामने विद्वेषियोंको—अनेकान्तशासनसे द्वेष रखनेवाले सर्वथा एकान्तवादियोंको—पराजित कर दिया था, वे समन्तभद्र मुनीश्वर किसके स्तुतिपात्र नहीं हैं?—सभीके द्वारा भले प्रकार स्तुति किये जानेके योग्य हैं।'—

समन्तभद्रस्संस्तुत्यः कस्य न स्यान्मुनीश्वरः।
वाराणसीश्वरस्याग्रे निर्जिता येन विद्विषः॥

(१५) समन्तभद्रके गमकत्व और वाग्मित्व-जैसे गुणोंका विशेष परिचय उनके देवागमादि ग्रन्थोंका अवलोकन करनेसे भले प्रकार अनुभवमें लाया जा सकता है तथा उन उल्लेख-वाक्योंपरसे भी कुछ जाना जा सकता है जो समन्तभद्र-वाणीका कीर्तन अथवा उसका महत्त्व ख्यापन करनेके लिये लिखे गये हैं। ऐसे उल्लेखवाक्य अष्टसहस्री आदि ग्रन्थोंमें बहुत पाये जाते हैं। कवि नागराजका 'समन्तभद्रभारती-स्तोत्र' तो इसी विषयको लिए हुए एक भावपूर्ण सुन्दर सरस रचना है और वह 'सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ' में वीरसेवामन्दिरसे हिन्दी अनुवादके साथ प्रकाशित हो चुका है। यहाँ दो तीन उल्लेखोंको और सूचन किया जाता है, जिससे समन्तभद्रकी गमकत्वादि-शक्तियों और उनके वचन-माहात्म्यका और भी कुछ पता चल सके:—

(क) श्रीवादिराजसूरिने, न्यायविनिश्चयालङ्कारमें, लिखा है कि 'सर्वत्र फैले हुए दुर्नयरूपी प्रबल अन्धकारके कारण जिसका

तत्त्व लोकमें दुर्बोध हो रहा है—ठीक समझमें नहीं आता—वह हितकारी वस्तु—प्रयोजनभूत जीवादि-पदार्थमाला—श्रीसमन्तभद्रके वचनरूप देदीप्यमान रत्नदीपकोंके द्वारा हमें सब ओरसे चिरकाल तक स्पष्ट प्रतिभासित होवे—अर्थात् स्वामी समन्तभद्रका प्रवचन उस महाजाज्वल्यमान रत्नसमूहके समान है जिसका प्रकाश अप्रतिहत होता है और जो संसारमें फैले हुए निरपेक्ष-नयरूपी महामिथ्यान्धकारको दूर करके वस्तुतत्त्वको स्पष्ट करनेमें समर्थ है, उसे प्राप्त करके हम अपना अज्ञान दूर करें।'

> विस्तीर्ण-दुर्नयमय-प्रबलान्धकार-
> दुर्बोधतत्त्वमिह वस्तु हितावबद्धम्।
> व्यक्तीकृतं भवतु नस्सुचिरं समन्तात्
> सामन्तभद्र-वचन-स्फुट-रत्नदीपैः॥

(ख) श्रीवीरनन्दी आचार्यने, चन्द्रप्रभचरित्रमें, लिखा है कि 'गुणोंसे—सूतके धागोंसे—गूँथी हुई निर्मल गोल मोतियोंसे युक्त और उत्तम पुरुषोंके कण्ठका विभूषण बनी हुई हारयष्टिका—श्रेष्ठ मोतियोंकी मालाको—प्राप्त कर लेना उतना कठिन नहीं है जितना कठिन कि समन्तभद्रकी भारती (वाणी) को पा लेना—उसे खूब समझकर हृदयङ्गम कर लेना है, जो कि सद्गुणोंको लिये हुए है, निर्मल वृत्त (वृत्तान्त, चरित्र, आचार, विधान तथा छन्द) रूपी मुक्ताफलोंसे युक्त हैं और बड़े-बड़े आचार्यों तथा विद्वानोंने जिसे अपने कण्ठका आभूषण बनाया है—वे नित्य ही उसका उच्चारण तथा पाठ करनेमें अपना गौरव मानते और अहोभाग्य समझते रहे हैं। अर्थात् समन्तभद्रकी वाणी परम दुर्लभ है—उनके सातिशय वचनोंका लाभ बड़े ही भाग्य तथा परिश्रमसे होता है।'

गुणान्विता निर्मलवृत्तमौक्तिका नरोत्तमैः कण्ठविभूषणीकृता।
न हारयष्टिः परमेव दुर्लभा समन्तभद्रादिभवा च भारती॥

(ग) श्रीनरेन्द्रसेनाचार्य, सिद्धान्तसारसंग्रहमें, यह प्रकट करते हैं कि 'श्रीसमन्तभद्रदेवका निर्दोष प्रवचन प्राणियोंके लिये ऐसा ही दुर्लभ है जैसा कि मनुष्यत्वका पाना—अर्थात् अनादिकालसे संसारमें परिभ्रमण करते हुए प्राणियोंको जिस प्रकार मनुष्यभव-का मिलना दुर्लभ होता है, उसी प्रकार समन्तभद्रके प्रवचनका लाभ होना भी दुर्लभ है, जिन्हें उसकी प्राप्ति होती है वे निःसन्देह सौभाग्यशाली हैं।'—

श्रीमत्समन्तभद्रस्य देवस्यापि वचोऽनघम्।
प्राणिनां दुर्लभं यद्वन्मानुषत्वं तथा पुनः॥

ऊपरके इन सब उल्लेखोंपरसे समन्तभद्रकी कवित्वादि शक्तियोंके साथ उनकी वादशक्तिका जो परिचय प्राप्त होता है उससे सहज ही यह समझमें आ जाता है कि वह कितनी असाधारण कोटिकी तथा अप्रतिहत-वीर्य थी और दूसरे विद्वानोंपर उसका कितना अधिक सिक्का तथा प्रभाव था, जो अभी तक भी अक्षुण्णरूपसे चला जाता है—जो भी निष्पक्ष विद्वान आपके वादों तथा तर्कोंसे परिचित होता है वह उनके सामने नत-मस्तक हो जाता है।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि समन्तभद्रका वाद-क्षेत्र संकुचित नहीं था। उन्होंने उसी देशमें अपने वादकी विजयदुन्दुभि नहीं बजाई जिसमें वे उत्पन्न हुए थे, बल्कि उनकी वाद-प्रीति, लोगोंके अज्ञानभावको दूर करके उन्हें सन्मार्गकी ओर लगानेकी शुभभावना और जैनसिद्धान्तोंके

महत्वको विद्वानोंके हृदय-पटलपर अंकित कर देनेकी सुरुचि इतनी बढ़ी हुई थी कि उन्होंने सारे भारतवर्षको अपने वादका लीला-स्थल बनाया था। वे कभी इस बातकी प्रतीक्षामें नहीं रहते थे कि कोई दूसरा उन्हें वादके लिए निमंत्रण दे और न उनकी मन:परिणति उन्हें इस बातमें सन्तोष करनेकी ही इजाजत देती थी कि जो लोग अज्ञानभावसे मिथ्यात्वरूपी गर्तों (खड्डों) में गिरकर अपना आत्मपतन कर रहे हैं उन्हें वैसा करने दिया जाय। और इसलिये उन्हें जहाँ कहीं किसी महावादी अथवा किसी बड़ी वादशालाका पता चलता था तो वे वहीं पहुँच जाते थे और अपने वादका डंका * बजाकर विद्वानोंको स्वत: वादके लिये आह्वान करते थे। डंकेको सुनकर वादीजन, यथा नियम, जनताके साथ वादस्थानपर एकत्र हो जाते थे और तब समन्तभद्र उनके सामने अपने सिद्धान्तोंका बड़ी ही खूबीके साथ विवेचन करते थे और साथ ही इस बातकी घोषणा कर देते थे कि उन सिद्धान्तोंमेंसे जिस किसी सिद्धान्तपर भी किसीको आपत्ति हो वह वादके लिये सामने आ जाय। कहते हैं कि समन्तभद्रके स्याद्वाद-न्यायकी तुलामें तुले हुए तत्त्वभाषणको सुनकर लोग मुग्ध हो जाते थे और उन्हें उसका कुछ भी विरोध करते नहीं बनता था। यदि कभी कोई भी मनुष्य अहंकारके वश होकर

* उन दिनों—समन्तभद्रके समयमें—फाहियान (ई० ४००) और ह्वेनत्संग (ई० ६३०) के कथनानुसार, यह दस्तूर था कि नगरमें किसी सार्वजनिक स्थानपर एक डंका (भेरी या नक्कारा) रक्खा जाता था और जो कोई विद्वान् किसी मतका प्रचार करना चाहता था अथवा वादमें अपने पाण्डित्य और नैपुण्यको सिद्ध करनेकी इच्छा रखता था तो वह वाद-घोषणाके रूपमें उस डंकेको बजाता था।'

—हिस्ट्री आफ् कनडीज लिटरेचर

अथवा नासमझीके कारण कुछ विरोध खड़ा करता था तो उसे शीघ्र ही निरुत्तर हो जाना पड़ता था।

इस तरह, समन्तभद्र भारतके पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, प्रायः सभी देशोंमें, एक अप्रतिद्वंदी सिंहके समान क्रीड़ा करते हुए, निर्भयताके साथ वादके लिये घूमे हैं। एक बार आप घूमते हुए 'करहाटक' नगरमें भी पहुँचे थे, जो उस समय बहुतसे भटों-से युक्त था, विद्याका उत्कट स्थान था और साथ ही अल्प विस्तारवाला अथवा जनाकीर्ण था। उस वक्त आपने वहाँके राजापर अपने वाद-प्रयोजनको प्रकट करते हुए, उन्हें अपना तद्विषयक जो परिचय एक पद्यमें दिया था वह श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० ५४ में निम्न प्रकारसे संग्रहीत है—

> पूर्वं पाटलिपुत्र-मध्यनगरे भेरी मया ताडिता
> पश्चान्मालव-सिन्धु ठक्क-विषये कांचीपुरे वैदिशे।
> प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं
> वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितं॥

इस पद्यमें दिये हुए आत्मपरिचयसे यह मालूम होता है कि करहाटक पहुँचनेसे पहले समन्तभद्रने जिन देशों तथा नगरोंमें वादके लिये विहार किया था उनमें पाटलिपुत्र(पटना)नगर, मालव (मालवा), सिन्धु, ठक्क (पंजाब) देश, कांचीपुर (कांजीवरम्) और वैदिश (भिलसा) ये प्रधान देश तथा जनपद थे जहाँ उन्होंने वादकी भेरी बजाई थी और जहाँ पर प्रायः किसीने भी उनका विरोध नहीं किया था *।

* समन्तभद्रके इस देशाटनके सम्बन्धमें मिस्टर एम० एस० रामस्वामी आय्यंगर अपनी 'स्टडीज इन साउथ इण्डियन जैनिज्म' नाम की पुस्तकमें लिखते हैं—

यहाँ तकके इस सब परिचयसे स्वामी समन्तभद्रके असाधारण गुणों, उनके अनुपम प्रभाव और लोकहितकी भावनाको लेकर धर्मप्रचारके लिये उनके सफल देशाटनादिका कितना ही हाल तो मालूम हो गया; परन्तु अभी तक यह मालूम नहीं हो सका कि समन्तभद्रके पास वह कौनसा मोहनमंत्र था जिसके कारण वे सदा इस बातके लिये भाग्यशाली रहे हैं कि विद्वान लोग उनकी वाद-घोषणाओं और उनके तात्त्विक भाषणोंको चुपकेसे सुन लेते थे और उन्हें उनका प्रायः कोई विरोध करते नहीं बनता था। वादका तो नाम ही ऐसा है जिससे चाहे-अनचाहे विरोधकी आग भड़कती है। लोग अपनी मानरक्षाके लिये, अपने पक्षको निर्बल समझते हुए भी, उसका समर्थन करनेके लिये खड़े हो जाते हैं और दूसरेकी युक्तियुक्त बातको भी मानकर नहीं देते; फिर भी समन्तभद्रके साथमें यह सब प्रायः कुछ भी नहीं होता था, यह क्यों ?—अवश्य ही इसमें कोई खास रहस्य है, जिसके प्रकट होनेकी जरूरत है और जिसको जाननेके लिये पाठक भी उत्सुक होंगे।

जहाँ तक मैंने इस विषयकी जाँच की है—इस मामले पर गहरा विचार किया है—और मुझे समन्तभद्रके साहित्यादिक-परसे उसका विशेष अनुभव हुआ है उसके आधारपर मुझे इस बातके कहनेमें जरा भी संकोच नहीं होता कि समन्तभद्र-

'यह स्पष्ट है कि समन्तभद्र एक बहुत बड़े जैनधर्मप्रचारक थे, जिन्होंने जैनसिद्धान्तों और जैन आचारोंको दूर-दूर तक विस्तारके साथ फैलानेका उद्योग किया है, और यह कि जहाँ कहीं वे गये हैं उन्हें दूसरे सम्प्रदायोंकी तरफसे किसी भी विरोधका सामना करना नहीं पड़ा (He met with no opposition from other sects wherever he went)'

की इस सारी सफलताका रहस्य उनके अन्तःकरणकी शुद्धता, चरित्रकी निर्मलता और उनकी वाणीके महत्वमें संनिहित हैं, अथवा यों कहिये कि यह सब अन्तःकरणकी पवित्रता तथा चरित्र की शुद्धताको लिये हुए उनके वचनोंका ही महात्म्य है जो वे दूसरों पर अपना इस प्रकार सिक्का जमा सके हैं। समन्तभद्रकी जो कुछ भी वचन-प्रवृत्ति होती थी वह सब प्रायः दूसरोंकी हित-कामनाको ही साथमें लिये हुए होती थी। उसमें उनके लौकिक स्वार्थकी अथवा अपने अहंकारको पुष्ट करने और दूसरोंको नीचा दिखाने रूप कुत्सित भावनाकी गन्ध तक भी नहीं रहती थी। वे स्वयं सन्मार्गपर आरूढ़ थे और चाहते थे कि दूसरे लोग भी सन्मार्गको पहिचानें और उसपर चलना आरम्भ करें। साथ ही, उन्हें दूसरोंको कुमार्गमें फँसा हुआ देखकर बड़ा ही खेद तथा कष्ट होता था *। और इसलिये उनका वाक्प्रयत्न सदा उनकी इच्छाके अनुकूल ही रहता था और वे उसके द्वारा ऐसे लोगोंके उद्धारका अपनी शक्तिभर प्रयत्न किया करते थे। ऐसा

---

* आपके इस खेदादिको प्रकट करनेवाले तीन पद्य, नमूनेके तौर पर इस प्रकार है—

मद्याङ्गवद्भूतसमागमे ज्ञः शक्त्यन्तरव्यक्तिरदैवसृष्टिः।
इत्यात्मशिश्नोदरपुष्टितुष्टैर्निर्ह्रीभयैर्हा! मृदवः प्रलब्धाः ॥३५॥
दृष्टेऽविशिष्टे जननादिहेतौ विशिष्टता का प्रतिसत्वमेषाम्।
स्वभावतः किं न परस्य सिद्धिरतावकानामपि हा! प्रपातः ॥३६॥
स्वच्छन्दवृत्तेर्जगतः स्वभावादुच्चैरनाचारपथेष्वदोषम्।
निर्घुष्य दीक्षासममुक्तिमानास्त्वद्दृष्टिवाह्या बत! विभ्रमन्ति ॥३७॥

—युक्त्यनुशासन

इन पद्योंका आशय उस अनुवादादिक परसे जानना चाहिये जो वीर-सेवामन्दिरसे प्रकाशित युक्त्यनुशासन ग्रन्थमें आठ पृष्ठोंपर दिया है।

मालूम होता है कि स्वात्म-हित-साधनके बाद दूसरोंका हित-साधन करना ही उनके लिये एक प्रधान कार्य था और वे बड़ी योग्यताके साथ उसका सम्पादन करते थे। उनकी वाक्परिणति सदा क्रोधसे शून्य रहती थी, वे कभी किसीको अपशब्द नहीं कहते थे और न दूसरोंके अपशब्दोंसे उनकी शान्ति भंग होती थी। उनकी आँखोंमें कभी सुर्खी नहीं आती थी; वे हमेशा हँसमुख तथा प्रसन्नवदन रहते थे। बुरी भावनासे प्रेरित होकर दूसरोंके व्यक्तित्वपर कटाक्ष करना उन्हें नहीं आता था और मधुर-भाषण तो उनकी प्रकृतिमें ही दाखिल था। यही वजह थी कि कठोर-भाषण करनेवाले भी उनके सामने आकर मृदुभाषी बन जाते थे; अपशब्द-मदान्धोंको भी उनके आगे बोल तक नहीं आता था और उनके 'वज्रपात' तथा 'वज्रांकुश'की उपमाको लिये हुए वचन भी लोगोंको अप्रिय मालूम नहीं होते थे।

समन्तभद्रके वचनोंमें एक ख़ास विशेषता यह भी होती थी कि वे स्याद्वाद-न्यायकी तुलामें तुले हुए होते थे और इसलिये उनपर पक्षपातका भूत कभी सवार होने नहीं पाता था। समन्त-भद्र स्वयं परीक्षा-प्रधानी थे, वे कदाग्रह को बिल्कुल पसन्द नहीं करते थे; उन्होंने सर्वज्ञवीतराग भगवान् महावीर तककी परीक्षा की है और तभी उन्हें 'आप्त' रूपमें स्वीकार किया है। वे दूसरों-को भी परीक्षाप्रधानी होनेका उपदेश देते थे—सदैव उनकी यही शिक्षा रहती थी कि किसी भी तत्त्व अथवा सिद्धान्तको विना परीक्षा किये, केवल दूसरोंके कहनेपर ही न मान लेना चाहिये; बल्कि समर्थ-युक्तियोंके द्वारा उसकी अच्छी तरहसे जाँच करनी चाहिये—उसके गुण-दोषोंका पता लगाना चाहिये—और तब उसे स्वीकार अथवा अस्वीकार करना चाहिये। ऐसी हालतमें वे अपने किसी भी सिद्धान्तको ज़बरदस्ती दूसरोंके गले उतारने अथवा उनके सिर मँढनेका कभी यत्न नहीं करते थे। वे विद्वानों

को, निष्पक्षदृष्टिसे, स्व-पर-सिद्धान्तोंपर खुला विचार करनेका पूरा अवसर देते थे। उनकी सदैव यह घोषणा रहती थी कि किसी भी वस्तुको एक ही पहलूसे—एक ही ओरसे—मत देखो, उसे सब ओरसे और सब पहलुओंसे देखना चाहिये, तभी उसका यथार्थज्ञान हो सकेगा। प्रत्येक वस्तुमें अनेक धर्म अथवा अङ्ग होते हैं—इसीसे वस्तु अनेकान्तात्मक है—उसके किसी एक धर्म या अङ्गको लेकर सर्वथा उसी रूपसे वस्तुका प्रतिपादन करना 'एकान्त' है और यह एकान्तवाद मिथ्या है, कदाग्रह है, तत्त्वज्ञानका विरोधी है, अधर्म है और अन्याय है। स्याद्वादन्याय इसी एकान्तवादका निषेध करता है—सर्वथा सत्-असत्-एक अनेक-नित्य-अनित्यादि सम्पूर्ण एकान्तोंसे विपक्षीभूत अनेकान्त-तत्त्व ही उसका विषय* है।

अपनी घोषणाके अनुसार, समन्तभद्र प्रत्येक विषयके गुण दोषोंको स्याद्वाद-न्यायकी कसौटी पर कसकर विद्वानोंके सामने रखते थे, वे उन्हें बतलाते थे कि एक ही वस्तुतत्त्वमें अमुक अमुक एकान्तपक्षोंके माननेसे क्या क्या अनिवार्य दोष आते हैं और वे दोष स्याद्वाद न्यायको स्वीकार करनेपर अथवा अनेकान्तवादके प्रभावसे किस प्रकार दूर हो जाते हैं और किस तरहपर वस्तुतत्त्व-का सामंजस्य ठीक बैठ जाता है†। उनके समझानेमें दूसरोंके प्रति तिरस्कार का कोई भाव नहीं होता था। वे एक मार्ग भूले हुए को मार्ग दिखानेकी तरह प्रेमके साथ उन्हें उनकी त्रुटियोंका बोध कराते थे, और इससे उनके भाषणादिकका दूसरों पर अच्छा ही

* सर्वथासदसदेकानेक-नित्याऽनित्यादि-सकलैकान्त-प्रत्यनीकाऽनेकान्त-तत्त्व-विषय: स्याद्वाद:। —देवागमवृत्ति:

† इस विषयका अच्छा अनुभव प्राप्त करनेके लिये समन्तभद्रका 'देवागम' ग्रन्थ देखना चाहिये, जिसे 'आप्तमीमांसा' भी कहते हैं।

प्रभाव पड़ता था—उनके पास उसके विरोधका कुछ भी कारण नहीं रहता था। यही वजह थी और यही सब वह मोहन-मंत्र था जिससे समन्तभद्रको दूसरे सम्प्रदायोंकी ओरसे किसी खास विरोधका सामना प्रायः नहीं करना पड़ा और उन्हें अपने उद्देश्यमें भारी सफलताकी प्राप्ति हुई।

समन्तभद्रकी इस सफलताका एक समुच्चय उल्लेख श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० ५४ (६७) में, जिसे 'मल्लिषेणप्रशस्ति' भी कहते हैं और जो शक संवत् १०५० में उत्कीर्ण हुआ है, निम्न प्रकारसे पाया जाता है और उससे यह मालूम होता है कि 'मुनिसंघके नायक आचार्य समन्तभद्रके द्वारा सर्वहितकारी जैनमार्ग इस कलिकालमें पुनः सब ओरसे भद्ररूप हुआ है—उसका प्रभाव सर्वत्र व्याप्त होनेसे वह सबका हितकरनेवाला और सबका प्रेमपात्र बना है' :—

वन्द्यो भस्मक-भस्मसात्कृतिपटुः पद्मावतीदेवता-
दत्तोदात्तपद-स्वमन्त्र-वचन-व्याहूत-चन्द्रप्रभः ।
आचार्यस्स समन्तभद्र-गणभृद्येनेह काले कलौ
जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्रं समन्तान्मुहुः ॥

इस पद्यके पूर्वार्धमें समन्तभद्रके जीवनकी कुछ खास घटनाओंका उल्लेख है और वे हैं—१ घोर तपस्या करते समय शरीरमें 'भस्मक' व्याधिकी उत्पत्ति, २ उस व्याधिकी बड़ी बुद्धिमत्ताके साथ शान्ति, ३ पद्मावती नामकी दिव्यशक्तिके द्वारा समन्तभद्रको उदात्त (ऊँचे) पदकी प्राप्ति और ४ अपने मन्त्ररूप वचन-बलसे अथवा योग-सामर्थ्यसे चन्द्रप्रभ-बिम्बकी आकृष्टि। ये सब घटनाएँ बड़ी ही हृदयद्रावक हैं, उनके प्रदर्शन और विवेचनका इस संक्षिप्त परिचयमें अवसर नहीं है और इसलिये उन्हें 'समन्तभद्रका मुनिजीवन और आपत्काल' नामक उस

निबन्धसे जानना चाहिये जो 'स्वामी समन्तभद्र' इतिहासमें ४२ पृष्ठों पर इन पंक्तियोंके लेखक-द्वारा लिखा गया है।

समन्तभद्रकी सफलताका दूसरा समुच्चय उल्लेख बेलूर तालुकेके कनड़ी शिलालेख नं० १७ (E. C. V) में पाया जाता है, जो रामानुजाचार्य-मन्दिरके अहातेके अन्दर सौम्यनायकी मन्दिरकी छतके एक पत्थरपर उत्कीर्ण है और जिसमें उसके उत्कीर्ण होनेका समय शक संवत् १०५६ दिया है। इस शिलालेखमें ऐसा उल्लेख पाया जाता है कि श्रुतकेवलियों तथा और भी कुछ आचार्योंके बाद समन्तभद्र स्वामी श्रीवर्द्धमान महावीरस्वामीके तीर्थकी—जैनमार्गकी—सहस्रगुणी वृद्धि करते हुए उदयको प्राप्त हुए हैं—

"श्रीवर्द्धमानस्वामिगलु तीर्त्थदोलु केवलिगलु ऋद्धिप्राप्तरुं श्रुतकेवलिगलुं पलरुं सिद्धसाध्यर् तत्....(ती)र्त्थ्यमं सहस्रगुणं माडि समन्तभद्रस्वामिगलु सन्दर....।"

वीरजिनेन्द्रके तीर्थकी अपने कलियुगी समयमें हजारगुणी वृद्धि करनेमें समर्थ होना यह कोई साधारण बात नहीं है। इससे समन्तभद्रकी असाधारण सफलता और उसके लिये उनकी अद्वितीय योग्यता, भारी विद्वत्ता एवं बेजोड़ क्षमताका पता चलता है। साथ ही, उनका महान व्यक्तित्व मूर्तिमान होकर सामने आजाता है। यही वजह है कि अकलंकदेव-जैसे महान् प्रभावक आचार्यने, अपनी 'अष्टशती' में, '*तीर्थं प्रभावि काले कलौ*' जैसे शब्दों-द्वारा, कलिकालमें समन्तभद्रकी इस तीर्थ-प्रभावनाका उल्लेख बड़े गौरवके साथ किया है; यही कारण है कि हरिवंशपुराणकार श्रीजिनसेनाचार्य समन्तभद्रके वचनोंको वीरभगवानके वचनोंके समान प्रकाशमान (प्रभावादिसे युक्त) बतला रहे हैं†।

† 'वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते ।'—हरिवंशपुराण

और शिवकोटि आचार्यने रत्नमालामें, '*जिनराजोद्यच्छासनाम्बुधि-चन्द्रमाः*' पदके द्वारा समन्तभद्रको भगवान् महावीरके ऊँचे उठते हुए शासन-समुद्रको बढ़ानेवाला चन्द्रमा लिखा है अर्थात् यह प्रकट किया है कि समन्तभद्रके उदयका निमित्त पाकर वीरभगवानका तीर्थसमुद्र खूब वृद्धिको प्राप्त हुआ है और उसका प्रभाव सर्वत्र फैला है। इसके सिवाय, अकलङ्कदेवसे भी पूर्ववर्ती महान् विद्वानाचार्य श्रीसिद्धसेनने, 'स्वयम्भूस्तुति' नामकी प्रथम द्वात्रिंशिकामें, '*अनेन सर्वज्ञ-परीक्षण-क्षमास्त्वयि प्रसादोदयसोत्सवाः स्थिताः*'—जैसे वाक्यके द्वारा समन्तभद्रका 'सर्वज्ञपरीक्षणक्षम' (सर्वज्ञ-आप्तकी परीक्षा करनेमें समर्थ पुरुष) के रूपमें उल्लेख करते हुए और उन्हें बड़े प्रसन्नचित्तसे वीरभगवानमें स्थित हुआ बतलाते हुए, अगले एक पद्यमें वीरके उस यशकी मात्राका बड़े ही गौरवके साथ उल्लेख किया है जो उन 'अलब्धनिष्ठ' और 'प्रसमिद्धचेता' विशेषणोंके पात्र समन्तभद्र जैसे प्रशिष्योंके द्वारा प्रथित किया गया है *।

अब मैं, संक्षेपमें ही, इतना और बतला देना चाहता हूँ कि स्वामी समन्तभद्र एक क्षत्रिय-वंशोद्भव राजपुत्र थे, उनके पिता फणिमण्डलान्तर्गत 'उरगपुर' के राजा थे †। वे जहाँ क्षत्रियो-

---

* अलब्धनिष्ठाः प्रसमिद्धचेतसस्तव प्रशिष्याः प्रथयन्ति यद्यशः।
न तावदप्येकसमूह-संहताः प्रकाशयेयुः परवादिपार्थिवाः ॥१५॥

सिद्धसेन-द्वारा समन्तभद्रके इस उल्लेखका विशेष परिचय प्राप्त करनेके लिये देखो, '*पुरातन-जैनवाक्य-सूची*' *की प्रस्तावनामें प्रकाशित* 'सन्मतिसूत्र और सिद्धसेन' नामका वृहत् निबन्ध पृ० १५५।

† जैसा कि उनकी 'आप्तमीमांसा' कृतिकी एक प्राचीन ताडपत्रीय प्रतिके निम्न पुष्पिका-वाक्यसे जाना जाता है, जो श्रवणबेल्गोलके श्रीदौर्बलिजिनदास शास्त्रीके शास्त्रभण्डारमें सुरक्षित है—

चित तेजसे प्रदीप्त थे वहाँ आत्महित-साधना और लोकहितकी भावनासे भी ओत-प्रोत थे, और इसलिये घर-गृहस्थीमें अधिक समय तक अटके नहीं रहे थे। वे राज्य-वैभवके मोहमें न फँस-कर घरसे निकल गये थे, और कांची (दक्षिणकाशी) में जाकर 'नग्नाटक' (नग्न) दिगम्बर साधु बन गये थे। उन्होंने एक परिचयपद्यमें अपनेको काँचीका 'नग्नाटक' प्रकट किया है और साथ ही 'निर्ग्रन्थजैनवादी' भी लिखा है—भले ही कुछ परिस्थि-तियोंके वश वे कतिपय स्थानोंपर दो एक दूसरे साधु-वेष भी धारण करनेके लिये बाध्य हुए हैं, जिनका पद्यमें उल्लेख है, परन्तु वे सब अस्थायी थे और उनसे उनके मूलरूपमें कर्दमाक्त-मणिके समान, कोई अन्तर नहीं पड़ा था—वे अपनी श्रद्धा और संयमभावनामें बराबर अडोल रहे हैं। वह पद्य इस प्रकार है—

कांच्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः
पुण्ड्रोड्रे शाक्यभिक्षुः† दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिव्राट् ।
वाराणस्यामभूवं शशधरधवलः पाण्डुरांगस्तपस्वी
राजन् यस्याऽस्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी ॥

यह पद्य भी '*पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता*' नाम-के परिचय-पद्यकी तरह किसी राजसभामें ही अपना परिचय देते हुए कहा गया है और इसमें भी वादके लिये विद्वानोंको ललकारा गया है और कहा गया है कि 'हे राजन्! मैं तो वास्तव में जैननिर्ग्रन्थवादी हूँ, जिस किसीकी भी मुझसे वाद करनेकी शक्ति हो वह सामने आकर वाद करे।'

"इति श्रीफणिमण्डलालंकारस्योरगपुराधिपसूनोः श्रीस्वामिसमन्तभद्र-मुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम् ।"

† यह पद अग्रोल्लेखित जीर्ण गुटकेके अनुसार 'शाकभक्षी' है।

पहलेसे समन्तभद्रके उक्त दो ही पद्य आत्मपरिचयको लिये हुए मिल रहे थे, परन्तु कुछ समय हुआ, 'स्वयम्भूस्तोत्र' की प्राचीन प्रतियोंको खोजते हुए, देहली-पंचायतीमन्दिरके एक अति-जीर्ण-शीर्ण गुटके परसे मुझे एक तीसरा पद्य भी उपलब्ध हुआ है, जो स्वयम्भूस्तोत्रके अन्तमें उक्त दोनों पद्योंके अनन्तर संग्रहीत है और जिसमें स्वामीजीके परिचय-विषयक दस विशेषण उपलब्ध होते हैं और वे हैं—१ आचार्य, २ कवि, ३ वादिराट्, ४ पण्डित (गमक), ५ दैवज्ञ (ज्योतिर्विद्) ६ भिषक् (वैद्य), ७ मान्त्रिक (मन्त्रविशेषज्ञ), ८ तान्त्रिक (तन्त्रविशेषज्ञ), ९ आज्ञासिद्ध और १० सिद्धसारस्वत। वह पद्य इस प्रकार है :—

आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोऽहं
दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोऽहं।
राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलायाम्-
आज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोऽहं ॥३॥

यह पद्य बड़े ही महत्वका है। इसमें वर्णित प्रथम तीन विशेषण—आचार्य, कवि और वादिराट्—तो पहलेसे परिज्ञात हैं—अनेक पूर्वाचार्योंके ग्रन्थों तथा शिलालेखोंमें इनका उल्लेख मिलता है। चौथा 'पण्डित' विशेषण आजकलके व्यवहारमें 'कवि' विशेषणकी तरह भले ही कुछ साधारण समझा जाता हो परन्तु उस समय कविके मूल्यकी तरह उसका भी बड़ा मूल्य था और वह प्रायः 'गमक' (शास्त्रोंके मर्म एवं रहस्यको समझने तथा दूसरोंको समझानेमें निपुण) जैसे विद्वानोंके लिये प्रयुक्त होता था। अतः यहाँ गमकत्व-जैसे गुणविशेषका ही वह द्योतक है। शेष सब विशेषण इस पद्यके द्वारा प्रायः नये ही प्रकाशमें

आए हैं और उनसे ज्योतिष, वैद्यक, मन्त्र और तन्त्र जैसे विषयोंमें भी समन्तभद्रकी निपुणताका पता चलता है। समीचीन धर्मशास्त्र (रत्नकरण्ड) में, अंगहीन सम्यग्दर्शनको जन्मसन्तति-के छेदनमें असमर्थ बतलाते हुए, जो विषवेदनाके हरनेमें न्यूनाक्षरमन्त्रकी असमर्थताका उदाहरण दिया है वह और शिलालेखों तथा ग्रन्थोंमें *'स्वमन्त्रवचन-व्याहूत-चन्द्रप्रभः'*-जैसे विशेषणोंका जो प्रयोग पाया जाता है वह सब भी आपके मन्त्र-विशेषज्ञ तथा मन्त्रवादी होनेका सूचक है। अथवा यों कहिये कि आपके 'मान्त्रिक' विशेषणसे अब उन सब कथनोंकी यथार्थताको अच्छा पोषण मिलता है। इधर ६वीं शताब्दीके विद्वान् उग्रादित्याचार्य-ने अपने *'कल्याणकारक'* वैद्यक ग्रन्थमें *'अष्टाङ्गमप्यखिलमत्र समन्तभद्रैः प्रोक्तं सविस्तरवचो विभवैर्विशेषात्'* इत्यादि पद्य-(२०-८६) के द्वारा समन्तभद्रकी अष्टाङ्गवैद्यक-विषयपर विस्तृत रचनाका जो उल्लेख किया है उसको ठीक बतलानेमें 'भिषक्' विशेषण अच्छा सहायक जान पड़ता है।

अन्तके दो विशेषण *'आज्ञासिद्ध'* और *'सिद्धसारस्वत'* तो बहुत ही महत्वपूर्ण हैं और उनसे स्वामी समन्तभद्रका असाधारण व्यक्तित्व बहुत कुछ सामने आजाता है। इन विशेषणोंको प्रस्तुत करते हुए स्वामीजी राजाको सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि—'हे राजन्! मैं इस समुद्र-वलया पृथ्वी पर 'आज्ञासिद्ध' हूँ—जो आदेश दूँ वही होता है। और अधिक क्या कहा जाय, मैं 'सिद्धसारस्वत' हूँ—सरस्वती मुझे सिद्ध है। इस सरस्वतीकी सिद्धि अथवा वचनसिद्धिमें ही समन्तभद्रकी उस सफलताका सारा रहस्य संनिहित है जो स्थान-स्थान पर वादघोषणाएँ करने पर उन्हें प्राप्त हुई थी और जिसका कुछ विवेचन ऊपर किया जा चुका है।

समन्तभद्रकी वह सरस्वती (वाग्देवी) जिनवाणी माता थी,

जिसकी अनेकान्तदृष्टि-द्वारा अनन्य-आराधना करके उन्होंने अपनी वाणीमें वह अतिशय प्राप्त किया था जिसके आगे सभी नतमस्तक होते थे और जो आज भी सहृदय-विद्वानोंको उनकी ओर आकर्षित किये हुए है।

समन्तभद्र, श्रद्धा और गुणज्ञता दोनोंको साथ लिये हुए, बहुत बड़े अर्हद्भक्त थे, अर्हद्गुणोंकी प्रतिपादक सुन्दर-सुन्दर स्तुतियाँ रचनेकी ओर उनकी बड़ी रुचि थी और उन्होंने स्तुतिविद्यामें '*सुस्तुत्यां व्यसनं*' वाक्यके द्वारा अपनेको वैसी स्तुतियाँ रचनेका व्यसन बतलाया है। उनके उपलब्ध ग्रन्थोंमें अधिकांश ग्रन्थ स्तोत्रोंके ही रूपको लिए हुए हैं और उनसे उनकी अद्वितीय अर्हद्भक्ति प्रकट होती है। 'स्तुतिविद्या' को छोड़कर स्वयम्भूस्तोत्र, देवागम और युक्त्यनुशासन ये तीन तो आपके खास स्तुतिग्रन्थ हैं। इनमें जिस स्तोत्र-प्रणालीसे तत्त्वज्ञान भरा गया है और कठिनसे कठिन तात्त्विक विवेचनोंको योग्य स्थान दिया गया है वह समन्तभद्रसे पहलेके ग्रन्थोंमें प्रायः नहीं पाई जाती। समन्तभद्रने अपने स्तुतिग्रन्थोंके द्वारा स्तुतिविद्याका खास तौरसे उद्धार, संस्कार और विकास किया है, और इसीलिये वे 'स्तुतिकार' कहलाते थे। उन्हें 'आद्यस्तुतिकार' होनेका भी गौरव प्राप्त था†। अपनी इस अर्हद्भक्ति और लोकहितसाधनकी उत्कट भावनाओंके कारण वे आगेको इस भारतवर्षमें 'तीर्थङ्कर' होनेवाले हैं, ऐसे भी कितने ही उल्लेख अनेक ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं *। साथ ही ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं जो उनके 'पदर्द्धिक' अथवा 'चारणऋद्धि' से सम्पन्न होनेके सूचक हैं ‡।

---

† देखो, 'स्वामी समन्तभद्र' पृ० ६७

* देखो, 'स्वामी समन्तभद्र'—'भावितीर्थंकरत्व' प्रकरण पृ० ६२

‡ देखो, 'स्वामी समन्तभद्र'—'गुणादिपरिचय' प्रकरण पृ० ३४

श्रीसमन्तभद्र 'स्वामी' पदसे खास तौरपर अभिभूषित थे और यह पद उनके नामका एक अंग ही बन गया था। इसीसे विद्यानन्द और वादिराजसूरि जैसे कितने ही आचार्यों तथा पं० आशाधरजी जैसे विद्वानोंने अनेक स्थानोंपर केवल 'स्वामी' पदके प्रयोग-द्वारा ही उनका नामोल्लेख किया है *। निःसन्देह यह पद उस समयकी दृष्टिसे § आपकी महती प्रतिष्ठा और असाधारण महत्ताका द्योतक है। आप सचमुच ही विद्वानोंके स्वामी थे, त्यागियोंके स्वामी थे, तपस्वियोंके स्वामी थे, योगियोंके स्वामी थे, ऋषि-मुनियोंके स्वामी थे, सद्गुणियोंके स्वामी थे, सत्कृतियोंके स्वामी थे और लोक-हितैषियोंके स्वामी थे। आपने अपने अवतारसे इस भारतभूमिको विक्रमकी दूसरी-तीसरी शताब्दीमें पवित्र किया है। आपके अवतारसे भारतका गौरव बढ़ा है और इसलिये श्रीशुभचन्द्राचार्यने, पाण्डवपुराणमें, आपको जो 'भारत-भूषण' लिखा है वह सब तरह यथार्थ ही है ×।

वीरसेवामन्दिर, देहली
माघसुदि ५, सं० २०११

जुगलकिशोर मुख्तार

---

* देखो, 'स्वामी समन्तभद्र' पृ० ६१ (फुटनोट)

§ आजकल तो 'कवि' और 'पण्डित' पदोंकी तरह 'स्वामी' पदका भी दुरुपयोग होने लगा है।

× समन्तभद्रो भद्रार्थो भातु भारतभूषणः।
देवागमेन येनाऽत्र व्यक्तो देवागमः कृतः॥

सभाष्य-धर्मशास्त्रकी विषय-सूची

द्वितीय अध्ययन

तृतीय अध्ययन

चतुर्थ अध्ययन

पंचम अध्ययन

छठा अध्ययन

सप्तम अध्ययन

श्रीमत्स्वामि-समन्तभद्राचार्य-विरचित

समीचीन-धर्मशास्त्र

अपरनाम

रत्नकरण्ड-उपासकाध्ययन

सानुवाद-व्याख्यारूप भाष्यसे मण्डित

भाष्यका मंगलाचरण

श्रीवर्द्धमानमभिनम्य समन्तभद्रं

सद्बोध-चारुचरिताऽनघवाक्स्वरूपम् ।

सद्धर्मशास्त्रमिह रत्नकरण्डकाख्यं

व्याख्यामि लोक-हित-शान्ति-विवेक-वृद्धयै ॥१॥

'जो सम्यग्ज्ञानमय हैं, सच्चारित्ररूप हैं और जिनके वचन निर्दोष हैं उन समन्तभद्र (सब ओरसे भद्ररूप—मंगलमय) श्रीवर्द्धमान (भगवान् महावीर) को तथा श्रीवर्द्धमान (विद्याविभूति, कीर्ति आदि लक्ष्मीसे वृद्धिको प्राप्त हुए) समन्तभद्र (स्वामी समन्तभद्राचार्य) को (अलग अलग तथा एकसाथ) नमस्कार करके, मैं (उनका विनम्र सेवक जुगलकिशोर) लौकिक जनोंकी हितवृद्धि, शान्तिवृद्धि और विवेकवृद्धिके लिये उस 'समीचीनधर्मशास्त्र'की व्याख्या करता हूँ जो लोकमें 'रत्नकरण्ड'नामसे अधिक प्रसिद्धिको प्राप्त है ।'

मूलका मंगलाचरण

नमः श्री-वर्द्धमानाय निर्धूत-कलिलात्मने ।
साऽलोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते ॥१॥

'**जिन्होंने आत्मासे पाप-मलको निर्मूल किया है**—राग-द्वेष-काम-क्रोधादि-विकार-मूलक मोहनीयादि घातिया कर्मकलङ्कको अपने आत्मासे पूर्णतः दूर करके उसे स्वभावमें स्थिर किया है—**और** (इससे) **जिनकी विद्या**—केवलज्ञान-ज्योति—**अलोक-सहित तीनों लोकोंके लिये दर्पणकी तरह आचरण करती है**—उन्हें अपनेमें स्पष्टरूपसे प्रतिबिम्बित करती है। अर्थात् जिनके केवलज्ञानमें अलोक-सहित तीनों लोकोंके सभी पदार्थ साक्षात्‌रूपसे प्रतिभासित होते हैं और अपने इस प्रतिभास-द्वारा ज्ञानस्वरूप आत्मामें कोई विकार उत्पन्न नहीं करते—वह दर्पणकी तरह निर्विकार बना रहता है—**उन श्रीमान् वर्द्धमानको**—भारतीविभूति (दिव्यवाणी) रूप श्रीसे सम्पन्न भगवान् महावीरको—**नमस्कार हो**।'

व्याख्या—'वर्द्धमान' यह इस युगके आर्हत-मत-प्रवर्तक अथवा जैनधर्मके अन्तिम तीर्थङ्करका शुभ नाम है, जिन्हें वीर, महावीर तथा सन्मति भी कहते हैं। कहा जाता है कि आपके गर्भमें आते ही माता-पितादिके धन, धान्य, राज्य, राष्ट्र, बल, कोष, कुटुम्ब तथा दूसरी अनेक प्रकारकी विभूतिकी अतीव वृद्धि हुई थी, जिससे 'वर्द्धमान' नाम रखनेका पहलेसे ही संकल्प होगया था ❀, और इसलिये इन्द्र-द्वारा दिये गये 'वीर' नामके

❀"जप्पभिइं च णं एस दारए कुच्छिसि गब्भताए वक्कंते तप्पभिइं च णं अम्हे हिरण्णेणं वड्ढामो सुवण्णेणं धणेणं धन्नेणं रज्जेणं रट्ठेणं बलेणं वाहणेणं कोसेणं कुट्ठागारेणं पुरेणं अन्तेउरेणं जणवएणं जावसएणं वड्ढामो विपुलधणकणग-रयण-मणि-मुत्तिय-संख-सिलप्पवाल-रत्तरयण-

साथ यह 'वर्द्धमान' नाम भी आपका जन्मनाम है×। 'श्री' शब्द नामका अङ्ग न होकर साथमें विशेषण है, जो उनकी श्रीमत्ता अथवा श्रीविशिष्टताको सूचित करता है। और इसलिये '*श्रीवर्द्धमानाय*' पदका विग्रहरूप अर्थ हुआ '*श्रीमते वर्द्धमानाय*' श्रीमान् (श्रीसम्पन्न) वर्द्धमानके लिये। स्वयं ग्रन्थकारमहोदयने अपनी स्तुति-विद्या (जिनशतक) में भी इस पदको इसी प्रकारसे विश्लेपित करके रक्खा है; जैसा कि उसके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

"*श्रीमते वर्द्धमानाय नमो नमित-विद्विषे*" ॥ १०२ ॥

इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थकारमहोदयको 'वर्द्धमान' नाम ही अभीष्ट है—'श्रीवर्द्धमान' नहीं। ग्रन्थकारसे पूर्ववर्ती आचार्य श्रीकुन्दकुन्दने भी अपने प्रवचनसारकी आदिमें '*पणमामि वड्ढमाणं*' वाक्यके द्वारा 'वर्द्धमान' नामकी सूचना की है। अतः 'श्री' पद यहां विशेषण ही है।

'श्री' शब्द लक्ष्मी, धनादि सम्पत्ति, विभूति, वाग्देवी-सरस्वती-वाणी-भारती† शोभा, प्रभा, उच्चस्थिति, महानता, दिव्य-

माइएणं संत-सारसावइज्जेणं पीइ-सक्कारेणं अईव अईव वड्ढामो, तं जयाणं अम्हं एस दारए जाए भविस्सइ तयाणं अम्हे एयस्स दारगस्स एयाणुरूवं गुण्णं गुणनिप्फण्णं नामधिज्जं करिस्सामो—**वद्धमाणु** त्ति ॥६०॥"

—कल्पसूत्र

× अलं तदिति तं भक्त्या विभूष्योद्यद्विभूषणः।
वीरः श्रीवर्द्धमानस्तेष्वित्याख्या-द्वितयं व्यधात् ॥२७६॥

—उत्तरपुराण, पर्व ७४

† श्रीर्लक्ष्मी-भारती-शोभा-प्रभासु सरलद्रुमे।
वेश-त्रिवर्ग-सम्पत्तौ शेषापकरणे मतौ ॥

(द्वितीय अंश अगले पृष्ठपर) —विश्वलोचने, श्रीधरः

शक्ति, गुणोत्कर्ष और आदर-सत्कारादि अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त होता है और जिस विशेषणके साथ जुड़ता है उसकी स्थितिके अनुरूप इसके अर्थमें अन्तर, तर-तमता, न्यूनाधिकता अथवा विशेषता रहती है। यहां जिन आप्त भगवान् वर्द्धमानके लिये यह पद विशेषणरूपमें प्रयुक्त हुआ है उनकी उस भारती-विभूति अथवा वचन-श्रीका द्योतन करता है जो युक्ति-शास्त्राऽविरोधिनी दिव्यवाणीके रूपमें अवस्थित होती है और जिसे स्वयं स्वामी समन्तभद्रने सर्वज्ञलक्ष्मीसे प्रदीप्त हुई समग्र शोभा-सम्पन्न 'सरस्वती' लिखा है तथा जीवन्मुक्त (अर्हन्त) अवस्थामें जिसकी प्रधानताका उल्लेख किया है‡। साथ ही, उसके द्वारा तत्त्वार्थों-का कीर्तन (सम्यग्वर्णन) होनेसे उसे 'कीर्ति' नाम भी दिया है और वर्द्धमानस्वामीको महती कीर्ति (युक्तिशास्त्राऽविरोधिनी दिव्य-वाणी) के द्वारा भूमण्डलपर वृद्धिको—व्यापकता को—प्राप्त हुआ बतलाया है×। जिस आर्हन्त्यलक्ष्मीसे आप्तभगवान देव-मनुष्यादिकी महती समवसरण सभामें शोभाको प्राप्त होते हैं† उसका यह दिव्यवाणी प्रधान अङ्ग है, इसीके द्वारा शासनतीर्थ

'श्रीर्लक्ष्म्यां·······मतौ गिरि। शोभा-त्रिवर्गसम्पत्त्योः·····॥'

—अभिधानसंग्रहे, हेमचन्द्रः

‡ बभार पद्मां च सरस्वतीं च भवान्पुरस्तात्प्रतिमुक्तिलक्ष्म्याः।
सरस्वतीमेव समग्रशोभां सर्वज्ञलक्ष्मी-ज्वलितां विमुक्तः ॥२७॥

—स्वयम्भूस्तोत्र

× कीर्त्या महत्या भुवि वर्द्धमानं त्वां वर्द्धमानं स्तुतिगोचरत्वम्।
निनीषवः स्मो वयमद्य वीरं विशीर्ण-दोषाशय-पाशबन्धम् ॥

—युक्त्यनुशासन १

† आर्हन्त्यलक्ष्म्याः पुनरात्मतन्त्रो देवासुरोदारसभे रराज ॥

—स्वयम्भूस्तोत्र ७८

अथवा आगमतीर्थका प्रवर्तन होता है और उसके प्रवर्तक शास्ता, तीर्थङ्कर तथा आगमेशी कहलाते हैं। शेष दो प्रमुख अङ्ग निर्दोषता और सर्वज्ञता हैं, जिन्हें उक्त मङ्गल-पद्यमें *'निर्धूतकलिलात्मने'* आदि पदोंके द्वारा व्यक्त किया गया है। और इससे भी यह और स्पष्ट होजाता है कि आप्तके प्रमुख तीन विशेषणोंमेंसे अवशिष्ट विशेषण तीर्थप्रवर्तिनी दिव्यवाणी ही यहां 'श्री' शब्दके द्वारा परिगृहीत है और उस श्रीसे वर्द्धमानस्वामीको सम्पन्न बतलाया है। इस तरह आप्तके उत्सन्नदोष, सर्वज्ञ और आगमेशी ये तीन विशेषण जो आगे इसी शास्त्र (कारिका ५) में बतलाये गये हैं और 'जिनके बिना आप्तता होती ही नहीं' ऐसा निर्देश किया है, उन सभीके उल्लेखको लिये हुए यहां आप्त-भगवान् वर्द्धमानका स्मरण किया गया है। युक्त्यनुशासनकी प्रथम कारिकामें भी, वीर वर्द्धमानको अपनी स्तुतिका विषय बनाते हुए, स्वामी समन्तभद्रने इन्हीं तीन विशेषणोंका प्रकारान्तर से निर्देश किया है। वहाँ *'विशीर्ण-दोषाशयपाश-बन्धम्'* पदके द्वारा जिस गुणका निर्देश किया है उसीके लिये यहां *'निर्धूतकलिलात्मने'* पदका प्रयोग किया है, और यह पद-प्रयोग अपनी खास विशेषता रखता है। इस धर्मशास्त्रमें सर्वत्र पापोंको दूर करनेका उपदेश है और वह उपदेश उन वर्द्धमानस्वामीके उपदेशानुसार है जो तीर्थङ्कर हैं और जिनका धर्मशासन (तीर्थ) इस समय भी लोकमें वर्तमान है। और इसलिये धर्मशास्त्रकी आदिमें जहां उनका स्मरण सार्थक तथा युक्तियुक्त हुआ है वहाँ उन्हें *'निर्धूतकलिलात्मा'*—आत्मासे पाप-मलको दूर करनेवाला—प्रदर्शित करना और भी सार्थक तथा युक्ति-युक्त हुआ है और यह सब ग्रन्थकारमहोदयकी कथनशैलीकी खूबी है—वे आगे-पीछेके सब सम्बन्धोंको ठीक ध्यानमें रखकर ही पद-विन्यास किया करते हैं।

'कलिल' शब्द कल्मष, पाप और दुरित जैसे शब्दोंके साथ एकार्थता रखता है। इन शब्दोंको जिस अर्थमें स्वयं स्वामी समन्तभद्रने अपने ग्रन्थोंमें प्रयुक्त किया है प्राय: उस सभी अर्थको लिये हुए यहाँ 'कलिल' शब्दका प्रयोग है। उदाहरणके तौरपर स्वयम्भूस्तोत्रके पार्श्वजिनस्तवनमें *'विधूतकल्मषं'* पदके द्वारा पार्श्वजिनेन्द्रको जिस प्रकार घातिकर्मकलङ्कसे—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नामक चार घातियाकर्मोंसे—रहित सूचित किया है उसी प्रकार यहाँ *'निर्धूतकलिलात्मने'* पदके द्वारा वर्द्धमान जिनेन्द्रको भी उसी घातिकर्मकलङ्कसे रहित व्यक्त किया है। दोनों पद एक ही अर्थके वाचक हैं †।

'लोक' उसे कहते हैं जो अनन्त आकाशके बहुमध्यभागमें स्थित और प्रान्तमें तीन महावातवलयोंसे वेष्ठित जीवादि षट् द्रव्योंका समूह है, अथवा जहाँ जीव-पुद्गलादि छह प्रकारके द्रव्य* अवलोकन किये जायँ—देखे-पाए जायँ—वह सब 'लोक' है उसके तीन विभाग हैं—ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। सुदर्शन-मेरुके मूलभागसे नीचेका इधर-उधरका सब प्रदेश अर्थात् रत्नप्रभा भूमिसे लेकर नीचेका—अन्तिम वातवलय तकका—सब भाग, जिसमें व्यन्तरों तथा भवनवासी देवोंके आवास और

† श्रीकुन्दकुन्दाचार्य-द्वारा प्रवचनसारकी आदिमें दिया हुआ वर्द्धमानका 'धोदघाइकम्ममलं' विशेषण भी इसी आशयका द्योतक है।

* जैन विज्ञानके अनुसार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये छह द्रव्य हैं। इनके अलावा दूसरा कोई द्रव्य नहीं है। दूसरे जिन द्रव्योंकी लोकमें कल्पना की जाती है उन सबका समावेश इन्हींमें हो जाता है। ये नित्य और अवस्थित हैं—अपनी छहकी संख्याका कभी उल्लङ्घन नहीं करते। इनमेंसे पुद्गलको छोड़कर शेष सब द्रव्य अरूपी हैं। और इनकी चर्चासे प्राय: सभी जैन-सिद्धान्त-ग्रन्थ भरे पड़े हैं।

सातों नरक भी आ जाते हैं, तद्गत द्रव्यों-सहित 'अधोलोक' कहलाता है। रत्नप्रभाभूमिसे ऊपर सुदर्शनमेरुकी चूलिका तकका सब क्षेत्र तद्गत द्रव्यों सहित 'मध्यलोक' कहा जाता है और उसमें सम्पूर्ण ज्योतिर्लोक तथा तिर्यक्लोक अन्तिम वातवलय-पर्यन्त शामिल है। और सुदर्शनमेरुकी चूलिकासे ऊपर स्वर्गादि-कका इधर-उधरके सब प्रदेशों-सहित जो अन्तिम वातवलय-पर्यन्त स्थान है वह तद्गत द्रव्यों-सहित 'ऊर्ध्वलोक' कहलाता है। लोकके इन तीन विभागोंकी जैनागममें 'त्रिलोक' संज्ञा है। इन तीनों लोकोंसे बाहरका जो क्षेत्र है और जिसमें सब ओर अनन्त आकाशके सिवाय दूसरा कोई भी द्रव्य नहीं है उसे 'अलोक' कहते हैं। लोक-अलोकमें संपूर्ण ज्ञेय तत्त्वोंका समावेश होजानेसे उन्हींमें ज्ञेयतत्त्वकी परिसमाप्ति की गई है। अर्थात् आगममें यह प्रतिपादन किया गया है कि 'ज्ञेयतत्त्व लोक-अलोक है—लोक-अलोकसे भिन्न अथवा बाहर दूसरा कोई 'ज्ञेय' पदार्थ है ही नहीं। साथ ही, ज्ञेय ज्ञानका विषय होनेसे और ज्ञानकी सीमाके बाहर ज्ञेयका कोई अस्तित्व न बन सकनेसे यह भी प्रतिपादन किया गया है कि 'ज्ञान ज्ञेय-प्रमाण है'। जब ज्ञेय लोक-अलोक-प्रमाण है तब ज्ञान भी लोक-अलोक-प्रमाण ठहरा, और इसलिये ज्ञानको भी लोक-अलोककी तरह सर्वगत (व्यापक) होना चाहिये; जैसा कि श्रीकुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीत प्रवचनसारकी निम्न गाथासे प्रकट है:—

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठम्।
णेयं लोयाऽलोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं॥ १-२३॥

इसमें यह भी बतलाया है कि 'आत्मा ज्ञानप्रमाण है'—ज्ञान से बड़ा या छोटा आत्मा नहीं होता। और यह ठीक ही है; क्योंकि ज्ञानसे आत्माको बड़ा माननेपर आत्माका वह बढ़ा हुआ अंश ज्ञानशून्य जड ठहरेगा और तब यह कहना नहीं बन सकेगा कि

आत्मा ज्ञानस्वरूप है अथवा ज्ञान आत्माका गुण है जोकि गुणी (आत्मा) में व्यापक (सर्वत्र स्थित) होना चाहिये। और ज्ञानसे आत्माको छोटा मानने पर आत्मप्रदेशोंसे बाहर स्थित (बढ़ा हुआ) ज्ञान गुण गुणी (द्रव्य) के आश्रय बिना ठहरेगा और गुण गुणी (द्रव्य) के आश्रय बिना कहीं रहता नहीं; जैसा कि '*द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः*' गुणके इस तत्त्वार्थसूत्र-वर्णित लक्षणसे प्रकट है।

अतः आत्मा ज्ञानसे बड़ा या छोटा न होकर ज्ञानप्रमाण है, इसमें आपत्तिके लिये ज़रा भी स्थान नहीं।

जब आत्मा ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान ज्ञेयप्रमाण होनेसे लोकाऽलोक-प्रमाण तथा सर्वगत है तब आत्मा भी सर्वगत हुआ। और इससे यह निष्कर्ष निकला कि आत्मा अपने ज्ञान-गुण-सहित सर्वगत (सर्वव्यापक) होकर लोकाऽलोकको जानता है, और इसलिए श्रीवर्द्धमानस्वामी लोकाऽलोकके ज्ञाता होनेसे 'सर्वज्ञ' हैं और वे सर्वगत होकर ही लोकाऽलोकको जानते हैं। परन्तु आत्मा सदा स्वात्म-प्रदेशोंमें स्थित रहता है—संसारावस्था-में आत्माका कोई प्रदेश मूलोत्तररूप आत्म-देहसे बाहर नहीं जाता और मुक्तावस्थामें शरीरका सम्बन्ध सदाके लिये छूट जाने पर आत्माके प्रदेश प्रायः चरमदेहके आकारको लिये हुए लोकके अग्रभागमें जाकर स्थित होते हैं, वहांसे फिर कोई भी प्रदेश किसी समय स्वात्मासे बाहर निकलकर अन्य पदार्थोंमें नहीं जाता। इसीसे ऐसे शुद्धात्माओं अथवा मुक्तात्माओंको 'स्वात्म-स्थित' कहा गया है और प्रदेशोंकी अपेक्षा सर्वव्यापक नहीं माना गया; परन्तु साथ ही 'सर्वगत' भी कहा गया है, जैसा कि '*स्वात्मस्थितः सर्वगतः समस्तव्यापारवेदी विनिवृत्त-संगः*' * जैसे वाक्योंसे प्रकट है। तब उनके इस सर्वगतत्वका क्या रहस्य

* देखो, श्रीधनंजयकृत 'विषापहार' स्तोत्र।

है और उनका ज्ञान कैसे एक जगह स्थित होकर सब जगतके पदार्थोंको युगपत् जानता है ? यह एक मर्मकी बात है, जिसे स्वामी समन्तभद्रने '*यद्विद्या दर्पणायते*' जैसे शब्दोंके द्वारा थोड़े-में ही व्यक्त कर दिया है। यहाँ ज्ञानको दर्पण बतलाकर अथवा दर्पणकी उपमा देकर यह स्पष्ट किया गया है कि जिस प्रकार दर्पण अपने स्थानसे उठकर पदार्थोंके पास नहीं जाता, न उनमें प्रविष्ट होता है और न पदार्थ ही अपने स्थानसे चलकर दर्पणके पास आते तथा उसमें प्रविष्ट होते हैं; फिर भी पदार्थ दर्पणमें प्रति-बिम्बित होकर प्रविष्टसे जान पड़ते हैं और दर्पण भी उन पदार्थों-को अपनेमें प्रतिबिम्बित करता हुआ तद्गत तथा उन पदार्थोंके आकाररूप परिणत मालूम होता है, और यह सब दर्पण तथा पदार्थोंकी इच्छाके बिना ही वस्तु-स्वभावसे होता है। उसी प्रकार वस्तुस्वभावसे ही शुद्धात्मा केवलीके केवलज्ञानरूप दर्पणमें अलोक-सहित सब पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं और इस दृष्टिसे उनका वह निर्मलज्ञान आत्मप्रदेशोंकी अपेक्षा सर्वगत न होता हुआ भी सर्वगत कहलाता है और तदनुरूप वे केवली भी स्वात्मस्थित होते हुए सर्वगत कहे जाते हैं। इसमें विरोधकी कोई बात नहीं है। इस प्रकारका कथन विरोधाऽलङ्कारका एक प्रकार है, जो वास्तव में विरोधको लिये हुए न होकर विरोधसा जान पड़ता है और इसीसे 'विरोधाभास' कहा जाता है। अतः श्रीवर्द्धमान स्वामीके प्रदेशापेक्षा सर्वव्यापक न होते हुए भी, स्वात्मस्थित होकर सर्व-पदार्थोंको जानने-प्रतिभासित करनेमें कोई बाधा नहीं आती।

अब यहाँपर यह प्रश्न किया जा सकता है कि दर्पण तो वर्तमानमें अपने सम्मुख तथा कुछ तिर्यक् स्थित पदार्थोंको ही प्रतिबिम्बित करता है—पीछेके अथवा अधिक अगल-बगलके पदार्थोंको वह प्रतिबिम्बित नहीं करता—और सम्मुखादिरूपसे स्थित पदार्थोंमें भी जो सूक्ष्म हैं, दूरवर्ती हैं, किसी प्रकारके व्यव-

धान अथवा आवरणसे युक्त हैं, अमूर्तिक हैं, भूतकालमें सम्मुख उपस्थित थे, भविष्यकालमें सम्मुख उपस्थित होंगे किन्तु वर्तमान में सम्मुख उपस्थित नहीं हैं उनमेंसे किसीको भी वर्तमान समयमें प्रतिबिम्बित नहीं करता है; जब ज्ञान दर्पणके समान है तब केवली अथवा भगवान् महावीरके ज्ञानदर्पणमें अलोक-सहित तीनों लोकोंके सर्वपदार्थ युगपत् कैसे प्रतिभासित होसकते हैं? और यदि युगपत् प्रतिभासित नहीं हो सकते तो सर्वज्ञता कैसे बन सकती है? और कैसे '*सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते*' यह विशेषण श्रीवर्द्धमान स्वामीके साथ संगत बैठ सकता है?

इसके उत्तरमें मैं सिर्फ इतना ही बतलाना चाहता हूँ कि उपमा और उदाहरण (दृष्टान्त) प्रायः एकदेश होते हैं—सर्वदेश नहीं, और इसलिये सर्वापेक्षासे उनके साथ तुलना नहीं की जा सकती। उनसे किसी विषयको समझनेमें मदद मिलती है, यही उनके प्रयोगका लक्ष्य होता है। जैसे किसीके मुखको चन्द्रमाकी उपमा दी जाती है, तो उसका इतना ही अभिप्राय होता है कि वह अतीव गौरवर्ण है—यह अभिप्राय नहीं होता कि उसका और चंद्रमाका वर्ण बिल्कुल एक है अथवा वह सर्वथा चन्द्र-धातुका ही बना हुआ है और चन्द्रमाकी तरह गोलाकार भी है। इसी तरह दर्पण और ज्ञानके उपमान-उपमेय-भावको समझना चाहिये। यहाँ ज्ञान (उपमेय) को दर्पण (उपमान) की जो उपमा दी गई उसका लक्ष्य प्रायः इतना ही है कि जिस प्रकार पदार्थ अपने अपने स्थानपर स्थित रहते हुए भी निर्मल दर्पणमें ज्योंके त्यों झलकते और तद्गत मालूम होते हैं और अपने इस प्रति-बिम्बित होनेमें उनकी कोई इच्छा नहीं होती और न दर्पण ही उन्हें अपनेमें प्रतिबिम्बित करने-करानेकी कोई इच्छा रखता है—सब कुछ वस्तु-स्वभावसे होता है; उसी तरह निर्मल ज्ञानमें भी

पदार्थ ज्योंके त्यों प्रतिभासित होते तथा तद्गत मालूम होते हैं और इस कार्यमें किसीकी भी कोई इच्छा चरितार्थ नहीं होती—वस्तुस्वभाव ही सर्वत्र अपना कार्य करता हुआ जान पड़ता है। इससे अधिक उसका यह आशय कदापि नहीं लिया जा सकता कि ज्ञान भी साधारण दर्पणकी तरह जड है, दर्पण-धातुका बना हुआ है, दर्पणके समान एक पार्श्व (Side) ही उसका प्रकाशित है और वह उस पार्श्वके सामने निरावरण अथवा व्यवधानरहित अवस्थामें स्थित तात्कालिक मूर्तिक पदार्थको ही प्रतिबिम्बित करता है। ऐसा आशय लेना उपमान-उपमेय-भाव तथा वस्तु-स्वभावको न समझने जैसा होगा।

इसके सिवाय, दर्पण भी तरह तरहके होते हैं। एक सर्व-साधारण दर्पण, जो शरीरके ऊपरी भागको ही प्रतिबिम्बित करता है—चर्म-मांसके भीतर स्थित हाड़ों आदि को नहीं; परन्तु दूसरा ऐक्स-रेका दर्पण चर्म-मांसके व्यवधानमें स्थित हाड़ों आदिको भी प्रतिबिम्बित करता है। एक प्रकारका दर्पण समीप अथवा कुछ ही दूरके पदार्थोंको प्रतिबिम्बित करता है, दूसरा दर्पण (रेडियो आदिके द्वारा) बहुत दूरके पदार्थोंको भी अपनेमें प्रतिबिम्बित कर लेता है। और यह बात तो साधारण दर्पणों तथा फोटो दर्पणोंमें भी पाई जाती है कि वे बहुतसे पदार्थोंको अपनेमें युगपत् प्रतिबिम्बित करलेते हैं और उसमें कितने ही निकट तथा दूरवर्ती पदार्थोंका पारस्परिक अन्तराल भी लुप्त-गुप्तसा हो जाता है, जो विधिपूर्वक देखनेसे स्पष्ट जाना जाता है। इसके अलावा स्मृतिज्ञान-दर्पणमें हजारों मील दूरकी और वीसियों वर्ष पहलेकी देखी हुई घटनाएँ तथा शक्लें (आकृतियाँ) साफ झलक आती हैं। और जाति-स्मरणका दर्पण तो उससे भी बढ़ा चढ़ा होता है, जिसमें पूर्वजन्म अथवा जन्मोंकी सैंकड़ों वर्ष पूर्व और हजारों मील दूर तककी भूतकालीन घटनाएँ साफ झलक

आती हैं। इसी तरह निमित्तादि श्रुतज्ञान-द्वारा चन्द्र-सूर्य-ग्रहणादि जैसी भविष्यकी घटनाओंका भी सच्चा प्रतिभास हुआ करता है। जब लौकिक दर्पणों और स्मृति आदि क्षायोपशमिक ज्ञानदर्पणोंका ऐसा हाल है तब केवलज्ञान-जैसे अलौकिक दर्पण-की तो बात ही क्या है? उस सर्वातिशायी ज्ञानदर्पणमें अलोक-सहित तीनों लोकोंके वे सभी पदार्थ प्रतिभासित होते हैं जो 'ज्ञेय' कहलाते हैं—चाहे वे वर्तमान हों या अवर्तमान। क्योंकि ज्ञेय वही कहलाता है जो ज्ञानका विषय होता है—ज्ञान जिसे जानता है। ज्ञानमें लोक-अलोकके सभी ज्ञेय पदार्थोंको जाननेकी शक्ति है, वह तभी तक उन्हें अपने पूर्णरूपमें नहीं जान पाता जब तक उसपर पड़े हुए आवरणादि प्रतिबन्ध सर्वथा दूर होकर वह शक्ति पूर्णतः विकसित नहीं हो जाती। ज्ञान-शक्तिके पूर्ण-विकसित और चरितार्थ होनेमें बाधक कारण हैं ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नामके चार घातिया कर्म। इन चारों घातिया कर्मोंकी सत्ता जब आत्मामें नहीं रहती तब उसमें उस अप्रतिहतशक्ति ज्ञान-ज्योतिका उदय होता है जिसे लोक-अलोकके सभी ज्ञेय पदार्थोंको अपना विषय करनेसे फिर कोई रोक नहीं सकता।

जिस प्रकार यह नहीं हो सकता कि दाहक-स्वभाव अग्नि मौजूद हो, दाह्य—इन्धन भी मौजूद हो, उसे दहन करनेमें अग्नि-के लिए कोई प्रकारका प्रतिबन्ध भी न हो और फिर भी वह अग्नि उस दाह्यकी दाहक न हो; उसी प्रकार यह भी नहीं हो सकता कि उक्त अप्रतिहत-ज्ञानज्योतिका धारक कोई केवलज्ञानी हो और वह किसी भी ज्ञेयके विषयमें अज्ञानी रह सके। इसी आशयको श्रीविद्यानन्दस्वामीने अपनी अष्टसहस्रीमें, जो कि समन्तभद्रकृत-आप्तमीमांसाकी टीका है, निम्न पुरातन वाक्य-द्वारा व्यक्त किया है—

"ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धने।
दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धने ॥"

अतः श्रीवर्द्धमानस्वामीके ज्ञानदर्पणमें अलोक-सहित तीनों लोकोंके प्रतिभासित होनेमें बाधाके लिये कोई स्थान नहीं है; जब कि वे घातिकर्ममलको दूर करके निर्धूतकलिलात्मा हो चुके थे। इसीसे उनके इस विशेषणको पहले रक्खा गया है। और चूँकि उनके इस निर्धूतकलिलात्मत्व नामक गुणविशेषका बोध हमें उनकी युक्तिशास्त्राविरोधिनी दिव्य-वाणीके द्वारा होता है† इसलिये उस भारती-विभूति-संसूचक 'श्री' विशेषणको कारिकामें उससे भी पहला स्थान दिया गया है।

इस प्रकार यह निबद्ध मङ्गलाचरण ग्रन्थकारमहोदय स्वामी समन्तभद्रके उस अनुचिन्तनका परिणाम है जो ग्रन्थकी रूप-रेखा-को स्थिर करनेके अनन्तर उसके लिये अपनेको श्रीवर्द्धमानस्वामी-का आभारी माननेके रूपमें उनके हृदयमें उदित हुआ है, और इसलिये उन्होंने सबसे पहले 'नमः' शब्द कहकर भगवान् वर्द्धमान के आगे अपना मस्तक झुका दिया है और उसके द्वारा उनके उपकारमय आभारका स्मरण करते हुए अपनी अहंकृतिका परि-त्याग किया है। ऐसा वे मौखिकरूपसे मङ्गलाचरण करके भी कर सकते थे—उसे ग्रन्थमें निबद्ध करके उसका अङ्ग बनानेकी जरूरत नहीं थी। परन्तु ऐसा करना उन्हें इष्ट नहीं था। वे आप्त-पुरुषोंके ऐसे स्तवनों तथा स्मरणोंको कुशल-परिणामोंका—पुण्य-प्रसाधक शुभभावोंका—कारण समझते थे और उनके द्वारा श्रेयोमार्गका सुलभ तथा स्वाधीन होना प्रतिपादन करते थे*।

† इस विषयका विशेष स्पष्टीकरण स्वयं स्वामी समन्तभद्रने अपने 'आप्तमीमांसा' (देवागम) नामके दूसरे ग्रन्थमें *'स त्वमेवासि निर्दोषो युक्ति-शास्त्राविरोधिवाक्'* इत्यादि वाक्योंके द्वारा विस्तारके साथ किया है।

* देखो, स्वयम्भूस्तोत्रकी 'स्तुतिः स्तोतुः साधोः' कारिका ११६

उन्होंने '*आगसां जये*' जैसे पदोंके द्वारा अपनी स्तुतिविद्याका लक्ष्य 'पापोंको जीतना' बतलाया है×। और इसलिये ऐसे स्तवनादिकोंसे उन्हें जो आत्मसन्तोष होता था उसे वे दूसरोंको भी कराना चाहते थे और आत्मोत्कर्षकी साधनाका जो भाव उनके हृदयमें जागृत होता था उसे वे दूसरोंके हृदयमें भी जगाना चाहते थे। ऐसी ही शुभ भावनाको लेकर उन्होंने ग्रन्थकी आदि में किये हुए अपने मङ्गलाचरणको ग्रन्थमें निबद्ध किया है, और उसके द्वारा पढ़ने-सुननेवालोंकी श्रेय-साधनामें सहायक होते हुए उन्हें अपनी तात्कालिक मनःपरिणतिको समझनेका अवसर भी दिया है।

निःसन्देह, इस सुपरीक्षित और सुनिर्णीत गुणोंके स्मरणको लिये हुए मङ्गलपद्यको शास्त्रकी आदिमें रखकर स्वामी समन्तभद्र-ने भगवान् वर्द्धमानके प्रति अपनी श्रद्धा, भक्ति, गुणज्ञता और गुण-प्रीतिका बड़ा ही सुन्दर प्रदर्शन किया है। और इस तरहसे वर्तमान धर्मतीर्थके प्रवर्तक श्रीवीर-भगवानको तद्रूपमें—आप्तके उक्त तीनों गुणोंसे विशिष्ट रूपमें—देखने तथा समझनेकी दूसरों-को प्रेरणा भी की है।

इस शिष्ट-पुरुषानुमोदित और कृतज्ञ-जनताभिनन्दित स्वेष्ट-फलप्रद मङ्गलाचरणके अनन्तर अब स्वामी समन्तभद्र अपने अभिमत शास्त्रका प्रारम्भ करते हुए उसके प्रतिपाद्य विषयकी प्रतिज्ञा करते हैं:—

धर्मदेशनाकी प्रतिज्ञा और धर्मके विशेषण

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥२॥

× देखो, स्तुतिविद्या (जिनशतक), पद्य नं० १

'मैं उस समीचीन धर्मका निर्देश (वर्णन) करता हूँ जो कर्मोंका विनाशक है और जीवोंको संसारके दुःखसे—दुःखसमूहसे—निकालकर कर उत्तम-सुखमें धारण करता है।'

व्याख्या—इस वाक्यमें जिस धर्मके स्वरूप-कथनकी '*देशयामि*' पदके द्वारा प्रतिज्ञा की गई है उसके तीन खास विशेषण हैं—सबसे पहला तथा मुख्य विशेषण है 'समीचीन' दूसरा 'कर्मनिवर्हण' और तीसरा 'दुखसे उत्तम-सुखमें धारण'। पहला विशेषण निर्देश्य धर्मकी प्रकृतिका द्योतक है और शेष दो उसके अनुष्ठान-फलका सामान्यतः (संक्षेपमें) निरूपण करने वाले हैं।

'कर्म' शब्द विशेषण-शून्य प्रयुक्त होनेसे उसमें द्रव्यकर्म और भावकर्मरूपसे सब प्रकारके अशुभादि कर्मोंका समावेश है, जिनमें रागादिक 'भावकर्म' और ज्ञानावरणादिक' 'द्रव्यकर्म' कहलाते हैं। धर्मको कर्मोंका निवर्हण-विनाशक बतलाकर इस विशेषणके द्वारा यह सूचित किया गया है कि वह वस्तुतः कर्म-बन्धका कारण नहीं* प्रत्युत इसके, बन्धसे छुड़ानेवाला है। और

* इसी बातको श्रीअमृतचन्द्राचार्यने पुरुषार्थसिद्ध्युपायके निम्न वाक्योंमें धर्मके अलग अलग तीन अङ्गोंको लेकर स्पष्ट किया है और बतलाया है कि जितने अंशमें किसीके धर्मका वह अङ्ग है उतने अंशमे उसके कर्मबन्ध नहीं होता—कर्मबन्धका कारण रागांश है, वह जितने अंशोंमें साथ होगा उतने अंशोंमें बन्ध बँधेगा :—

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनाऽस्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनाऽस्य बन्धनं भवति ॥२१२॥

येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनाऽस्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनाऽस्य बन्धनं भवति ॥२१३॥
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनाऽस्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनाऽस्य बन्धनं भवति ॥२१४॥

जो बन्धनसे छुड़ाने वाला होता है वही दुखसे निकालकर सुखमें धारण करता है; क्योंकि बन्धनमें—पराधीनतामें—सुख नहीं किन्तु दुःख ही दुःख है। इसी विशेषणकी प्रतिष्ठापर तीसरा विशेषण चरितार्थ होता है, और इसी लिए वह 'कर्मनिवर्हण' विशेषणके अनन्तर रक्खा गया जान पड़ता है।

सुख जीवोंका सर्वोपरि ध्येय है और उसकी प्राप्ति धर्मसे होती है। धर्म सुखका साधन (कारण) है और साधन कभी साध्य (कार्य) का विरोधी नहीं होता, इसलिये धर्मसे वास्तवमें कभी दुःखकी प्राप्ति नहीं होती, वह तो सदा दुःखोंसे छुड़ाने-वाला ही है। इसी बातको लेकर श्रीगुणभद्राचार्यने, आत्मानुशासनमें, निम्न वाक्यके द्वारा सुखका आश्वासन देते हुए उन लोगोंको धर्ममें प्रेरित किया है जो अपने सुखमें बाधा पहुँचनेके भयको लेकर धर्मसे विमुख बने रहते हैं—

धर्मः सुखस्य हेतुर्हेतुर्न विराधकः स्वकार्यस्य।
तस्मात्सुखभङ्गभिया माभूर्धर्मस्य विमुखस्त्वम् ॥२०॥

धर्म करते हुए भी यदि कभी दुःख उपस्थित होता है तो उसका कारण पूर्वकृत कोई पापकर्मका उदय ही समझना चाहिये, न कि धर्म ! 'धर्म' शब्दका व्युत्पत्यर्थ अथवा निरुक्त्यर्थ भी इसी बातको सूचित करता है और उस अर्थको लेकर ही तीसरे विशेषणकी घटना (सृष्टि) की गई है। उसमें सुखका 'उत्तम' विशेषण भी दिया गया है, जिससे प्रकट है कि धर्मसे उत्तम सुखकी—शिवसुखकी अथवा यों कहिये कि अबाधित सुखकी—प्राप्ति तक होनी है; तब साधारण सुख तो कोई चीज ही नहीं—वे तो धर्मसे सहजमें ही प्राप्त होजाते हैं। सांसारिक दुःखोंके छूटनेसे सांसारिक उत्तम सुखोंका प्राप्त होना उसका आनुषङ्गिक फल है—धर्म उसमें बाधक नहीं, और इस तरह प्रकारान्तरसे धर्म संसारके उत्तम सुखोंका भी साधक है, जिन्हें ग्रन्थमें 'अभ्युदय' शब्दके

द्वारा उल्लेखित किया गया है❀ । इसीसे दूसरे आचार्योंने '*धर्मः सर्वसुखाकरो हितकरो*' इत्यादि वाक्योंके द्वारा धर्मका कीर्तन किया है। और स्वयं स्वामी समन्तभद्रने ग्रन्थके अन्तमें यह प्रतिपादन किया है कि जो अपने आत्माको इस (रत्नत्रय) धर्मरूप परिणत करता है उसे तीनों लोकोंमें 'सर्वार्थसिद्धि' स्वयं-वराकी तरह वरती है अर्थात् उसके सब प्रयोजन अनायास सिद्ध होते हैं।' और इसलिये धर्म करनेसे सुखमें बाधा आती है ऐसा समझना भूल ही होगा ।

वास्तवमें उत्तम सुख जो परतन्त्रतादिके अभावरूप शिव-(निःश्रेयस) सुख है और जिसे स्वयं स्वामी समन्तभद्रने 'शुद्ध-सुख'× बतलाया है उसे प्राप्त करना ही धर्मका मुख्य लक्ष्य है— इन्द्रियसुखों अथवा विषयभोगोंको प्राप्त करना धर्मात्माका ध्येय नहीं होता। इन्द्रियसुख बाधित, विषम, पराश्रित, भंगुर, बन्ध-हेतु और दुःखमिश्रित आदि दोषोंसे दूषित है† । स्वयं स्वामी समन्तभद्रने इसी ग्रन्थमें '*कर्मपरवशे*' इत्यादि *कारिका*-(१२) द्वारा उसे 'कर्मपरतन्त्र, सान्त (भंगुर), दुःखोंसे अन्तरित—एकरसरूप न रहनेवाला—तथा पापोंका बीज बतलाया है। और लिखा है कि धर्मात्मा (सम्यग्दृष्टि) ऐसे सुखकी आकांक्षा नहीं करता।' और इसलिये जो लोग इन्द्रिय-विषयोंमें आसक्त हैं—फँसे हुए हैं—अथवा सांसारिक सुखको ही सब कुछ समझते हैं वे भ्रान्त-

❀ देखो, 'निःश्रेयसमभ्युदयं' तथा 'पूजार्थाज्ञैश्वर्यैः' नामकी कारि-काएँ (१३०, १३५)

× 'निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम् ।' (१३१)

† श्रीकुन्दकुन्दाचार्य, प्रवचनसार (१-७६) में, ऐसे इन्द्रियसुखको वस्तुतः दुःख ही बतलाते हैं। यथा—

सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
जं इंदियेहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ॥

थित हैं—उन्होंने वस्तुतः अपनेको समझा ही नहीं और न उन्हें निराकुलतामय सच्चे स्वाधीन सुखका कभी दर्शन या आभास ही हुआ है।

यहाँ पर इतना और भी जान लेना चाहिये कि उक्त तीसरे विशेषणके संघटक वाक्य '*संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे*' में '*सत्वान्*' पद सब प्रकारके विशेषणोंसे रहित प्रयुक्त हुआ है और इससे यह स्पष्ट है कि धर्म किसी जाति या वर्ग-विशेषके जीवों-का ही उद्धार नहीं करता बल्कि ऊँच-नीचादिका भेद न कर जो भी जीव—भले ही वह म्लेच्छ, चाण्डाल, पशु, नारकी, देवादिक कोई भी क्यों न हो—उसका धारण करता है, उसे ही वह दुःखसे निकालकर सुखमें स्थापित करता है और उस सुखकी मात्रा धारण किये हुए धर्मकी मात्रापर अवलम्बित रहती है—जो अपनी योग्यतानुसार जितनी मात्रामें धर्माचरण करेगा वह उतनी ही मात्रामें सुखी बनेगा। और इसलिये जो जितना अधिक दुःखित एवं पतित है उसे उतनी ही अधिक धर्मकी आवश्यकता है और वह उतना ही अधिक धर्मका आश्रय लेकर उद्धार पाने-का अधिकारी है।

वस्तुतः 'पतित' उसे कहते हैं जो स्वरूपसे च्युत है—स्वभाव-में स्थिर न रहकर इधर उधर भटकता और विभाव-परिणतिरूप परिणमता है—, और इसलिये जो जितने अंशोंमें स्वरूपसे च्युत है वह उतने अंशोंमें ही पतित है। इस तरह सभी संसारी जीव* एक प्रकारसे पतितोंकी कोटिमें स्थित और उसकी श्रेणियोंमें विभाजित हैं। धर्म जीवोंको उनके स्वरूपमें स्थिर करनेवाला है,

* जीवोंके दो मूलभेद हैं—संसारी और मुक्त; जैसाकि '*संसारिणो मुक्ताश्च*' इस तत्वार्थसूत्रसे प्रकट है। मुक्तजीव पूर्णतः स्वरूपमें स्थित होनेके कारण पतितावस्थासे अतीत होते हैं।

उनकी पतितावस्थाको मिटाता हुआ उन्हें ऊँचे उठाता है और इसलिये 'पतितोद्धारक' कहा जाता है। कूपमें पड़े हुए प्राणी जिस प्रकार रस्सेका सहारा पाकर ऊँचे उठ आते और अपना उद्धार कर लेते हैं उसी प्रकार संसारके दुःखोंमें डूबे हुए पतितसे पतित जीव भी धर्मका आश्रय एवं सहारा पाकर ऊँचे उठ आते हैं और दुःखोंसे छूट जाते हैं×। स्वामी समन्तभद्र तो 'अति-हीन' (नीचातिनीच) को भी इसी लोक में 'अतिगुरु' (अत्युच्च) तक होना बतलाते हैं*। ऐसी स्थितिमें स्वरूपसे ही सब जीवोंका धर्मके ऊपर समान अधिकार है और धर्मका भी किसीके साथ कोई पक्षपात नहीं है—वह ग्रन्थकारके शब्दोंमें 'जीवमात्रका बन्धु'† है तथा स्वाश्रयमें प्राप्त सभी जीवोंके प्रति समभावसे वर्तता है। इसी दृष्टिको लक्ष्यमें रखते हुए ग्रन्थकारमहोदयने स्वयं ही ग्रन्थ-में आगे यह प्रतिपादन किया है कि 'धर्मके प्रसादसे कुत्ता भी ऊँचा उठकर (अगले जन्ममें) देवता बन जाता है और ऊँचा उठा हुआ देवता भी पापको अपनाकर धर्मभ्रष्ट हो जानेसे (जन्मान्तरमें) कुत्ता बन जाता है‡।' साथ ही, यह भी बतलाया है कि धर्मसम्पन्न एक चाण्डालका पुत्र भी 'देव' है—आराध्य है§,

× "संसार एष कूपः सलिलानि विपत्ति-जन्म-दुःखानि।
इह धर्म एव रज्जुस्तस्मादुद्धरति निर्मग्नान् ॥" (पुरातन)

* यो लोके त्वा नतः सोऽतिहीनोऽप्यतिगुरुर्यतः।
—स्तुतिविद्या (जिनशतक) ८२

† पापमरातिर्धर्मो बन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन्। (१४८)

‡ श्वाऽपि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्म-किल्विषात्। (२९)

§ सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्म-गूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥ (२८)
'देवं आराध्यं'-इति प्रभाचन्द्रः टीकायाम्।

और स्वभावसे अपवित्र शरीर भी धर्म (रत्नत्रय) के संयोग-से पवित्र हो जाता है। अतः अपवित्र शरीर एवं हीन जाति धर्मात्मा तिरस्कारका पात्र नहीं—निर्जुगुप्सा अंगका धारक धर्मात्मा ऐसे धर्मात्मासे घृणा न रखकर उसके गुणोंमें प्रीति रखता है ×। और जो जाति आदि किसी मदके वशवर्ती होकर ऐसा नहीं करता, प्रत्युत इसके ऐसे धर्मात्माका तिरस्कार करता है वह वस्तुतः आत्मीयधर्मका तिरस्कार करता है—फलतः आत्म-धर्मसे विमुख है; क्योंकि धार्मिकके विना धर्मका कहीं अवस्थान नहीं और इसलिए धार्मिकका तिरस्कार ही धर्मका तिरस्कार है—जो धर्मका तिरस्कार करता है वह किसी तरह भी धर्मात्मा नहीं कहा जा सकता*। ये सब बातें समन्तभद्र स्वामीकी धर्म-मर्मज्ञता-के साथ साथ उनकी धर्माधिकार-विषयक उदार भावनाओंकी द्योतक हैं और इन सबको दृष्टि-पथमें रखकर ही *'सत्वान्'* पद सब प्रकारके विशेषणोंसे रहित प्रयुक्त हुआ है। अस्तु।

अब रही 'समीचीन' विशेषणकी बात, धर्मको प्राचीन या अर्वाचीन आदि न बतलाकर जो 'समीचीन' विशेषणसे विभू-षित किया गया है वह बड़ा ही रहस्यपूर्ण है; क्योंकि प्रथम तो जो प्राचीन है वह समीचीन भी हो ऐसा कोई नियम नहीं है। इसी तरह जो अर्वाचीन (नवीन) है वह असमीचीन ही हो ऐसा भी कोई नियम नहीं है। उदाहरणके लिये अनादि-मिथ्यात्व तथा प्रथमोपशम-सम्यक्त्वको लीजिये, अनादि कालीन मिथ्यात्व प्राचीनसे प्राचीन होते हुए भी समीचीन (यथावस्थित वस्तुतत्त्वके श्रद्धानादिरूपमें) नहीं है

× स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रय-पवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुण-प्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता ॥ (१३)

* स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥ (२६)

और इसलिये मात्र प्राचीन होनेसे उस मिथ्याधर्मका समीचीन धर्मके रूपमें ग्रहण नहीं किया जा सकता । प्रत्युत इसके, सम्यक्त्व गुण जब उत्पन्न होता है तब मिथ्यात्वके स्थानपर नवीन ही उत्पन्न होता है; परन्तु नवीन होते हुए भी वह समीचीन है और इसलिये सद्धर्मके रूपमें उसका ग्रहण है— उसकी नवीनता उसमें कोई बाधक नहीं होती। नतीजा यह निकला कि कोई भी धर्म चाहे वह प्राचीन हो या अर्वाचीन, यदि समीचीन है तो वह ग्राह्य है अन्यथा ग्राह्य नहीं है। और इसलिये प्राचीन तथा अर्वाचीनसे समीचीनका महत्व अधिक है, वह प्रतिपाद्यधर्मका असाधारण विशेषण है, उसकी मौजूदगी में ही अन्य दो विशेषण अपना कार्य भली प्रकार करनेमें समर्थ हो सकते हैं; अर्थात् धर्मके समीचीन (यथार्थ) होने पर ही उसके द्वारा कर्मोंका नाश और जीवात्माको संसारके दुःखोंसे निकाल कर उत्तम सुखमें धारण करना बन सकता है—अन्यथा नहीं। इसीसे समीचीनताका ग्राहक प्राचीन और अर्वाचीन दोनों प्रकारके धर्मोंको अपना विषय बनाता है अर्थात् प्राचीनता तथा अर्वाचीनता का मोह छोड़कर उनमें जो भी यथार्थ होता है उसे ही अपनाता है। दूसरे, धर्मके नाम पर लोकमें बहुतसी मिथ्या बातें भी प्रचलित होरही हैं उन सबका विवेक कर यथार्थ धर्म-देशनाकी सूचनाको लिये हुए भी यह विशेषण पद है। इसके सिवाय, प्रत्येक वस्तुकी समीचीनता (यथार्थता) उसके अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावपर अवलम्बित रहती है—दूसरेके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावपर नहीं—द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावमेंसे किसीके भी बदल जाने पर वह अपने उस रूपमें स्थिर भी नहीं रहती और यदि द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी प्रक्रिया विपरीत होजाती है तो वस्तु भी अवस्तु होजाती है* अर्थात् जो ग्राह्य वस्तु है वह त्याज्य

* वस्त्वेवाऽवस्तुतां याति प्रक्रियाया विपर्ययात् । —देवागमे, समन्तभद्रः

और जो त्याज्य है वह ग्राह्य बन जाती है। ऐसी स्थितिमें धर्मका जो रूप समीचीन है वह सबके लिये समीचीन ही है और सब अवस्थाओंमें समीचीन है ऐसा नहीं कहा जा सकता—वह किसी-के लिये और किसी अवस्थामें असमीचीन भी हो सकता है। उदाहरणके रूपमें एक गृहस्थ तथा मुनिको लीजिये, गृहस्थके लिये स्वदारसन्तोष, परिग्रहपरिमाण अथवा स्थूलरूपसे हिंसादि के त्यागरूपव्रत समीचीन धर्मके रूपमें ग्राह्य हैं—जब कि वे मुनि के लिये उस रूपमें ग्राह्य नहीं हैं—एक मुनि महाव्रत धारणकर यदि स्वदारगमन करता है, धन-धान्यादि बाह्य परिग्रहोंको परि-माणके साथ रखता है और मात्र संकल्पी हिंसाके त्यागका ध्यान रखकर शेष आरम्भी तथा विरोधी हिंसाओंके करनेमें प्रवृत्त होता है तो वह अपराधी है; क्योंकि गृहस्थोचित समीचीन धर्म उसके लिये समीचीन नहीं है। एक गृहस्थके लिये भी स्वदारसन्तोषव्रत वहीं तक समीचीन है जहां तक कि वह ब्रह्मचर्यव्रत नहीं लेता अथवा श्रावककी सातवीं श्रेणी पर नहीं चढ़ता, ब्रह्मचर्य व्रत लेलेने या सातवीं श्रेणी चढ़ जाने पर स्वदारगमन उसके लिये भी वर्जित तथा असमीचीन होजाता है। ऐसा ही हाल दूसरे धर्मों, नियमों तथा उपनियमोंका है। उपनियम प्रायः नियमोंकी मूलदृष्टि परसे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी सम्यक् योजनाके साथ फलित किये जाते हैं; जैसे कि भोज्य पदार्थोंके सेवनकी काल-विषयक मर्यादाका उपनियम, जो उस कालके अनन्तर उन पदार्थोंमें त्रस जीवोंकी उत्पत्ति मानकर उन जीवोंकी हिंसा तथा मांस भक्षणके दोषसे बचनेके लिये किया जाता है; परन्तु वह काल-मर्यादा जिस तरह सब पदार्थोंके लिये एक नहीं होती उसी तरह एक प्रकार या एक जातिके पदार्थोंके लिये भी सब समयों सब क्षेत्रों और सब अवस्थाओंकी दृष्टिसे एक नहीं होती और न हो सकती है। ग्रीष्म या वर्षा ऋतुमें उष्ण

प्रदेशस्थित एक पदार्थ यदि तीन दिनमें विकारग्रस्त होता है तो वही पदार्थ शीतप्रधान पहाड़ी प्रदेशमें स्थित होने पर उससे कई गुने अधिक समय तक भी विकारको प्राप्त नहीं होता। उष्ण-प्रधान प्रदेशोंमें भी असावधानीसे रक्खा हुआ पदार्थ जितना जल्दी विकृत होता है उतनी जल्दी सावधानीसे सीलादिको बचा-कर रक्खा हुआ नहीं होता। जो पदार्थ वायुप्रतिबंधक (Air-tight) पात्रोंमें तथा बर्फके सम्पर्कमें रक्खा जाता है अथवा जिसके साथ-में पारे आदिका संयोग होता है उसके विकृत न होनेकी काल-मर्यादा तो और भी बढ़ जाती है। ऐसी स्थितिमें मर्यादाकी समी-चीनता-असमीचीनता बहुत कुछ विचारणीय होजाती है और उसके लिये सर्वथा कोई एक नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता। अधिकांशमें तो वह सावधान पुरुषके विवेकपर निर्भर रहती है, जो सब परिस्थितियोंको ध्यानमें रखता और वस्तु-विकार*-सम्बन्धी अपने अनुभवसे काम लेता हुआ उसका निर्धार करता है। इन्हीं तथा इन्हीं जैसी दूसरी बातोंको ध्यानमें रखकर इस ग्रन्थमें धर्मके अंगों तथा उपांगों आदिके लक्षणोंका निर्देश किया गया है और विशेषणों आदिके द्वारा, जैसे भी सूत्र रूपमें बन पड़ा अथवा आवश्यक समझा गया, इस बातको सुझाने का यत्न किया है कि कौन धर्म, किसके लिये, किस दृष्टिसे कैसी परिस्थितिमें और किस रूपमें ग्राह्य है; यही सब उसकी समी-चीनताका द्योतक है जिसे मालूम करने तथा व्यवहारमें लानेके लिये बड़ी ही सतर्कदृष्टि रखनेकी जरूरत है। सद्दृष्टि-विहीन तथा विवेक-विकल कुछ क्रियाकाण्डोंके कर लेने मात्रसे ही धर्मकी समीचीनता नहीं सधती।

* खाद्य-वस्तु-विकार प्राय: वस्तुके स्वाभाविक वर्ण-रस-गंधके बिगड़ जाने, उसमें फूई लग जाने अथवा फूली-जाला पड़ जाने आदिसे लक्षित होता है।

एकमात्र धर्म-देशना अथवा धर्म-शासनको लिये हुए होनेसे यह ग्रंथ 'धर्मशास्त्र' पदके योग्य है। और चूंकि इसमें वर्णित धर्म-का अन्तिम लक्ष्य संसारी जीवोंको अक्षय-सुखकी प्राप्ति कराना है, इसलिये प्रकारान्तरसे इसे 'सुख-शास्त्र' भी कह सकते हैं। शायद इसीलिये विक्रमकी ११वीं शताब्दीके विद्वान् आचार्य वादिराज-सूरिने, अपने पार्श्वनाथचरितमें स्वामी समन्तभद्र योगीन्द्रका स्तवन करते हुए, उनके इस धर्मशास्त्रको "अक्षय्यसुखावहः" विशेषण देकर अक्षय-सुखका भण्डार बतलाया है *।

कारिकामें दिये हुए *'देशयामि समीचीनं धर्मं'* इस प्रतिज्ञा-वाक्यपरसे ग्रन्थका असली अथवा मूल नाम 'समीचीन-धर्म-शास्त्र' जान पड़ता है, जिसका आशय है 'समीचीन धर्मकी देशना (शास्ति) को लिये हुए ग्रन्थ', और इस लिये यही मुख्य नाम इस सभाष्य ग्रन्थको देना यहाँ उचित समझा गया है, जो कि ग्रन्थकी प्रकृतिके भी सर्वथा अनुकूल है। दूसरा 'रत्नकरण्ड' (रत्नोंका पिटारा) नाम ग्रन्थमें निर्दिष्ट धर्मका रूप रत्नत्रय होनेसे उन रत्नोंके रक्षणोपायभूतके रूपमें है और ग्रन्थके अन्तकी एक कारिकामें *'येन स्वयं वीतकलङ्कविद्या-दृष्टि-क्रिया-रत्नकरण्डभावं नीतः'* इस वाक्यके द्वारा उस रत्नत्रय धर्मके साथ अपने आत्माको 'रत्न-करण्ड' के भावमें परिणत करनेका जो वस्तु-निर्देशात्मक उपदेश दिया गया है उस परसे भी फलित होता है। दोनोंमें 'समीचीन-धर्मशास्त्र' यह नाम प्रतिज्ञाके अधिक अनुरूप स्पष्ट और गौरव-पूर्ण प्रतीत होता है। समन्तभद्रके और भी कई ग्रन्थोंके दो दो नाम हैं; जैसे देवागमका दूसरा नाम आप्तमीमांसा; स्तुति-विद्या का दूसरा नाम जिनस्तुतिशतक (जिनशतक) और स्वयम्भूस्तोत्र-

* त्यागी स एव योगीन्द्रो येनाऽक्षय्यसुखावहः।
अर्थिने भव्य-सार्थाय दिष्टो रत्नकरण्डकः ॥१९॥

का दूसरा नाम समन्तभद्रस्तोत्र है, और ये सब प्रायः अपने अपने आदि-अन्तके पद्योंकी दृष्टिको लिये हुए हैं। अस्तु।

अब आचार्य महोदय प्रतिज्ञात धर्मके स्वरूपादिका वर्णन करते हुए लिखते हैं—

धर्म-लक्षण

सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीय-प्रत्यनीकानि भवन्ति भव-पद्धतिः ॥ ३ ॥

'धर्मके अधिनायकोंने—धर्मानुष्ठानादि-तत्पर अथवा धर्मरूप-परिणत आप्त-पुरुषोंने—सद्दृष्टि—सम्यग्दर्शन—, सत्ज्ञान—सम्यग्ज्ञान—और सद्वृत्त—सम्यक्चारित्र—को 'धर्म' कहा है। इनके प्रतिकूल जो असद्दृष्टि, असत्ज्ञान, असद्वृत्त—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र—हैं वे सब भवपद्धति हैं—संसारके मार्ग हैं।'

व्याख्या—मूलमें प्रयुक्त 'सत्' शब्दका सम्बन्ध दृष्टि, ज्ञान, वृत्त तीनोंके साथ है और उसका प्रयोग सम्यक्, शुद्ध, समीचीन तथा वीतकलंक (निर्दोष) जैसे अर्थमें हुआ है; जैसा कि '*श्रद्धानं परमार्थानां*, *भयाशास्नेहलोभाच्च*, *प्रथमानुयोगमर्थां*, *येन स्वयं वीतकलङ्कविद्या*' इत्यादि कारिकाओं (४, ३०, ४३, १४६) से प्रकट है। '*हिंसाऽनृतचौर्येभ्यो*' इस कारिकामें प्रयुक्त 'संज्ञस्य' पदका 'सं' भी इसी अर्थको लिये हुए है और इसीके लिये स्वयम्भूस्तोत्रमें 'समञ्जस' * जैसे शब्दका प्रयोग किया गया है।

'दृष्टि' को दर्शन तथा श्रद्धान; 'ज्ञान' को बोध तथा विद्या और 'वृत्त' को चारित्र, चरण तथा क्रिया नामोंसे भी इसी ग्रन्थमें उल्लेखित किया गया है†। इसी तरह 'सद्दृष्टि'को सम्यग्दर्शन-

* "समञ्जस-ज्ञान-विभूति-चक्षुषा" का० १।

† देखो, कारिका नं० ४, २१, ३१ आदि; ३२, ४३, ४६ आदि; ४९ ५०, १४६ आदि।

के अतिरिक्त सम्यक्त्व तथा निर्मोह और 'सत्ज्ञान'को 'तथामति' नाम भी दिया गया है†। साथ ही अपनी स्तुतिविद्या (जिन-शतक) में ग्रन्थकारमहोदयने सद्दृष्टिके लिये 'सुश्रद्धा'‡ शब्दका तथा स्वयम्भूस्तोत्रमें सद्वृत्तके लिये 'उपेक्षा'* शब्दका भी प्रयोग किया है और इसलिये अपने अपने वर्गानुसार एक ही अर्थके वाचक प्रत्येक वर्गके इन शब्दोंको समझना चाहिये।

यहाँ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको जो 'धर्म' कहा गया है वह जीवात्माके धर्मका त्रिकालाबाधित सामान्य लक्षण अथवा उसका मूलस्वरूप है। इसीको 'रत्नत्रय' धर्म भी कहते हैं,जिसका उल्लेख स्वयं स्वामी समन्तभद्रने कारिका नं०१३ में *'रत्नत्रयपवित्रिते'* पदके द्वारा किया है, और स्वयम्भूस्तोत्रकी कारिका ८४ में भी *'रत्नत्रयातिशयतेजसि'* पदके द्वारा जिसका उल्लेख है। ये ही वे तीन रत्न हैं जिनके स्वरूप-प्रतिपादनकी दृष्टिसे आधारभूत अथवा रक्षणोपायभूत होनेके कारण इस ग्रन्थ को 'रत्नकरण्ड' (रत्नोंका पिटारा) नाम दिया गया जान पड़ता है। अस्तु; धर्मका यह लक्षण धर्माधिकारी आप्तपुरुषों (तीर्थंकरा-दिकों) के द्वारा प्रतिपादित हुआ है, इससे स्पष्ट है कि वह प्राचीन है, और इस तरह स्वामीजीने उसके विषयमें अपने कर्तृत्वका निषेध किया है।

जब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्रको 'धर्म' कहा गया है तब यह स्पष्ट है कि मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र 'अधर्म' हैं—पापके मूलरूप हैं। इनके लिये ग्रन्थमें

---

† देखो, कारिका ३२, ३४; ४४।

‡ 'सुश्रद्धा मम ते मते' इत्यादि पद्य नं० ११४

* मोहरूपो रिपुः पापः कषायभटसाधनः।
दृष्टि-संविदुपेक्षास्त्रैस्त्वया धीर ! पराजितः ॥ ६० ॥

'पाप' शब्दका प्रयोग भी किया गया है और पापको 'किल्विष' नामके द्वारा भी उल्लेखित किया है; जैसा कि कारिका नं० २७, २६, ४६, १४८ आदिसे स्पष्ट ध्वनित है। और इन्हें जब 'भव-पद्धति' बतलाकर संसारके मार्ग—संसारपरिभ्रमणके कारण अथवा सांसारिक दुःखोंके हेतुभूत—निर्दिष्ट किया गया है तब यह स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिले हुए ही 'मोक्षपद्धति' अर्थात् मोक्षका एक मार्ग हैं—संसारदुःखोंसे छूटकर उत्तम सुखको पानेके उपायस्वरूप हैं; क्योंकि 'मोक्ष' 'भव' का विपरीत (प्रत्यनीक) है, और यह बात स्वयं ग्रन्थकार-महोदयने ग्रन्थकी *'अशरणमशुभमनित्यं'* इत्यादि कारिका (१०४) में भवका स्वरूप बतलाते हुए *'मोक्षस्तद्विपरीतात्मा'* इन शब्दोंके द्वारा व्यक्त की है। इसीसे तत्त्वार्थसूत्रकी आदिमें श्रीउमास्वाति (गृध्रपिच्छाचार्य) ने भी कहा है—

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥

और यही बात श्रीप्रभाचन्द्राचार्यने अपने तत्त्वार्थसूत्रमें *'सद्दृष्टिज्ञानवृत्तात्मा मोक्षमार्गः सनातनः'* तथा *'सम्यग्दर्शनावगम-वृत्तानि मोक्षहेतुः'* इन मंगल तथा सूत्रवाक्योंके द्वारा प्रतिपादित की है। इसी रत्नत्रयरूप धर्मको स्वामी समन्तभद्रने प्रस्तुत ग्रन्थ में 'मोक्षमार्ग' के अतिरिक्त 'सन्मार्ग' तथा 'शुद्धमार्ग' भी लिखा है; और शुद्धसुखात्मक मोक्षको शिव, निर्वाण तथा निःश्रेयस नाम देकर 'शिवमार्ग' 'निर्वाणमार्ग' 'निःश्रेयसमार्ग' भी इसीके नामान्तर हैं ऐसा सूचित किया है†। साथ ही 'ब्रह्मपथ' भी इसी-का नाम है ऐसा स्वामीजीके युक्त्यनुशासनकी ४थी कारिकामें प्रयुक्त हुए *'ब्रह्मपथस्य नेता'* पदोंसे जाना जाता है, जो उमास्वाति-के *'मोक्षमार्गस्य नेतारं'* पदोंका स्मरण कराते हैं। यही संक्षेपमें

† देखो, कारिका ११, १५, ३१, ३३, ४१, १३१।

जिनशासन ‡ है जैनमार्ग है, अथवा वास्तविक सुखमार्ग है, और इस लिये मिथ्यादर्शनादिकको कुमार्ग, मिथ्यामार्ग, कापथ तथा दुःखमार्ग समझना चाहिये। ग्रन्थकी १४वीं कारिकामें इसके लिए '*कापथ*' शब्दका स्पष्ट प्रयोग है और उसे '*दुःखानां पथि*' लिखकर 'दुःखमार्ग' भी बतलाया गया है। ६ वीं कारिका-में भी '*कापथघट्टनं*' पदके द्वारा इसी कुमार्गका निर्देश और आगममें उसके खण्डन-विधानका प्ररूपण है।

यही सम्यग्दर्शनादिरूप वह धर्म है जिसे ग्रन्थकी द्वितीय कारिकामें 'कर्मनिवर्हण' बतलाया है और जो स्वयम्भूस्तोत्रकी कारिका ८४ के अनुसार वह सातिशय अग्नि है जिसके द्वारा कर्म-प्रकृतियोंको भस्म करके उनका आत्मासे सम्बन्ध विच्छेद करते हुए आत्मशक्तियोंको विकसित किया जाता है॥। और इस लिये जिसके विषयमें उक्त कारिकाकी व्याख्याके समय जो यह बतलाया जा चुका है कि 'वह वस्तुतः कर्मबन्धका कारण नहीं' वह ठीक ही है; क्योंकि चार प्रकारके बन्धनोंमेंसे प्रकृतिबन्ध तथा प्रदेशबन्ध योगसे और स्थितिबन्ध तथा अनुभागबन्ध कषायसे होते हैं* सम्यग्दर्शनादिक न योगरूप हैं और न कषायरूप हैं तब इनसे बन्ध कैसे हो सकता है ? × इस पर यह शंका की जा

‡ 'जिनशासन' नामसे इस मार्गका उल्लेख ग्रन्थकी कारिका १८ तथा ७८ में आया है।

॥ 'हुत्वा स्वकर्म-कटुकप्रकृतीश्चतस्रो,रत्नत्रयाऽतिशयतेजसि जातवीर्यः। बभ्राजिषे सकल-वेद-विधेर्विनेता,व्यभ्रे यथा वियति दीप्त-रुचिर्विवस्वान्।

* जोगा पयडि-पदेसा ठिदि-अणुभागा कसायदो होंति।—द्रव्यसंग्रह ३३

× योगात्प्रदेशबन्धः स्थितिबन्धो भवति यः कषायात्तु ।
दर्शन-बोध-चरित्रं न योगरूपं कषायरूपं च ॥ २१५ ॥
दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः ।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः॥२१६॥—पुरुषार्थसि०

सकती है कि आगममें सम्यग्दर्शनादि (रत्नत्रय) को तीर्थंकर, आहारक तथा देवायु आदि पुण्यप्रकृतियोंका जो बन्धक बतलाया है उसकी संगति फिर कैसे बैठेगी? इसके उत्तरमें इतना ही जान लेना चाहिये कि वह सब कथन नयविवक्षाको लिये हुए है, सम्यग्दर्शनादिके साथमें जब रागपरिणतिरूप योग और कषाय लगे रहते हैं तो उनसे उक्त कर्मप्रकृतियोंका बन्ध होता है और संयोगावस्थामें दो वस्तुओंके दो अत्यन्त विरुद्धकार्य होते हुए भी व्यवहारमें एकके कायको दूसरेका कार्य कह दिया जाता है, जैसे घीने जला दिया—जलानेका काम अग्निका है घीका नहीं, परन्तु दोनोंका संयोग होनेसे अग्निका कार्य घीके साथ रूढ होगया। इसी तरह रागपरिणतिरूप शुभोपयोगके साथमें जब सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय होते हैं तो उन्हें व्यवहारतः उक्त पुण्य प्रकृतियोंका बन्धक कहा जाता है, और इसलिये यह शुभोपयोगका ही अपराध है—शुद्धोपयोगकी दशामें ऐसा नहीं होता। अन्यथा, रत्नत्रयधर्म वास्तवमें मोक्ष (निर्वाण) का ही हेतु है, अन्य किसी कर्मप्रकृतिके बन्धका नहीं;जैसा कि आगम-रहस्यको लिये हुए श्री अमृतचन्द्राचार्यके निम्नवाक्योंसे प्रकट है—

सम्यक्त्व-चरित्राभ्यां तीर्थकराहारकर्मणो बन्धः ।
योऽप्युपदिष्टः समये न नयविदां सोऽपि दोषाय ॥२१७॥
सति सम्यक्त्वचरित्रे तीर्थकराहारबन्धकौ भवतः ।
योग-कषायौ नाऽसति तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम् ॥२१८॥
ननु कथमेवं सिद्ध्यतु देवायुःप्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः ।
सकलजनसुप्रसिद्धो रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणाम् ॥२१९॥
रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नाऽन्यस्य ।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः ॥२२०॥

एकस्मिन्समवायादत्यन्तविरुद्धकार्ययोरपि हि ।
इह दहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोऽपि रूढमितः ॥२२१॥

—पुरुषार्थसिद्धयुपाय

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि इस रत्नत्रयधर्मके मुख्य और उपचार अथवा निश्चय और व्यवहार ऐसे दो भेद हैं, जिनमें व्यवहारधर्म निश्चयका सहायक और परम्परा मोक्षका कारण है; जब कि निश्चयधर्म साक्षात् मोक्षका हेतु है। और इनकी आराधना दो प्रकारसे होती है—एक सकल-रूपमें और दूसरी विकलरूपमें। विकलरूप आराधना प्रायः गृहस्थोंके द्वारा बनती है और सकलरूप मुनियोंके द्वारा। विकल-रूपसे (एकदेश अथवा आंशिक) रत्नत्रयकी आराधना करने वाले के जो शुभराग-जन्य पुण्यकर्मका बन्ध होता है वह मोक्षकी साधनामें सहायक होनेसे मोक्षोपायके रूपमें ही परिगणित है, बन्धनोपायके रूपमें नहीं *। इसीसे इस ग्रन्थमें, जो मुख्यतया गृहस्थोंको और उनके अधिक उपयुक्त व्यवहार-रत्नत्रयको लक्ष्य करके लिखा गया है, समीचीन धर्म और उसके अंगोपाङ्गोंका फल वर्णन करते हुए उसमें निःश्रेयस सुखके अलावा अभ्युदय-सुख अथवा लौकिक सुखसमृद्धि (उत्कर्ष)का भी बहुत कुछ कीर्तन किया गया है।

अब एक प्रश्न यहाँ पर और रह जाता है और वह यह कि धर्मके अधिनायकोंने तो वस्तुस्वभाव† को धर्म कहा है, चारित्र‡

---

* असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः ।
सविपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥ २११ ॥
—पुरुषार्थसिद्धयुपाय

† "धम्मो वत्थुसहावो ।" —कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४७६

‡ चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥—प्रवचनसार

को धर्म कहा है, अहिंसाको परमधर्म तथा दयाको धर्मका मूल बतलाया है और उत्तम क्षमादि दशलक्षणधर्म* का खास तौरसे प्रतिपादन किया है, तब अकेले रत्नत्रयको ही यहाँ धर्मरूपमें क्यों ग्रहण किया गया है?—क्या दूसरे धर्म नहीं हैं अथवा उनमें और इनमें कोई बहुत बड़ा अन्तर है ? इसके उत्तरमें मैं सिर्फ इतना ही कह देना चाहता हूँ कि धर्म तो वास्तवमें 'वस्तुस्वभाव' का ही नाम है, परन्तु दृष्टि, शैली और आवश्यकतादिके भेदसे उसके कथनमें अन्तर पड़ जाता है। कोई संक्षेपप्रिय शिष्योंको लक्ष्य करके संक्षिप्त रूपमें कहा जाता है, तो कोई विस्तारप्रिय शिष्योंको लक्ष्यमें रखकर विस्तृत रूपमें। किसीको धर्मके एक अंगको कहनेकी जरूरत होती है, तो किसीको अनेक अंगों अथवा सर्वाङ्गोंको। कोई बात सामान्यरूपसे कही जाती है, तो कोई विशेषरूपसे। और किसीको पूर्णतः एक स्थानपर कह दिया जाता है, तो किसीको अंशोंमें विभाजित करके अनेक स्थानोंपर रक्खा जाता है। इस तरह वस्तुके निर्देशमें विभिन्नता आजाती है, जिसके लिये उसकी दृष्टि आदिको समझनेकी जरूरत होती है और तभी वह ठीक रूपमें समझी जा सकती है। धर्मका 'वस्तु-स्वभाव' लक्षण वस्तुमात्रको लक्ष्य करके कहा गया है और उसमें जड तथा चेतन सभी पदार्थ आजाते हैं और वह धर्मके पूर्ण निर्देशका अतिसंक्षिप्त रूप है। इस ग्रंथमें जडपदार्थोंका धर्मकथन विवक्षित नहीं है बल्कि 'सत्वान' पदके वाच्य जीवात्माओंका स्वभाव-धर्म विवक्षित है और वह न-अतिसंक्षेप न-अतिविस्तार-से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप है। इसके सम्यक्चारित्र अंगमें *'चारित्तं खलु धम्मो'* का वाच्य चारित्र आ ही जाता है। चूँकि वह सम्यक्चारित्र है और सम्यक्चारित्र सम्यग्ज्ञानके

* उत्तमक्षमा-मार्दवार्जव-सत्य-शौच-संयम-तपस्त्यागाकिञ्चन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः। —तत्त्वार्थसूत्र ९-६

विना नहीं होता और सम्यग्ज्ञान सम्यक्दर्शनके विना नहीं बनता. अतः सम्यक्चारित्र कहनेसे सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान-का भी साथमें ग्रहण हो जाता है।। स्वयं प्रवचनसारमें उससे पूर्वकी गाथामें श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने *'जीवस्स चरित्तादो दंसण-णाणप्पहाणादो'* इस वाक्यके द्वारा चारित्रका 'दर्शन-ज्ञान-प्रधान' विशेषण देकर उसे और भी स्पष्ट कर दिया है। अहिंसा चारित्र-का प्रधान अंग होनेसे परमधर्म कहलाता है 'दया' उसीकी सुगंध है। दोनोंमें एक निवृत्तिरूप है तो दूसरा प्रवृत्तिरूप है। इसी तरह दशलक्षणधर्मका भी रत्नत्रयधर्ममें समावेश है। और इसके प्रबल प्रमाणके लिए इतना ही कह देना काफी है कि जिन श्रीउमा-स्वाति आचार्यने तत्त्वार्थसूत्रके पूर्वोद्धृत प्रथम सूत्रमें सम्य-ग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रको 'मोक्षमार्ग' बतलाया है उन्हींने इस सूत्रके विषयका स्पष्टीकरण † करते हुए संवरके अधिकारमें दशलक्षण-धर्मके सूत्रको रक्खा है, जिससे स्पष्ट है कि ये सब धर्म सम्य-ग्दर्शनादिरूप रत्नत्रय धर्मके ही विकसित अथवा विस्तृतरूप हैं। ऐसी हालतमें आपत्तिके लिये कोई स्थान नहीं रहता और धर्मका यह प्रस्तुतरूप बहुत ही सुव्यवस्थित, मार्मिक एवं लक्ष्यके अनुरूप जान पड़ता है। अस्तु।

अब आगे धर्मके प्रथम अंग सम्यग्दर्शनका लक्षण प्रतिपादन करते हुए आचार्य महोदय लिखते हैं—

सम्यग्दर्शन-लक्षण

श्रद्धानं परमार्थानामाप्ताऽऽगमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥ ४ ॥

'परमार्थ आप्तों, परमार्थ आगमों और परमार्थ तपस्वियोंका जो अष्ट अङ्गसहित, तीन मूढता-रहित तथा मद-विहीन श्रद्धान

† सारा तत्त्वार्थसूत्र वास्तवमें इसी एक सूत्रका स्पष्टीकरण है।

है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं।— अर्थात् यह सब गुण-समूह सम्यग्दर्शन का लक्षण है—अभिव्यञ्जक है—अथवा यों कहिये कि आत्मामें सम्यग्दर्शन-धर्मके प्रादुर्भावका संद्योतक है।'

व्याख्या—यहाँ 'श्रद्धान' से अभिप्राय श्रद्धा, रुचि, प्रतीति, प्रत्यय (विश्वास), निश्चय, अनुराग, सादर मान्यता, गुणप्रीति, प्रतिपत्ति (सेवा, सत्कार) और भक्ति जैसे शब्दोंके आशयसे है। इनमेंसे श्रद्धा, रुचि, गुणप्रीति, प्रतिपत्ति और भक्ति जैसे कुछ शब्दोंका तो स्वयं ग्रन्थकारने इसी ग्रंथमें—सम्यग्दर्शनके अंगों तथा फलका वर्णन करते हुए प्रयोग भी किया है ‡। और दूसरे शब्दोंका प्रयोग अन्यत्र प्राचीन साहित्यमें भी पाया जाता है। आप्तादिके ऐसे श्रद्धानका फलितार्थ है तदनुकूल वर्तनकी उत्कण्ठाको लिए हुए परिणाम—अर्थात् निर्दिष्ट आप्त-आगम-तपस्वियोंके वचनोंपर विश्वास करके (ईमान लाकर)—उनके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वोपदेशको सत्य मानकर—उसके अनुसार अथवा आदेशानुसार चलनेका जो भाव है वही यहां 'श्रद्धान' शब्दके द्वारा अभिमत है।

और 'परमार्थ' विशेषणके द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि वे आप्तादिक परमार्थ-विषयके—मोक्ष अथवा अध्यात्म-विषयके—आप्त, आगम (शास्त्र) तथा तपस्वी होने चाहियें—मात्र लौकिक विषयके नहीं; क्योंकि लौकिक विषयोंके भी आप्त, शास्त्र और गुरु (तपस्वी) होते हैं। जो जिस विषयको प्राप्त है—पहुँचा हुआ है—अथवा उसका विशेषज्ञ है—एक्सपर्ट (Expert) है—वह उस विषयका आप्त है। विश्वसनीय (Trustworthy, Reliable), प्रमाणपुरुष (Gaurantee) और दक्ष तथा पटु

‡ देखो, कारिका ११, १२, १३, १७, ३७, ४१।

(Skilful, Clever) को भी आप्त कहते हैं×। और ऐसे आप्त लौकिक विषयोंके अनेक हुआ करते हैं। आप्तके वाक्यका नाम 'आगम' है अथवा आगम शब्द शास्त्रमात्रका वाचक है*—स्वयं ग्रन्थकारने भी शास्त्रशब्दके द्वारा उसका इसी ग्रन्थमें तथा अन्यत्र भी निर्देश किया है‡। और लौकिक विषयोंके अनेक शास्त्र होते ही है, जैसेकि वैद्यक-शास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, शब्दशास्त्र, गणित-शास्त्र, मंत्रशास्त्र, छंदशास्त्र, अलंकारशास्त्र, निमित्तशास्त्र, अर्थ-शास्त्र, भूगर्भशास्त्र इत्यादि। इसी तरह अनेक विद्या, कला तथा लौकिकशास्त्रोंकी शिक्षा देनेवाले गुरु भी लोकमें प्रसिद्ध ही हैं अथवा लौकिक विषयोंकी सिद्धिके लिए अनेक प्रकारकी तपस्या करनेवाले तपस्वी भी पाये जाते हैं; जैसे कि आजकल अद्भुत-अद्भुत आविष्कार करनेवाले वैज्ञानिक उपलब्ध होते हैं। परमार्थ विशेषणसे इन सब लौकिक आप्तादिकका पृथक्करण होजाता है। साथ ही, परमार्थका अर्थ यथार्थ (सत्यार्थ) होनेसे इस विशेषण-के द्वारा यह भी प्रतिपादित किया गया है कि वे आप्तादिक यथार्थ अर्थात् सच्चे होने चाहियें—अयथार्थ एवं झूठे नहीं। क्योंकि लोकमें परमार्थ-विषयकी अन्यथा अथवा आत्मीय-धर्मकी मिथ्या देशना करनेवाले भी आप्तादिक होते हैं, जिन्हें आप्ताभास, आगमाभास आदि कहना चाहिये। स्वयं ग्रन्थकारमहोदयने अपने 'आप्तमीमांसा' ग्रंथमें ऐसे आप्तोंके अन्यथा कथन तथा

× देखो, वामन शिवराम आप्टेके कोश—संस्कृत इंग्लिश डिक्स-नरी तथा इंग्लिश संस्कृत डिक्सनरी।

* आगमः शास्त्रआगतौ (विश्वलोचन), आगमस्त्वागतौ शास्त्रेऽपि (हेमचन्द्र अभिधानसंग्रह); आगमः शास्त्रमात्रे (शब्दकल्पद्रुम)।

‡ देखो, इसी ग्रन्थकी 'आप्तोपज्ञ' इत्यादि कारिका ९ तथा आप्त-मीमांसाका निम्न वाक्य—

"स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्" ॥६॥

मिथ्या देशनाको लेकर उनकी अच्छी परीक्षा की है और उन्हें 'आप्ताभिमानदग्ध' बतलाते हुए † वस्तुतः अनाप्त सिद्ध किया है। इस विशेषणके द्वारा उन सबका निरसन होकर विभिन्नता स्थापित होती है। यही इस विशेषणपद (परमार्थानां) के प्रयोगका मुख्य उद्देश्य है और इसीको स्पष्ट करनेके लिये ग्रन्थमें इस वाक्यके अनन्तर ही परमार्थ आप्तादिका यथार्थ स्वरूप दिया हुआ है।

परमार्थ आप्तादिकका श्रद्धान—उनकी भक्ति—वास्तवमें सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) का कारण है—स्वयं सम्यग्दर्शन नहीं। कारणमें यहां कार्यका उपचार किया गया है × और उसके द्वारा दर्शनके इस स्वरूप-कथनमें एक प्रकारसे भक्तियोगका समावेश किया गया है। ग्रन्थमें सम्यग्दर्शनकी महिमाका वर्णन करते हुए जो निम्न वाक्य दिये हैं उनसे भी भक्तियोगके इस समावेशका स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है—

"*अमराप्सरसां परिषदि चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे* ॥३७॥
"*लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्यः*" ॥४१॥

और दर्शनिक प्रतिमाके स्वरूपकथन (का० १३७) में सम्यग्दृष्टिके लिये जो '*पञ्चगुरुचरणशरण*':—'पंचगुरुओंके चरण (पादयुगल अथवा पद-वाक्यादिक) ही हैं एकमात्र शरण जिसको' ऐसा जो विशेषण दिया गया है तथा ग्रन्थकी अन्तिम कारिकामें

† त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम् ।
आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥७॥

× श्रावकप्रज्ञप्तिकी टीकामें श्रीहरिभद्रसूरिने भी अर्हच्छासनकी प्रीत्यादिरूप श्रद्धाको, जोकि सम्यक्त्वका हेतु है, कारणमें कार्यके उपचारसे सम्यक्त्व बतलाया है और परम्परा मोक्षका कारण लिखा है। यथा—
"इतरस्य तु व्यवहारनयस्य सम्यक्त्वं सम्यक्त्वहेतुरपि अर्हच्छासनप्रीत्यादि-कारणे कार्योपचारात्। एतदपि शुद्धचेतसां पारम्पर्येणापवर्गहेतुरिति।"

जो दृष्टिलक्ष्मी (सम्यग्दर्शनसम्पत्ति) को 'जिनपदपद्मप्रेक्षणी' बतलाया गया है वह सब भी इसी बातका द्योतक है। पंचगुरुसे अभिप्राय पंचपरमेष्ठीका है, जिनमेंसे अर्हन्त और सिद्ध दोनों यहां 'आप्त' शब्दके द्वारा परिग्रहीत हैं और शेष तीन आचार्य उपाध्याय तथा साधु परमेष्ठीका संग्रह 'तपस्वी' शब्दके द्वारा किया गया है, ऐसा जान पड़ता है। इसके सिवाय, प्रकृत पद्यमें वर्णित सम्यग्दर्शनका लक्षण चूंकि सरागसम्यक्त्वका लक्षण है—वीतराग सम्यक्त्वका नहीं †, इससे इसमें भक्तियोगके समावेश-का होना कोई अस्वाभाविक भी नहीं है। भक्तिको स्पष्टतया सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) का गुण लिखा भी है, जैसा कि निम्न गाथासूत्रसे प्रकट है, जिसमें संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उप-शम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा, ये सम्यक्त्वके आठ गुण बतलाये हैं—

संवेओ णिव्वेओ णिंदण गरुहा य उवसमो भत्ती।
वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठगुणा हुंति सम्मत्ते॥

—वसुनन्दि-श्रावकाचार ४६

पंचाध्यायी और लाटीसंहितामें,इसी गाथाके उद्धरणके साथ, अर्हद्भक्ति तथा वात्सल्य नामके गुणोंको संवेगलक्षण गुणके लक्षण बतलाकर सम्यक्त्वके उपलक्षण बतलाया है और लिखा है कि वे संवेग गुणके बिना होते ही नहीं—उनके अस्तित्वसे संवेग गुणका अस्तित्व जाना जाता है। यथा—

यथा सम्यक्त्वभावस्य संवेगो लक्षणं गुणः।
स चोपलक्ष्यते भक्त्या वात्सल्येनाथवाऽर्हताम्॥
भक्तिर्वा नाम वात्सल्यं न स्यात्संवेगमन्तरा।
संवेगो हि दृशो लक्ष्म द्वावेतावुपलक्षणौ॥

† सराग और वीतराग ऐसे सम्यग्दर्शनके दो भेद हैं—
"स द्वेधा सरागवीतरागविषयभेदात्"—सर्वार्थसिद्धि अ०१ सू०२

इसी तरह निन्दा और गर्हा गुणोंको सम्यक्त्वके उपलक्षण बतलाया है; क्योंकि वे प्रशम (उपशम) गुणके लक्षण हैं—अभिव्यञ्जक हैं×। अर्थात् प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये चार गुण सम्यग्दर्शनके लक्षण हैं, तो अर्हद्भक्ति, वात्सल्य, निन्दा और गर्हा ये चार गुण उसके उपलक्षण हैं। इससे भी 'भक्ति' सम्यग्दर्शनका गुण ठहरता है।

यहाँ आप्तादिके जिस श्रद्धानको सम्यग्दर्शन बतलाया है उसके लिये 'अष्टाङ्ग' 'त्रिमूढापोढं' तथा 'अस्मयं' ऐसे तीन विशेषण-पदोंका प्रयोग किया है और उनके द्वारा यह सूचित किया है कि विवक्षित सम्यग्दर्शनके आठ अंग हैं और वह तीन मूढताओं तथा (आठ प्रकारके) मदोंसे रहित होता है।

ग्रन्थमें निर्दिष्ट आठ अंगोंके नाम हैं—१ असंशया (निःशंकित), २ अनाकांक्षणा (निष्कांक्षित), ३ निर्विचिकित्सिता, ४ अमूढदृष्टि, ५ उपगूहन, ६ स्थितीकरण, ७ वात्सल्य, ८ प्रभावना। और तीन मूढताओंके नाम हैं—१ लोकमूढ, देवतामूढ, ३ पाषण्डिमूढ। इन सबका तथा स्मय (मद)का क्रमशः लक्षणात्मक स्वरूप ग्रन्थमें आप्तादिके स्वरूप-निर्देशानन्तर दिया है।

परमार्थ आप्त-लक्षण

आप्तेनोत्सन्न-दोषेण सर्वज्ञेनाऽऽगमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नाऽन्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥५॥

'जो उत्सन्न दोष है—राग-द्वेष मोह और काम-क्रोधादि दोषोंको नष्ट कर चुका है—, सर्वज्ञ है—समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावका ज्ञाता है—और आगमेशी है—हेयोपादेयरूप अनेकान्त-तत्त्वके विवेकपूर्वक आत्महितमें प्रवृत्ति करानेवाले अबाधित सिद्धान्त-शास्त्रका स्वामी अथवा

× देखो, पंचाध्यायी उत्तरार्ध, श्लोक ४६७ से ४७६ तथा लाटी संहिता, तृतीयसर्ग श्लोक ११० से ११८।

मोक्षमार्गका प्रणेता है—वह नियमसे परमार्थ आप्त होता है अन्यथा पारमार्थिक आप्तता बनती ही नहीं—इन तीन गुणोंमेंसे एकके भी न होने पर कोई परमार्थ आप्त नहीं हो सकता, ऐसा नियम है।'

व्याख्या—पूर्वकारिकामें जिस परमार्थ आप्तके श्रद्धानको मुख्यतासे सम्यग्दर्शनमें परिगणित किया है उसके लक्षणका निर्देश करते हुए यहाँ तीन खास गुणोंका उल्लेख किया गया है, जिनके एकत्र अस्तित्वसे आप्तको पहचाना जा सकता है और वे हैं—१ निर्दोषता, २ सर्वज्ञता, ३ आगमेशिता। इन तीनों विशिष्ट गुणोंका यहाँ ठीक क्रमसे निर्देश हुआ है—निर्दोषताके बिना सर्वज्ञता नहीं बनती और सर्वज्ञताके बिना आगमेशिता असम्भव है। निर्दोषता तभी बनती है जब दोषोंके कारणीभूत ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नामके चारों घातिया कर्म समूल नष्ट हो जाते हैं। ये कर्म बड़े बड़े भूभृतों (पर्वतों)-की उपमाको लिये हुए हैं, उन्हें भेदन करके ही कोई इस निर्दोषता-को प्राप्त होता है। इसीसे तत्त्वार्थसूत्रके मंगलाचरणमें इस गुण-विशिष्ट आप्तको *'भेत्तारं कर्मभूभृतां'* जैसे पदके द्वारा उल्लेखित किया है। साथही, सर्वज्ञको *'विश्वतत्त्वानां ज्ञाता'* और आगमेशी-को *'मोक्षमार्गस्य नेता'* पदोंके द्वारा उल्लेखित किया है। आप्तके इन तीनों गुणोंका बड़ा ही युक्तिपुरस्सर एवं रोचक वर्णन श्रीविद्यानंद आचार्यने अपनी आप्तपरीक्षा और उसकी स्वोपज्ञ टीका-में किया है, जिससे ईश्वर-विषयकी भी पूरी जानकारी सामने आ जाती है और जिसका हिन्दी अनुवाद वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित हो चुका है। अतः आप्तके इन लक्षणात्मक गुणोंका पूरा परिचय उक्त ग्रन्थसे प्राप्त करना चाहिए। साथ ही, स्वामी समन्तभद्रकी 'आप्तमीमांसा' को भी देखना चाहिये, जिस पर अकलंकदेवने 'अष्टशती' और विद्यानन्दाचार्यने 'अष्टसहस्री' नामकी महत्वपूर्ण संस्कृत टीका लिखी है।

यहाँ पर इतनी बात और भी जान लेनेकी है कि इन तीन गुणोंसे भिन्न और जो गुण आप्तके हैं वे सब स्वरूपविषयक हैं-लक्षणात्मक नहीं। लक्षणका समावेश इन्हीं तीन गुणोंमें होता है। इनमेंसे जो एक भी गुणसे हीन है वह आप्तके रूपमें लक्षित नहीं होता।

निर्दोष-आप्त-स्वरूप

क्षुत्पिपासा-जरातङ्क-जन्माऽन्तक-भय-स्मयाः।
न राग-द्वेष-मोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते(प्रदोषमुक्)॥६॥

'जिसके क्षुधा, तृषा, जरा, रोग, जन्म, मरण, भय, मद, राग, द्वेष, मोह तथा ('च' शब्दसे) चिन्ता, अरति, निद्रा, विस्मय, विषाद, स्वेद और खेद ये दोष नहीं होते हैं वह (दोषमुक्त) आप्तके रूपमें प्रकीर्तित होता है।

व्याख्या—यहाँ दोषरहित आप्तका अथवा उसकी निर्दोषताका स्वरूप बतलाते हुए जिन दोषोंका नामोल्लेख किया गया है वे उस वर्गके हैं जो अष्टादश दोषोंका वर्ग कहलाता है और दिगम्बर मान्यताके अनुरूप है। उन दोषोंमेंसे यहाँ ग्यारहके तो स्पष्ट नाम दिये हैं, शेष सात दोषों चिन्ता, अरति, निद्रा, विस्मय, विषाद, स्वेद और खेदका 'च' शब्दमें समुच्चय अथवा संग्रह किया गया है। इन दोषोंकी मौजूदगी (उपस्थिति) में कोई भी मनुष्य परमार्थ आप्तके रूपमें ख्यातिको प्राप्त नहीं होता—विशेष ख्याति अथवा प्रकीर्तनके योग्य वही होता है जो इन दोषोंसे रहित होता है। सम्भवतः इसी दृष्टिको लेकर यहाँ '*प्रकीर्त्यते*' पदका प्रयोग हुआ जान पड़ता है। अन्यथा इसके स्थान पर 'प्रदोषमुक्' पद ज्यादह अच्छा मालूम देता है।

श्वेताम्बर-मान्यताके अनुसार अठारह दोषोंके नाम इस प्रकार हैं—

१ वीर्यान्तराय, २ भोगान्तराय, ३ उपभोगान्तराय, ४ दाना-न्तराय, ५ लाभान्तराय, ६ निद्रा, ७ भय, ८ अज्ञान, ९ जुगुप्सा, १० हास्य, ११ रति, १२ अरति, १३ राग, १४ द्वेष, १५ अविरति, १६ काम, १७ शोक, १८ मिथ्यात्व † ।

इनमेंसे कोई भी दोष ऐसा नहीं है जिसका दिगम्बर समाज आप्तमें सद्भाव मानता हो । समान दोषोंको छोड़कर शेषका अभाव उसके दूसरे वर्गोंमें शामिल है; जैसे अंतराय कर्मके अभावमें पाँचों अन्तराय दोषोंका, ज्ञानावरण कर्मके अभावमें अज्ञान दोषका और दर्शनमोह तथा चारित्रमोहके अभावमें शेष मिथ्यात्व, शोक, काम, अविरति, रति, हास्य और जुगुप्सा दोषों का अभाव शामिल है। श्वेताम्बर-मान्य दोषोंमें क्षुधा, तृषा तथा रोगादिक कितने ही दिगम्बर-मान्य दोषोंका समावेश नहीं होता—श्वेताम्बर भाई आप्तमें उन दोषोंका सद्भाव मानते हैं और यह सब अन्तर उनके प्राय: सिद्धान्त-भेदोंपर अवलम्बित है। सम्भव है इस भेदृष्टि तथा उत्सन्नदोष आप्तके विषयमें अपनी मान्यताको स्पष्ट करनेके लिए ही इस कारिकाका अवतार हुआ हो। इस कारिकाके सम्बन्धमें विशेषविचारके लिये ग्रन्थकी प्रस्तावना-को देखना चाहिए।

आप्त-नामावली

परमेष्ठी परंज्योतिर्विरागो विमलः कृती ।
सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः सार्वः शास्तोपलाल्यते ॥ ७ ॥

'उक्त स्वरूपको लिये हुए जो आप्त है वह परमेष्ठी (परम पदमें स्थित) परंज्योति (परमातिशय-प्राप्त ज्ञानधारी), विराग (रागादि भावकर्मरहित), विमल (ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मवर्जित), कृती (हेयोपा-

† देखो, विवेकविलास और जैनतत्त्वादर्श आदि श्वेताम्बर ग्रन्थ ।

हेयतत्त्व-विवेक-सम्पन्न अथवा कृतकृत्य), सर्वज्ञ (यथावत् निखिलार्थ-साक्षात्कारी), अनादिमध्यान्त (आदि मध्य और अन्तसे शून्य), सार्व (सर्वके हितरूप), और शास्ता (यथार्थ तत्त्वोपदेशक) इन नामोंसे उपलक्षित होता है। अर्थात् ये नाम उक्तस्वरूप आप्तके बोधक हैं।'

व्याख्या—आप्तदेवके गुणोंकी अपेक्षा बहुत नाम हैं—अनेक सहस्रनामों-द्वारा उनके हजारों नामोंका कीर्तन किया जाता है। यहाँ ग्रन्थकारमहोदयने अतिसंक्षेपसे अपनी रुचि तथा आवश्यकताके अनुसार आठ नामोंका उल्लेख किया है, जिनमें आप्तके उक्त तीनों लक्षणात्मक गुणोंका समावेश है—किसी नाममें गुणकी कोई दृष्टि प्रधान है, किसीमें दूसरी और कोई संयुक्त-दृष्टिको लिये हुए हैं। जैसे 'परमेष्ठी' और 'कृती' ये संयुक्तदृष्टिको लिए हुए नाम हैं, 'परंज्योति' और 'सर्वज्ञ' ये नाम सर्वज्ञत्वकी दृष्टिको प्रधान किये हुए हैं। इसी तरह 'विराग' और 'विमल' ये नाम उत्सन्नदोषकी दृष्टिको मुख्य किये हुए हैं। इस प्रकारकी नाममाला देनेकी प्राचीन कालमें कुछ पद्धति रही जान पड़ती है, जिसका एक उदाहरण ग्रन्थकारमहोदयसे पूर्ववर्ती आचार्य कुन्दकुन्दके 'मोक्खपाहुड' में और दूसरा उत्तरवर्ती आचार्य पूज्यपाद (देवनन्दी) के 'समाधितन्त्र' में पाया जाता है। इन दोनों ग्रन्थोंमें परमात्माका स्वरूप देनेके अनन्तर उसकी नाममालाका उल्लेख किया गया है †। टीकाकार प्रभाचन्द्रने *'आप्तस्य वाचिकां नाममालां प्ररूपयन्नाह'* इस वाक्यके द्वारा इसे आप्तकी नाममाला तो लिखा है परन्तु साथ ही आप्तका एक

† उल्लेख क्रमशः इस प्रकार है:—

"मलरहिओ कलचत्तो अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा।
परमेट्ठी परमजिणो सिवंकरो सासओ सिद्धो ॥६॥" (मोक्खपाहुड)

'निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥६॥ (समाधितंत्र)

विशेषण '*उत्कदोषैर्विवर्जितस्य*' भी दिया है, जिसका कारण पूर्वमें उत्सन्नदोषकी दृष्टिसे आप्तके लक्षणात्मक पद्यका होना कहा जा सकता है; अन्यथा यह नाममाला एक मात्र उत्सन्नदोष आप्तकी दृष्टिको लिये हुए नहीं कही जा सकती; जैसा कि ऊपर दृष्टिके कुछ स्पष्टीकरणसे जाना जाता है।

यहाँ 'अनादिमध्यान्तः' पदमें उसकी दृष्टिके स्पष्ट होनेकी जरूरत है। सिद्धसेनाचार्यने अपनी स्वयम्भूस्तुति नामकी द्वात्रिंशिकामें भी आप्तके लिये इस विशेषणका प्रयोग किया है और अन्यत्र भी शुद्धात्माके लिये इसका प्रयोग पाया जाता है। उक्त टीकाकारने '*प्रवाहापेक्षया*' आप्तको अनादिमध्यान्त बतलाया है; परन्तु प्रवाहकी अपेक्षासे तो और भी कितनी ही वस्तुएँ आदि मध्य तथा अन्तसे रहित हैं तब इस विशेषणसे आप्त कैसे उपलक्षित होता है यह भले प्रकार स्पष्ट किये जानेके योग्य है।

वीतराग होते हुए आप्त आगमेशी (हितोपदेशी) कैसे हो सकता है? अथवा उसके हितोपदेशका क्या कोई आत्म-प्रयोजन होता है? इसका स्पष्टीकरण—

अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतोहितम्।

ध्वनन् शिल्पि-कर-स्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते ॥ ८ ॥

'शास्ता—आप्त विना रागोंके—मोहके परिणामस्वरूप स्नेहादिके बशवर्ती हुए बिना अथवा ख्याति-लाभ-पूजादिकी इच्छाओंके विना ही—और विना आत्मप्रयोजनके भव्यजीवोंको हितकी शिक्षा देता है। (इसमें आपत्ति या विप्रतिपत्तिकी कोई बात नहीं है; क्योंकि) शिल्पीके क[illegible]को पाकर शब्द करता हुआ मृदंग क्या राग-भावोंकी तथा आत्मप्रयोजनकी कुछ अपेक्षा रखता है? नहीं रखता।'

व्याख्या—जिस प्रकार मृदंग शिल्पीके हाथके स्पर्शरूप बाह्य निमित्तको पाकर शब्द करता है और उस शब्दके करनेमें उसका

कोई रागभाव नहीं होता और न अपना कोई निजी प्रयोजन ही होता है—उसकी वह सब प्रवृत्ति स्वभावतसे परोपकारार्थ होती है—उसी प्रकार वीतराग आप्तके हितोपदेश एवं आगम-प्रणयनका रहस्य है—उसमें वैसे किसी रागभाव या आत्मप्रयोजनकी आवश्यकता नहीं, वह 'तीर्थंकरप्रकृति' नामकर्मके उदयरूप निमित्तको पाकर तथा भव्यजीवोंके पुण्योदय एवं प्रश्नानुरोधके वश स्वतः प्रवृत्त होता है।

आगे सम्यग्दर्शनके विषयभूत परमार्थ 'आगम' का लक्षण प्रतिपादन करते हैं—

आगम-शास्त्र-लक्षण

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्ट-विरोधकम् ।
तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं शास्त्रं कापथ-घट्टनम् ॥ ९ ॥

'जो आप्तोपज्ञ हो—आप्तके द्वारा प्रथमतः ज्ञात होकर उपदिष्ट हुआ हो, अनुल्लंघ्य हो—उल्लंघनीय अथवा खण्डनीय न होकर ग्राह्य हो, दृष्ट (प्रत्यक्ष) और इष्ट (अनुमानादि-विषयक स्वसम्मत सिद्धान्त) का विरोधक न हो—प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे जिसमें कोई बाधा न आती हो और न पूर्वापरका विरोध ही पाया जाता हो, तत्त्वोपदेशका कर्ता हो—वस्तुके यथार्थ स्वरूपका प्रतिपादक हो, सबके लिये हितरूप हो और कुमार्गका निराकरण करनेवाला हो, उसे शास्त्र—परमार्थ आगम—कहते हैं।

व्याख्या—यहाँ आगम-शास्त्रके छह विशेषणादि ये गये हैं, जिनमें 'आप्तोपज्ञ' विशेषण सर्वोपरि मुख्य है और इस बातको सूचित करता है कि आगम आप्तपुरुषके द्वारा प्रथमतः ज्ञात होकर उपदिष्ट होता है। आप्तपुरुष सर्वज्ञ होनेसे आगम-विषयका पूर्ण प्रामाणिक ज्ञान रखता है और राग-द्वेषादि सम्पूर्ण दोषोंसे रहित होनेके कारण उसके द्वारा सत्यता एवं यथार्थताके विरुद्ध

कोई प्रणयन नहीं बन सकता। साथ ही प्रणयनकी शक्तिसे वह सम्पन्न होता है। इन्हीं सब बातोंको लेकर पूर्वकारिका (५) में उसे 'आगमेशी' कहा गया है—वही अर्थतः आगमके प्रणयनका अधिकारी होता है। ऐसी स्थितिमें यह प्रथम विशेषण ही पर्याप्त हो सकता था और इसी दृष्टिको लेकर अन्यत्र '*आगमो ह्याप्तवचनम्*' जैसे वाक्योंके द्वारा आगमके स्वरूपका निर्देश किया भी गया है; तब यहाँ पाँच विशेषण और साथमें क्यों जोड़े गए हैं? यह एक प्रश्न पैदा होता है। इसके उत्तरमें मैं इस समय केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि लोकमें अनेकोंने अपनेको स्वयं अथवा उनके भक्तोंने उन्हें 'आप्त' घोषित किया है और उनके आगमोंमें परस्पर विरोध पाया जाता है, जब कि सत्यार्थ आप्तों अथवा निर्दोष सर्वज्ञोंके आगमोंमें विरोधके लिये कोई स्थान नहीं है, वे अन्यथावादी नहीं होते। इसके सिवा, कितने ही शास्त्र बादको सत्यार्थ आप्तोंके नाम पर रचे गये हैं और कितने ही सत्य शास्त्रोंमें बादको ज्ञाताऽज्ञातभावसे मिलावट भी हुई है। ऐसी हालतमें किस शास्त्र अथवा कथनको आप्तोपज्ञ समझा जाय और किसको नहीं, यह समस्या खड़ी होती है। उसी समस्याको हल करनेके लिए यहाँ उत्तरवर्ती पाँच विशेषणोंकी योजना हुई जान पड़ती है। वे आप्तोपज्ञकी जाँचके साधन हैं अथवा यों कहिए कि आप्तोपज्ञ-विषयको स्पष्ट करनेवाले हैं—यह बतलाते हैं कि आप्तोपज्ञ वही होता है जो इन विशेषणोंसे विशिष्ट होता है, जो शास्त्र इन विशेषणोंसे विशिष्ट नहीं है वे आप्तोपज्ञ अथवा आगम कहे जानेके योग्य नहीं हैं। उदाहरणके लिये शास्त्रका कोई कथन यदि प्रत्यक्षादिके विरुद्ध जाता है तो समझना चाहिये कि वह आप्तोपज्ञ (निर्दोष एवं सर्वज्ञदेवके द्वारा उपदिष्ट) नहीं है और इसलिये आगमके रूपमें मान्य किये जानेके योग्य नहीं।

तपस्वि-लक्षण

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।
ज्ञान-ध्यान-तपोरत्न(क्त)स्तपस्वी स प्रशस्यते ॥१०॥

'जो **विषयाशाकी अधीनतासे रहित है**—इन्द्रियोंके विषयमें आसक्त नहीं और न आशा-तृष्णाके चक्करमें ही पड़ा हुआ है अथवा विषयोंकी वाँछा तकके वशवर्ती नहीं है—, **निरारम्भ है**—कृषि-वाणिज्यादिरूप सावद्यकर्मके व्यापारमें प्रवृत्त नहीं होता—, **अपरिग्रही है**—धन-धान्यादि बाह्य परिग्रह नहीं रखता और न मिथ्यादर्शन, राग-द्वेष, मोह तथा काम-क्रोधादि रूप अन्तरंग परिग्रहसे अभिभूत ही होता है—और **ज्ञानरत्न-ध्यानरत्न तथा तपरत्नका धारक है अथवा ज्ञान, ध्यान और तपमें लीन रहता है**—सम्यक् ज्ञानका आराधन, प्रशस्त ध्यानका साधन और अनशनादि समीचीन तपोंका अनुष्ठान बड़े अनुरागके साथ करता है—वह (परमार्थ) **तपस्वी प्रशंसनीय होता है**।'

व्याख्या—यहाँ तपस्वीके 'विषयाशावशातीत' आदि जो चार विशेषण दिये गये हैं वे बड़े ही महत्वको लिये हुए हैं और उनसे सम्यग्दर्शनके विषयभूत परमार्थ तपस्वीकी वह सारी दृष्टि सामने आ जाती है जो उसे श्रद्धाका विषय बनाती है। इन विशेषणोंका क्रम भी महत्वपूर्ण है। सबसे पहले तपस्वीके लिये विषय-तृष्णाकी वशवर्तितासे रहित होना परमावश्यक है। जो इन्द्रिय-विषयोंकी तृष्णाके जालमें फँसे रहते हैं वे निरारम्भी नहीं हो पाते, जो आरम्भोंसे मुख न मोड़कर उनमें सदा संलग्न रहते हैं वे अपरिग्रही नहीं बन पाते, और जो अपरिग्रही न बनकर सदा परिग्रहोंकी चिन्ता एवं ममतासे घिरे रहते हैं वे रत्न कहलाने योग्य उत्तम ज्ञान ध्यान एवं तपके स्वामी नहीं बन सकते अथवा उनकी साधनामें लीन नहीं हो सकते, और इस तरह वे सत्श्रद्धाके पात्र ही नहीं रहते—उन पर विश्वास करके धर्मका कोई भी अनुष्ठान

समीचीन-रीतिसे अथवा भले प्रकार नहीं किया जा सकता। इन गुणोंसे विहीन जो तपस्वी-साधु कहलाते हैं वे पत्थरकी उस नौकाके समान हैं जो आप डूबती है और साथमें आश्रितोंकोभी ले डूबती है।

ध्यान यद्यपि अन्तरंग तपका ही एक भेद है, फिर भी उसे अलगसे जो यहां ग्रहण किया गया है वह उसकी प्रधानताको बतलानेके लिये है। इसी तरह स्वाध्याय नामके अन्तरंग तपमें ज्ञानका समावेश हो जाता है, उसकी भी प्रधानताको बतलानेके लिये उसका अलगसे निर्देश किया गया है। इन दोनोंकी अच्छी साधनाके बिना कोई सत्साधु श्रमण या परमार्थतपस्वी बनता ही नहीं- सारी तपस्याका चरम लक्ष्य प्रशस्त ध्यान और ज्ञानकी साधना ही होता है।

स्वामी समन्तभद्रने इस धर्मशास्त्रमें धर्मके अंगभूत सम्यग्दर्शनका लक्षण प्रतिपादन करते हुए उसे 'अष्टांग' विशेषणके द्वारा आठ अंगोंवाला बतलाया है। वे आठ अंग कौनसे हैं और उनका क्या स्वरूप है इसका स्वयं स्पष्टीकरण करते हुए स्वामीजी लिखते हैं:—

असंशयाऽङ्ग-लक्षण

इदमेवेदृशं चैव तत्त्वं नान्यन्न चाऽन्यथा।
इत्यकम्पाऽऽयसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसंशया रुचिः ॥११॥

'तत्त्व—यथावस्थित वस्तुस्वरूप—यही है और ऐसा ही है (जो और जैसा कि दृष्ट तथा इष्टके विरोध-रहित परमागममें प्रतिपादित हुआ है), अन्य नहीं और न अन्य प्रकार है, इस प्रकारकी सन्मार्गमें—सम्यग्दर्शनादिरूप समीचीन धर्ममें—जो लोहविनिर्मित खड्गादिकी आब (चमक) के समान अकम्पा रुचि है—अडोल श्रद्धा है—उसे 'असंशया'—निःशंकित—अंग कहते हैं।'

व्याख्या—यहां 'तत्त्वं' पद यद्यपि बिना किसी विशेषणके सामान्यरूपसे प्रयुक्त हुआ है परन्तु 'सन्मार्गे' पदके साथमें होने से उसका सम्बन्ध सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप उस सन्मार्ग-विषयक तत्त्वसे है जिसमें प्रायः सारा ही प्रयोजन-भूत तत्त्वसमूह समाविष्ट हो जाता है, और इसलिये सम्यग्दर्शनादिकका, सम्यग्दर्शनादिके विषयभूत आप्त-आगम-तपस्वियोंका तथा जीव-अजीवादि पदार्थोंका जो भी तत्त्व विवक्षित हो उस सबके विषयमें सन्देहादिकसे रहित अडोल श्रद्धाका होना ही यहां इस अंगका विषय है—उसमें अनिश्चय-जैसी कोई बात नहीं है। इसीसे 'तत्त्व यही है, ऐसा ही है, अन्य नहीं और न अन्य प्रकार है' ऐसी सुनिश्चय और अटल श्रद्धाकी द्योतक बात इस अंगके स्वरूप-विषयमें यहाँ कही गई है।

इस पर किसीको यह आशंका करनेकी जरूरत नहीं है कि 'इस तरहसे तो 'ही' (एव) शब्दके प्रयोग-द्वारा 'भी' के आशय-की उपेक्षा करके जो कथन किया गया है उससे तत्त्वको सर्वथा एकान्तताकी प्राप्ति हो जावेगी और तत्त्व एकान्तात्मक न होकर अनेकान्तात्मक है, ऐसा स्वयं स्वामी समन्तभद्रने अपने दूसरे ग्रन्थों में '*एकान्तदृष्टिप्रतिषेधि तत्त्वं*', '*तत्त्वं त्वनेकान्तमशेषरूपं*' जैसे वाक्यों द्वारा प्रतिपादन किया है, तब उनके उस कथनके साथ इस कथनकी संगति कैसे बैठेगी?' यह शंका निर्मूल है; क्योंकि अपने विषय-की विवक्षाको साथमें लेकर 'ही' शब्दका प्रयोग करनेसे सर्वथा एकान्तताका कोई प्रसंग नहीं आता। जैसे 'तीन इंची रेखा एक इंची रेखासे बड़ी ही है' इस वाक्यमें 'ही' शब्दका प्रयोग सुघटित है और उससे तीन इंची रेखा सर्वथा बड़ी नहीं हो जाती, क्योंकि वह अपने साथमें केवल एक इंची रेखाकी अपेक्षा को लिये हुए है। इसी प्रकार जो भी तात्त्विक कथन अपनी विवक्षाको साथमें लिये हुए रहता है उसके साथ 'ही' शब्दका

प्रयोग उसके सुनिश्चयादिकका द्योतक होता है। उसी दृष्टिसे ग्रन्थकारमहोदयने यहां 'इदं' तथा 'ईदृशं' शब्दोंके साथ 'ही' अर्थके वाचक 'एव' शब्दका प्रयोग किया है, जो उनके दूसरे कथनोंके साथ किसी तरह भी असंगत नहीं है। उन्होंने तो अपने युक्त्यनुशासन ग्रन्थमें 'अनुक्ततुल्यं यदनेवकारं' जैसे वाक्योंके द्वारा यहां तक स्पष्ट घोषित किया है कि जिस पदके साथमें 'एव' (ही) नहीं वह अनुक्ततुल्य है—न कहे हुएके समान है। इस एवकारके प्रयोग-अप्रयोग-विषयक विशेष रहस्यको जाननेके लिये युक्त्यनुशासन † ग्रन्थको देखना चाहिये।

अनाकांक्षणाऽङ्ग-लक्षण

कर्म-परवशे साऽन्ते दुःखैरन्तरितोदये।
पाप-बीजे सुखेऽनास्था श्रद्धाऽनाकांक्षणा स्मृता ॥१२॥

'जो कर्मकी पराधीनताको लिये हुए है—सातावेदनीयादि कर्मोंके उदयाधीन है—, अन्त सहित है—नाशवान है—, जिसका उदय दुःखोंसे अन्तरित है—अनेक प्रकारके शारीरिक तथा मानसिकादि दुःखोंकी बीच-बीचमें प्रादूर्भूति होते रहनेसे जिसके उदयमें बाधा पड़ती रहती है तथा वह एक रसरूप भी रहने नहीं पाता—और जो पापका बीज है—तृष्णाकी अभिवृद्धि-द्वारा संक्लेश-परिणामोंका जनक होनेसे पापोत्पत्ति अथवा पापबन्धका कारण है—ऐसे (इन्द्रियादिविषयक सांसारिक) सुखमें जो अनास्था—अनासक्ति और अश्रद्धा—अरुचि अथवा अनास्थारूप श्रद्धा—अरुचिपूर्वक उसका सेवन है—उसे 'अनाकांक्षणा'—निःकांक्षित—अंग कहा गया है।'

† यह महत्वपूर्ण गम्भीर ग्रन्थ, जिसका हिन्दीमें पहलेसे कोई अनुवाद नहीं हुआ था, वीरसेवामन्दिरसे हिन्दी अनुवादके साथ प्रकाशित हो गया है।

व्याख्या—यहाँ सांसारिक विषय-सुखके जो कर्मपरवशादि विशेषण दिये गये हैं वे उसकी निःसारताको व्यक्त करनेमें भले प्रकार समर्थ हैं। उन पर दृष्टि रखते हुए जब उस सुखका अनुभव किया जाता है तो उसमें आस्था, आसक्ति, इच्छा, रुचि, श्रद्धा तथा लालसादिके लिये कोई स्थान नहीं रहता और सम्यग्दृष्टिका सब कार्य बिना किसी बाधा-आकुलताको स्थान दिये सुचारु रूपसे चला जाता है। जो लोग विषय-सुखके वास्तविक स्वरूपको न समझकर उसमें आसक्त हुए सदा तृष्णावान बने रहते हैं उन्हें दृष्टिविकारके शिकार समझना चाहिये। वे इस अंग के अधिकारी अथवा पात्र नहीं।

निर्विचिकित्सताङ्ग-लक्षण

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रय-पवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुण-प्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता ॥१३॥

'स्वभावसे अशुचि और रत्नत्रयसे—सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूपधर्मसे—पवित्रित कायमें—धार्मिकके शरीरमें—जो अम्लानि और गुणप्रीति है वह 'निर्विचिकित्सिता' मानी गई है। अर्थात् देहके स्वभाविक अशुचित्वादि दोषके कारण जो रत्नत्रय-गुण-विशिष्ट देहीके प्रति निरादर भाव न होकर उसके गुणोंमें प्रीतिका भाव है उसे सम्यग्दर्शनका 'निर्विचिकित्सित' अंग कहते है।

व्याख्या—यहां दो बातें खास तौरसे ध्यानमें लेने योग्य उल्लिखित हुई हैं; एक तो यह कि, शरीर स्वभावसे ही अपवित्र है और इसलिये मानव-मानवके शरीरमें स्वाभाविक अपवित्रता-की दृष्टिसे परस्पर कोई भेद नहीं है—सबका शरीर हाड़-चाम-रुधिर-मांस-मज्जादि धातु-उपधातुओंका बना हुआ और मल-मूत्रादि अपवित्र पदार्थोंसे भरा हुआ है। दूसरी यह कि स्वभावसे अपवित्र शरीर भी गुणोंके योगसे पवित्र हो जाता है और वे गुण

है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप तीन रत्न। जो शरीर इन गुणोंसे पवित्र है—इन गुणोंका धारक आत्मा जिस शरीरमें वास करता है—उस शरीर व शरीरधारीको जो कोई शरीरकी स्वाभाविक अपवित्रता अथवा किसी जाति-वर्गकी विशेषताके कारण घृणाकी दृष्टिसे देखता है और गुणोंमें प्रीति-को भुला देता है वह दृष्टि-विकारसे युक्त है और इसलिये प्रकृत अंगका पात्र नहीं। इस अंगके धारकमें गुणप्रीतिके साथ अग्ला-निका होना स्वाभाविक है—वह किसी शारीरिक अपवित्रताको लेकर या जाति-वर्ग-विशेषके चक्करमें पड़कर किसी रत्नत्रयधारी अथवा सम्यग्दर्शनादि-गुणविशिष्ट धर्मात्माकी अवज्ञामें कभी प्रवृत्त नहीं होता।

अमूढदृष्टि अंगका लक्षण

कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेऽप्यसम्मतिः।
असम्पृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढादृष्टिरुच्यते ॥१४॥

'दुःखोंके मार्गस्वरूप कुमार्गमें—भवभ्रमणके हेतुभूत मिथ्या-दर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्रमें—तथा कुमार्गस्थितमें—मिथ्या-दर्शनादिके धारक तथा प्ररूपक कुदेवादिकोंमें—जो असम्मति है—मनसे उन्हें कल्याणका साधन न मानना है—असम्पृक्ति है—काय की किसी चेष्टासे उनको श्रेयःसाधन-जैसी प्रशंसा न करना है—और अनुत्कीर्ति है—वचनसे उनकी आत्मकल्याण-साधनादिके रूपमें स्तुति न करना है—उसे 'अमूढदृष्टि' अंग कहते हैं।'

व्याख्या—यहां दुःखोंके उपायभूत जिस कुमार्गका उल्लेख है वह मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप है, जिसे ग्रन्थकी तीसरी कारिकामें '*भवन्ति भव-पद्धतिः*' वाक्यके द्वारा संसार-दुःखोंका हेतुभूत वह कुमार्ग सूचित किया है जो सम्यग्-दर्शनादिरूप सन्मार्गके विपरीत है। ऐसे कुमार्गकी मन-वचन-

कायसे प्रशंसादिक न करना एक बात तो वह अमूढदृष्टिके लिये आवश्यक है, दूसरी बात यह आवश्यक है कि वह कुमार्गमें स्थित-की भी मन-वचन-कायसे कोई प्रशंसादिक न करे और वह प्रशंसादिक, जिसका यहां निषेध किया गया है, उसके कुमार्गमें स्थित होनेकी दृष्टिसे है, अन्य दृष्टिसे उस व्यक्तिकी प्रशंसादिका यहां निषेध नहीं है। उदाहरणके लिये एक मनुष्य धार्मिक दृष्टि-से किसी ऐसे मतका अनुयायी है जिसे 'कुमार्ग' समझना चाहिये; परन्तु वह राज्यके रक्षामंत्री आदि किसी ऊंचे पद पर आसीन है और उसने उस पदका कार्य बड़ी योग्यता, तत्परता और ईमानदारीके साथ सम्पन्न करके प्रजाजनोंको अच्छी राहत (साता, शान्ति) पहुँचाई है, इस दृष्टिसे यदि कोई सम्यग्दृष्टि उसकी प्रशंसादिक करता या उसके प्रति आदर-सत्कारके रूपमें प्रवृत्त होता है, तो उसमें सम्यग्दर्शनका यह अंग कोई बाधक नहीं है। बाधक तभी होता है जब कुमार्गस्थितिके रूपमें उसकी प्रशंसादिक की जाती है; क्योंकि कुमार्गस्थितिके रूपमें प्रशंसा करना प्रकारान्तरसे कुमार्गकी ही प्रशंसादिक करना है, जिसे करते हुए एक सम्यग्दृष्टि अमूढदृष्टि नहीं रह सकता।

उपगूहनाङ्ग-लक्षण

स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य बालाऽशक्त-जनाऽऽश्रयाम् ।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनम् ॥१५॥

'जो मार्ग—सम्यग्दर्शनादिरूपधर्म—स्वयं शुद्ध है—स्वभावत: निर्दोष है—उसकी बालजनोंके—हिताऽहितविवेकरहित अज्ञानी मूढ-जनोंके—तथा अशक्तजनोंके—धर्मका ठीक तौरसे (यथाविधि) अनु-ष्ठान करनेकी सामर्थ्य न रखनेवालोंके—आश्रयको पाकर जो निन्दा होती हो—उस निर्दोष मार्गमें जो असद्दोषोद्भावन किया जाता हो—उस निन्दा या असद्दोषोद्भावनका जो प्रमार्जन—दूरीकरण—है उसे 'उपगूहन' अंग कहते हैं।'

व्याख्या—इस अंगकी अंगभूत दो बातें यहाँ खास तौरसे लक्ष्यमें लेने योग्य हैं, एक तो यह कि जिस धर्ममार्गकी निन्दा होती हो वह स्वयं शुद्ध होना चाहिये—अशुद्ध नहीं। जो मार्ग वस्तुतः अशुद्ध एवं दोषपूर्ण है—किसी अज्ञानभावादिके कारण कल्पित किया गया है—उसकी निन्दाके परिमार्जनका यहां कोई सम्बन्ध नहीं है—भले ही उस मार्गका प्रकल्पक किसी धर्मका कोई बड़ा सन्त साधु या विद्वान ही क्यों न हो। मार्गकी शुद्धता-निर्दोषताको देखना पहली बात है। दूसरी बात यह है कि वह निन्दा किसी अज्ञानी अथवा अशक्तजनका आश्रय पाकर घटित हुई हो। जो शुद्धमार्गका अनुयायी नहीं ऐसे धूर्तजनके द्वारा जान बूझकर घटित की जाने वाली निन्दाके परिमार्जनादिका यहां कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसे धूर्तोंकी कृतियोंका सन्मार्गकी निन्दा होनेके भयसे यदि गोपन किया जाता है अथवा उनपर किसी तरह पर्दा डाला जाता है तो उससे धूर्तताको प्रोत्साहन मिलता है, बहुतोंका अहित होता है और निन्दाकी परम्परा चलती है। अतः ऐसे धूर्तोंकी धूर्तताका पर्दाफाश करके उन्हें दण्डित कराना तथा सर्वसाधारणपर यह प्रकट कर देना कि 'ये उक्त सन्मार्गके अनुयायी न होकर कपटवेषी हैं' सम्यग्दर्शनके इस अंगमें कोई बाधा उत्पन्न नहीं करता, प्रत्युत इसके पेशेवर धूर्तोंसे सन्मार्गकी रक्षा करता है।

स्थितीकरणाङ्ग-लक्षण

दर्शनाच्चरणाद्वाऽपि चलतां धर्मवत्सलैः।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितीकरणमुच्यते ॥१६॥

'सम्यग्दर्शनसे अथवा सम्यक्चारित्रसे भी जो लोग चलायमान हो रहे हों—डिग रहे हों—उन्हें उस विषयमें दक्ष एवं धर्मसे प्रेम रखनेवाले स्त्री-पुरुषोंके द्वारा जो फिरसे सम्यग्दर्शन या

सम्यक्चारित्रमें (जैसी स्थिति हो) अवस्थापन करना है—उनकी उस अस्थिरता, चलचित्तता, स्खलना एवं डांवाडोल स्थितिको दूर करके उन्हें पहले-जैसी अथवा उससे भी सुदृढ स्थितिमें लाना है—वह 'स्थिती-करण' अंग कहा जाता है।'

व्याख्या—यहां जिनके प्रत्यवस्थापन अथवा स्थितीकरणकी बात कही गई है वे सम्यग्दर्शन या सम्यक्चारित्रसे चलायमान होनेवाले हैं। धर्मके मुख्य तीन अंगोंमेंसे दो से चलायमान होने वालोंको तो यहां ग्रहण किया गया है किन्तु तीसरे अंग सम्य-ग्ज्ञानसे चलायमान होनेवालोंको ग्रहण नहीं किया गया, यह क्यों ? इस प्रश्नका समाधान, जहां तक मैं समझता हूँ, इतना ही है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनोंका ऐसा जोड़ा है जो युगपत् उत्पन्न होते हुए भी परस्परमें कारण-कार्य-भावको लिये रहते हैं—सम्यग्दर्शन कारण है तो सम्यग्ज्ञान कार्य है, और इसलिये जो सम्यग्दर्शनसे चलायमान है वह सम्यग्ज्ञानसे भी चलायमान है और ऐसी कोई व्यक्ति नहीं होती जो सम्यग्दर्शनसे तो चलायमान न हो किन्तु सम्यग्ज्ञानसे चलायमान हो, इसीसे सम्यग्ज्ञानसे चलायमान होनेवालोंके पृथक् निर्देशकी यहाँ कोई जरूरत नहीं समझी गई। अथवा 'अपि' शब्दके द्वारा गौणरूप-से उनका भी ग्रहण समझ लेना चाहिये।

इनके सिवाय, जिनको इस अंगका स्वामी बतलाया गया है उनके लिये दो विशेषणोंका प्रयोग किया गया है—एक तो 'धर्मवत्सल' और दूसरा 'प्राज्ञ'। इन दोनोंमेंसे यदि कोई गुण न हो तो स्थितीकरणका कार्य नहीं बनता; क्योंकि धर्मवत्सलताके अभावमें तो किसी चलायमानके प्रत्यवस्थापनकी प्रेरणा ही नहीं होती और प्राज्ञता (दक्षता) के अभावमें प्रेरणाके होते हुए भी प्रत्यवस्थापनके कार्यमें सफल प्रवृत्ति नहीं बनती अथवा यों कहिये

कि सफलता ही नहीं मिलती। सफलताके लिये धर्मके उस अंगमें जिससे कोई चलायमान हो रहा हो स्वयं दृढ होनेकी और साथ ही यह जाननेकी जरूरत है कि उसके चलायमान होनेका कारण क्या है और उसे कैसे दूर किया जा सकता है।

वात्सल्याङ्ग-लक्षण

स्वयूथ्यान्प्रति सद्भाव-सनाथाऽपेतकैतवा।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते ॥१७॥

'स्वधर्मसमाजके सदस्यों—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप आत्मीय-धर्मके मानने तथा पालनेवाले साधर्मीजनों—के प्रति सद्भावसहित—मैत्री, प्रमोद, सेवा तथा परोपकारादिके उत्तम भावको लिये हुए—और कपटरहित जो यथायोग्य प्रतिपत्ति है—यथोचित आदर-सत्काररूप एवं प्रेममय प्रवृत्ति है—उसे 'वात्सल्य' अंग कहते हैं।

व्याख्या—इस अंगकी सार्थकताके लिये साधर्मी जनोंके साथ जो आदर-सत्काररूप प्रवृत्ति की जाए उसमें तीन बातोंको खास तौरसे लक्ष्यमें रखनेकी जरूरत है, एक तो यह कि वह सद्भावपूर्वक हो—लौकिक लाभादिकी किसी दृष्टिको साथमें लिये हुए न होकर सच्चे धर्मप्रेमसे प्रेरित हो। दूसरी यह कि, उसमें कपट-मायाचार अथवा नुमाइश-दिखावट जैसी चीजको कोई स्थान न हो। और तीसरी यह कि वह 'यथायोग्य' हो—जो जिन गुणोंका पात्र अथवा जिस पदके योग्य हो उसके अनुरूप ही वह आदर-सत्काररूप प्रवृत्ति होनी चाहिये; ऐसा न होना चाहिये कि धनादिककी किसी बाह्य-दृष्टिके कारण कम पात्र व्यक्ति तो अधिक आदर-सत्कारको और अधिक पात्र व्यक्ति कम आदर-सत्कारको प्राप्त होवे।

प्रभावनाङ्ग-लक्षण

अज्ञान-तिमिर-व्याप्तिमपाकृत्य यथायथम् ।
जिनशासन-माहात्म्य-प्रकाशः स्यात्प्रभावना ॥१८॥

'अज्ञान-अन्धकारके प्रसारको (सातिशय ज्ञानके प्रकाश द्वारा) समुचितरूपसे दूर करके जिनशासनके माहात्म्यको—जैनमतके तत्त्व-ज्ञान और सदाचार एवं तपोविधानके महत्वको—जो प्रकाशित करना है—लोक-हृदयोंपर उसके प्रभावका सिक्का अंकित करना है—उसका नाम 'प्रभावना' अंग है।'

व्याख्या—जिनशासन जिनेन्द्र-प्रणीत आगमको कहते हैं। उसका माहात्म्य उसके द्वारा प्रतिपादित अनेकान्तमूलक तत्त्वज्ञान और अहिंसामूलक सदाचार एवं कर्मनिर्मूलक तपोविधानमें संनि-हित है। जिनशासनके उस माहात्म्यको प्रकटित करना—लोक-हृदयोंपर अंकित करना—ही यहाँ 'प्रभावना' कहा गया है। और वह प्रकटीकरण अज्ञानरूप अन्धकारके प्रसार (फैलाव) को समु-चितरूपसे दूर करनेपर ही सुघटित हो सकता है, जिसको दूर करनेके लिये सातिशय ज्ञानका प्रकाश चाहिये। और इससे यह फलित होता है कि सातिशयज्ञानके प्रकाशद्वारा लोक-हृदयोंमें व्याप्त अज्ञान-अन्धकारको समुचितरूपसे दूर करके जिनशासनके माहा-त्म्यको जो हृदयाङ्कित करना है उसका नाम 'प्रभावना' है। और इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कोरी धन-सम्पत्ति अथवा बल-पराक्रमकी नुमाइशका नाम 'प्रभावना' नहीं है और न विभूतिके साथ लम्बे-लम्बे जलूसोंके निकालनेका नाम ही प्रभावना है, जो वस्तुतः प्रभावनाके लक्ष्यको साथमें लिये हुए न हों। हाँ, अज्ञान अन्धकारको दूर करनेका पूरा आयोजन यदि साथमें होतो वे जरूर उसमें सहायक हो सकते हैं। साथ ही, यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रभावनाका कार्य किसी जोर-जबर्दस्ती अथवा अनुचित

दबावसे सम्बन्ध नहीं रखता—उसका आधार सुयुक्तिवाद और प्रेममय-व्यवहार-द्वारा ग़लतफ़हमीको दूर करना है।

अंगोंमें प्रसिद्ध व्यक्तियोंके नाम

*तावदंजनचौरोऽङ्गे ततोऽनन्तमती स्मृता ।
उद्दायनस्तृतीयेऽपि तुरीये रेवती मता ॥ १६ ॥
ततो जिनेन्द्रभक्तोऽन्यो वारिषेणस्ततः परः† ।
विष्णुश्च वज्रनामा च शेषयोर्लक्ष्यतां गताः ॥२०॥

'सम्यग्दर्शनके उक्त आठ अङ्गोंमेंसे प्रथम अंगमें अंजन चोर, द्वितीयमें अनन्तमती, तृतीयमें उद्दायन, चतुर्थमें रेवती, पंचममें जिनेन्द्रभक्त, छठेमें वारिषेण, सप्तममें विष्णु और अष्टम अंगमें वज्रनामके व्यक्ति प्रसिद्धिको प्राप्त हुए हैं।

व्याख्या—इन व्यक्तियोंकी कथाएँ सुप्रसिद्ध हैं और अनेक ग्रन्थोंमें पाई जाती हैं। अतः उन्हें यहाँ उदाहृत नहीं किया गया है।

अंगहीन दर्शनकी असमर्थता

यदि सम्यग्दर्शन इन अंगोंसे हीन है तो वह कितना निःसार एवं अभीष्ट फलको प्राप्त करानेमें असमर्थ है उसे व्यक्त करते हुए स्वामीजी लिखते हैं :—

नाऽङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्म-सन्ततिम् ।
न हि मन्त्रोऽक्षर-न्यूनो निहन्ति विषवेदनाम् ॥२१॥

'अंगहीन सम्यग्दर्शन जन्म-संततिको—जन्म-मरणकी परम्परारूप भव(संसार)-प्रबन्धको—छेदनेके लिये समर्थ नहीं है; जैसे

* इन दो पद्योंकी स्थिति आदिके सम्बन्धमें विशेष विचार एवं ऊहापोह ग्रन्थकी प्रस्तावनामें किया गया है, उसे वहाँसे जानना चाहिये।

† 'परं' इति पाठान्तरम्।

अक्षरन्यून—कमती अक्षरोंवाला—मंत्र विषकी वेदनाको नष्ट करनेमें समर्थ नहीं होता है।'

व्याख्या—जिस प्रकार सर्पसे डसे हुए मनुष्यके सर्वअंगमें व्याप्त विषकी वेदनाको दूर करनेके लिये पूर्णाक्षर मंत्रके प्रयोगकी जरूरत है—न्यूनाक्षर मंत्रसे काम नहीं चलता, उसी प्रकार संसार-बंधनसे छुटकारा पानेके लिये प्रयुक्त हुआ जो सम्यग्दर्शन वह अपने आठों अगोंसे पूर्ण होना चाहिये—एक भी अंगके कम होनेसे सम्यग्दर्शन विकलांगी होगा और उससे यथेष्ट काम नहीं चलेगा—वह भवबन्धनसे अथवा सांसारिक दुःखोंसे मुक्तिकी प्राप्तिका समुचित साधन नहीं हो सकेगा।

सम्यग्दर्शनके लक्षणमें उसे तीन मूढता-रहित बतलाया था, वे तीन मूढता क्या हैं और उनका स्वरूप क्या है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए स्वामीजी स्वयं लिखते हैं:—

लोकमूढ-लक्षण

आपगा-सागर-स्नानमुच्चयः सिकताऽश्मनाम् ।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥२२॥

(लौकिक जनोंके मूढतापूर्ण दृष्टिकोणका गतानुगतिक रूपसे अनुसरण करते हुए, श्रेयः साधनके अभिप्रायसे अथवा धर्मबुद्धिसे) जो नदी-सागरका स्नान है, बालूरेत तथा पत्थरोंका स्तूपाकार ऊँचा ढेर लगाना है, पर्वतपरसे गिरना है, अग्निमें पड़ना अथवा प्रवेश करना है, और 'च' शब्दसे इसी प्रकारका और भी जो कोई काम है वह सब 'लोकमूढ' कहा जाता है।'

व्याख्या—यहाँ प्रधानतासे लोकमूढताके कुछ प्रकारोंका निर्देश किया गया है और उस निर्देशके द्वारा ही समूचे लोकमूढतत्त्वको समझनेकी ओर संकेत है। नदी-सागरके स्नानादि कार्य लोकमें जिस श्रेयःसाधन या पापोंके नाशकी दृष्टि अथवा धर्मप्राप्तिकी

बुद्धिसे किये जाते हैं वह दृष्टि तथा बुद्धि ही उन्हें लोकमूढतामें परिगणित कराती है; क्योंकि वस्तुत: उन कार्योंसे उस लक्ष्यकी सिद्धि नहीं बनती। इसीसे उन लोगोंका दृष्टिकोण कोरी गतानुगतिकताको लिये हुए मूढतापूर्ण (विवेकशून्य) होता है और उनके उन कार्योंको लोकमूढतामें परिगणित कराता है। अन्यथा, साधारण स्नानकी या स्वास्थ्यकी दृष्टिसे यदि कोई नदी-सागरादिकमें स्नान करता है, खेलकी दृष्टिसे अथवा अपने मालको सुरक्षित रखनेकी दृष्टिसे रेत तथा पत्थरोंका ऊँचा ढेर लगाता है और अनुसंधानकी दृष्टिसे ज्वालामुखी पर्वतकी अग्निमें पड़ता है अथवा चहुँ ओर जलते हुए मकानमेंसे किसी बालकादिको निकालनेके लिये स्वयं अग्निमें प्रवेश करता है और अग्निसे झुलस जाता या जल जाता है तो उसका वह कार्य लोकमूढतामें परिगणित नहीं होगा। इसी तरह दूसरे भी लोकमूढताके कार्योंको समझना चाहिये *।

देवता-मूढ-लक्षण

वरोपलिप्सयाऽऽशावान् राग-द्वेषमलीमसाः ।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥ २३ ॥

'आशा-तृष्णाके वशीभूत होकर वरकी इच्छासे—वांछित फल-प्राप्तिकी अभिलाषासे—राग-द्वेषसे मलिन—काम-क्रोध-मद-मोह तथा भयादि-दोषोंसे दूषित—देवताओंकी—परमार्थत: देवताभासोंकी—जो (देवबुद्धिसे) उपासना करना है उसे 'देवतामूढ' कहते हैं।'

* जिनका कुछ उल्लेख निम्न पद्योंमें पाया जाता है :—

सूर्यार्घो ग्रहण-स्नानं संक्रान्तौ द्रविण-व्ययः ।
संध्यासेवाऽग्निसत्कारो देह-गेहाऽर्चना-विधिः ॥ १ ॥
गोपृष्ठान्त-नमस्कारस्तन्मूत्रस्य निषेवणं ।
रत्न-वाहन-भू-वृक्ष-शस्त्र-शैलादि-सेवनम् ॥ २ ॥

व्याख्या—यहाँ देवताका जो विशेषण '*रागद्वेषमलीमसाः*' दिया है उसमें रागद्वेषके साथ उपलक्षणसे काम-क्रोध-मान-माया-लोभ-मोह तथा भयादिरूप सारे दोष शामिल हैं। और इन दोषोंसे दूषित-मलिनात्मा व्यक्ति वस्तुतः देवता नहीं होते—देवता तो वे ही होते हैं जिनका आत्मा इन राग-द्वेष मोह तथा काम क्रोधादि मलोंसे मलिन न होकर अपने शुद्धस्वरूपमें स्थित होता है और ऐसे देवता प्रायः वे ही होते हैं जिन्हें इस ग्रन्थमें आप्तरूपसे उल्लेखित किया है। चूंकि उन अदेवताओं या देवताभासोंको देवता समझकर उनकी देवताके समान उपासना की जाती है इसीसे उस उपासनाको देवतामूढमें परिगणित किया गया है और इसलिये जो लोग देव कहे जाने वाले ऐसे रागी, द्वेषी, कामी, क्रोधी तथा भयादिसे पीड़ित व्यक्तियोंकी देव-बुद्धिसे उपासना करते हैं वे सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकते।

पाषण्डिमूढ-लक्षण

सग्रन्थाऽऽरम्भ-हिंसानां संसाराऽऽवर्त-वर्तिनाम्।
पाषण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाषण्डि-मोहनम् ॥२४॥

'जो सग्रन्थ हैं—धन-धान्यादि परिग्रहसे युक्त हैं—आरम्भ-सहित हैं—कृषि-वाणिज्यादि सावद्य कर्म करते हैं—हिंसामें रत हैं, संसारके आवर्तोंमें प्रवृत्त हो रहे हैं—भवभ्रमणमें कारणीभूत विवाहादि कर्मों-द्वारा दुनियाके चक्कर अथवा गोरखधन्धेमें फँसे हुए हैं—ऐसे पाखण्डियोंका—वस्तुतः पापके खण्डनमें प्रवृत्त न होनेवाले लिंगी साधुओंका—जो (पाषण्डि-साधुके रूपमें अथवा सुगुरु-बुद्धिसे) आदर-सत्कार है उसे 'पाषण्डिमूढ' समझना चाहिये।'

व्याख्या—यहां 'पाषण्डिन्' शब्द अपने उस पुरातन मूल-अर्थमें प्रयुक्त हुआ है जो पाप-खण्डनकी दृष्टिको लिये रहता है और '*पापं खण्डयतीति पाखण्डी*' इस निरुक्तिका वाच्य 'सत्साधु'

होता है और जिस अर्थमें वह कुन्दकुन्दाचार्यके समयसार (गाथा नं० ४०८ आदि) † में तथा दूसरे अति प्राचीन साहित्यमें भी प्रयुक्त हुआ है। '*पाषण्डिनां*' पदके जो दो विशेषण '*सग्रन्थारम्भ-हिंसानां*' और '*संसारावर्तवर्तिनां*' दिये गये हैं और इन विशेषणोंसे विशिष्ट होकर पाषण्डी कहे जाने वाले व्यक्तियों—साधुओंके आदर-सत्कारको जो पाषण्डि-मूढ (मोहन) कहा गया है उस सबके द्वारा यह व्यक्त किया गया है कि इन परिग्रहारम्भादि-विशेषणोंसे विशिष्ट जो साधु होते हैं वे वस्तुतः 'पाखण्डी' (पाप-खण्डनकी साधना करने वाले) नहीं होते—वे तो अपनी इन परिग्रहादिकी प्रवृत्तियों-द्वारा उल्टा पापोंका संचय करनेवाले होते हैं—, सच्चे पाषण्डी इन दोनों ही विशेषणोंसे रहित होते हैं और वे प्रायः वे ही होते हैं जिन्हें इस ग्रन्थमें '*विषयाशावशतीतो-निरारम्भोऽपरिग्रहः*' इत्यादि 'परमार्थतपस्वी' के लक्षण-द्वारा संसूचित किया गया है। ऐसी हालतमें जो परिग्रहादिके पंकसे लिप्त हैं वे पाषण्डी न होकर अपाषण्डी अथवा पाषण्डाभास हैं और इसलिये उन्हें पाषण्डी मानकर पाषण्डीके सदृश जो उनका आदर-सत्कार किया जाता है वह पाषण्डिमूढ है—पाषण्डीके स्वरूप-विषयक अज्ञताका सूचक, एक प्रकारका दर्शनमोह है। ऐसे दर्शन-मोहसे जो युक्त होता है वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता।

यहाँ पर मैं इतना और भी प्रगट कर देना चाहता हूँ कि आजकल 'पाषण्डिन्' शब्द प्रायः धूर्त तथा दम्भी-कपटी जैसे विकृत अर्थमें व्यवहृत होता है और उसके अर्थकी यह विकृता-वस्था दशों शताब्दी पहलेसे चली आरही है। यदि 'पाषण्डिन्' शब्द के प्रयोगको यहाँ धूर्त, दम्भी, कपटी अथवा झूठे (मिथ्या-दृष्टि) साधु जैसे अर्थमें लिया जाय जैसाकि कुछ अनुवादकोंने भ्रमवश आधुनिक दृष्टिसे लेलिया है तो अर्थका अनर्थ हो जाय

† पाखण्डी-लिंगाणि व गिहलिंगाणि व बहुप्पयाराणि।

और '*पाषण्डिमोहनं*' पदमें पड़ा हुआ पाषण्डिन् शब्द अनर्थक और असम्बद्ध ठहरे; क्योंकि तब उस पदका यह अर्थ हो जाता है कि—धूर्तोंके विषयमें मूढ होना अर्थात् जो धूर्त नहीं हैं उन्हें धूर्त समझना और वैसा समझकर उनके साथ आदर-सत्कारका व्यवहार करना। और यह अर्थ किसी तरह भी संगत नहीं कहा जा सकता।

धर्मके अंगभूत सम्यग्दर्शनका लक्षण प्रतिपादन करते हुए उसे स्मयसे रहित बतलाया है। वह 'स्मय' क्या वस्तु है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए स्वामीजी स्वयं लिखते हैं—

स्मय-लक्षण और मद-दोष

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः ।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥२५॥

'**ज्ञान**—विद्या-कला, **पूजा**—आदर-सत्कार-प्रतिष्ठा-यशः-कीर्ति, **कुल**—पितृकुल-गुरुकुलादिक, **जाति**—ब्राह्मण-क्षत्रियादिक, **बल**—शक्ति-सामर्थ्य अथवा जन-धन-वचन-काय-मंत्र-सेनाबलादिक, **ऋद्धि**—अणिमादिक ऋद्धि अथवा लौकिक विभूति और पुत्र-पौत्रादिक-सम्पत्ति, **तप**—अनशनादिरूप-तपश्चर्या तथा योग-साधना, और **वपु**—शोभनाकृति तथा सौंदर्यादि-गुण-विशिष्ट शरीर; इन आठोंको आश्रित करके—इनमेंसे किसीका भी आश्रय-आधार लेकर—जो मान (गर्व) करना है उसे गतस्मय आप्तपुरुष 'स्मय' अर्थात् मद कहते हैं।

व्याख्या—ज्ञानादि रूप आश्रयके भेदसे मदके ज्ञानमद, पूजामद, कुलमद, जातिमद, बलमद, ऋद्धिमद, तपमद और शरीरमद ऐसे आठ भेद होते हैं—मदके स्थूलरूपसे यह आठ प्रकार हैं। सूक्ष्मरूपसे अथवा विस्तारकी दृष्टिसे यदि देखा जाय तो इनमेंसे प्रत्येकके विषय-भेदको लेकर अनेकानेक भेद बैठते हैं; जैसे ज्ञानके विषय सिद्धान्त, न्याय, व्याकरण, छन्द, अलंकार,

गणित, निमित्त, वैद्यक, ज्योतिष, मंत्र-तंत्र, भू-गर्भ, शिल्प-कला, व्योमविद्या और पदार्थ-विज्ञान आदि अनेक हैं, उनमेंसे किसी भी विषयको लेकर गर्व करना वह उस विषयके ज्ञानका मद है। बलमें मनोबल, वचनबल, कायबल, धनबल, जनबल, सेनाबल, अस्त्र-शस्त्रबल, मित्रबल आदि अनेक बल शामिल हैं और उतने ही प्रकारके बलमद हो जाते हैं। ऐसी ही स्थिति ऋद्धि आदि दूसरे मदोंकी है—उनके सैकड़ों भेद हैं। मद-मान-अहंकार आत्मा के पतनका कारण है और इसलिये उसकी संगति सम्यग्दर्शनके साथ नहीं बैठती, जो कि आत्माके उत्थान एवं विकासका कारण है।

इस मदकी मदिराका पानकर मनुष्य कभी-कभी इतना उन्मत्त (पागल) और विवेकशून्य हो जाता है कि उसे आत्मा तथा आत्म-धर्मकी कोई सुधि ही नहीं रहती और वह अपनेसे हीन कुल-जाति अथवा ज्ञानादिकमें न्यून धार्मिक व्यक्तियोंका तिरस्कार तक कर बैठता है। यह एक बड़ा भारी दोष है। इस दोष और उसके भयंकर परिणामको सुझाते हुए स्वामीजीने जो व्यवस्था दी है वह इस प्रकार है—

स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥२६॥

'जो गर्वितचित्त हुआ घमण्डमें आकर—कुल-जाति आदि विषयक किसी भी प्रकारके मदके वशीभूत होकर—सम्यग्दर्शनादिरूप धर्ममें स्थित अन्य धार्मिकोंको तिरस्कृत करता है—उनकी अवज्ञा-अवहेलना करता है—वह (वस्तुतः) आत्मीय धर्मको—सम्यग्दर्शनादि-रूप अपने आत्म-धर्मको—ही तिरस्कृत करता है, उसकी अवज्ञा अव-हेलना करता है; क्योंकि धार्मिकोंके बिना धर्मका अस्तित्व कहीं भी नहीं पाया जाता—गुणीके अभावमें गुणका पृथक् कोई सद्भाव ही

गई; और इसलिये जो गुणी धर्मात्माकी अवज्ञा करता है वह अपने ही गुण-धर्मकी अवज्ञा करता है, यह सुनिश्चित है।'

व्याख्या—जो अहंकारके वशमें अन्धा होकर दूसरे धर्मनिष्ठ व्यक्तियोंको अपनेसे कुल, जाति आदिमें हीन समझता हुआ उनका तिरस्कार करता है—उनकी उस कुल, जाति, गरीबी, कमजोरी या संस्कृति आदिकी बातको लेकर उनकी अवज्ञा-अवमानना करता है अथवा उनके किसी धर्माधिकारमें बाधा डालता है—वह भूलसे अपने ही धर्मका तिरस्कार कर बैठता है। फलतः उसके धर्मकी स्थिति बिगड़ जाती है और भविष्यमें उसके लिये उस धर्मकी पुनः प्राप्ति अति दुर्लभ हो जाती है। यही इस मदपरिणतिका सबसे बड़ा दोष है और इसलिये सम्यग्दृष्टिको आत्मपतनके हेतुभूत इस दोषसे सदा दूर रहना चाहिये।

मद-दोष-परिहार

उक्त मद-दोष किस प्रकारके विचारों-द्वारा दूर किया जा सकता है, इस विषयका तीन कारिकाओंमें दिशा-बोध कराते हुए स्वामीजी लिखते हैं—

यदि पाप-निरोधो-ऽन्यसन्पदा किं प्रयोजनम् ।
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्यसम्पदा किं प्रयोजनम् ॥२७॥

'यदि (किसीके पास) पापनिरोध है—पापके आस्रवको रोकने वाली सम्यग्दर्शनादि-रत्नत्रयधर्मरूप निधि मौजूद है—तो फिर अन्य सम्पत्तिसे—सम्यग्दर्शनादिसे भिन्न दूसरी कुल-जाति-ऐश्वर्यादिकी सम्पत्तिसे—क्या प्रयोजन है?—उससे आत्माका कौनसा प्रयोजन सध सकता है? कोई भी नहीं। और यदि पासमें पापास्रव है—मिथ्यादर्शनादिरूप अधर्ममें प्रवृत्तिके कारण आत्मामें सदा पापका आस्रव बना हुआ है—तो फिर अन्य सम्पत्तिसे—मात्र कुल-जाति-ऐश्वर्यादिकी उक्त सम्पत्तिसे—क्या प्रयोजन है? वह आत्माका क्या कार्य सिद्ध कर सकती है? कुछ भी नहीं।'

व्याख्या—धर्मात्मा वही होता है जिसके पापका निरोध है—पापास्रव नहीं होता। विपरीत इसके जो पापास्रवसे युक्त है उसे पापी अथवा अधर्मात्मा समझना चाहिए। जिसके पास पापके निरोधरूप धर्मसम्पत्ति अथवा पुण्यविभूति मौजूद है उसके लिये कुल-जाति-ऐश्वर्यादिकी सम्पत्ति कोई चीज नहीं—अप्रयोजनीय है। उसके अन्तरंगमें उससे भी अधिक तथा विशिष्टतर सम्पत्ति-का सद्भाव है जो कालान्तरमें प्रकट होगी, और इसलिये वह तिरस्कारका पात्र नहीं। इसी तरह जिसकी आत्मामें पापास्रव बना हुआ है उसके कुल-जाति-ऐश्वर्यादिकी सम्पत्ति किसी काम की नहीं। वह उस पापास्रवके कारण शीघ्र नष्ट हो जायगी और उसके दुर्गति-गमनादिको रोक नहीं सकेगी। ऐसी सम्पत्तिको पाकर मद करना मूर्खता है। जो लोग इस सम्पूर्ण तत्त्व(रहस्य) को समझते हैं वे कुल, जाति तथा ऐश्वर्यादिसे हीन धर्मात्माओं का—सम्यग्दर्शनादिके धारकोंका—कदापि तिरस्कार नहीं करते।

सम्यग्दर्शन-सम्पन्नमपि मातंगदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाऽङ्गाराऽन्तरौजसम् ॥२८॥

'जो मनुष्य सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न है—सम्यक् श्रद्धानरूप धर्म-सम्पत्तिसे युक्त है—वह चाण्डालका पुत्र होने पर भी—कुलादि सम्पत्तिसे अत्यन्त गिरा हुआ समझा जाने पर भी—देव है—आराध्य है और इसलिये तिरस्कारका पात्र नहीं, ऐसा आप्तदेव अथवा गण-धरादिक देव कहते हैं। उसकी दशा उस अंगारेके सदृश होती है जो बाह्यमें भस्मसे आच्छादित होनेपर भी अन्तरंगमें तेज तथा प्रकाशको लिये हुए है, और इसलिये कदापि उपेक्षणीय नहीं होता।

व्याख्या—यहाँ '*मातंगदेहजम्*' पद बड़े महत्वका है और उससे यह बात स्पष्ट जानी जाती है कि मनुष्योंमें चाण्डालका

काम करने वाला चाण्डाल ही नहीं बल्कि वह चाण्डाल भी सम्यग्दर्शनादि धर्मका पात्र है और उस धर्म-सम्पत्तिसे युक्त होने पर 'देव' कहलाये जानेके योग्य है जो चाण्डालके देहसे उत्पन्न हुआ है अर्थात् जन्म या जातिसे चाण्डाल है।

श्वाऽपि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्म-किल्बिषात्।
काऽपि नाम भवेदन्या सम्पद्धर्माच्छरीरिणाम् ॥२९॥

'(मनुष्य तो मनुष्य) एक कुत्ता भी धर्मके प्रतापसे—सम्यग्दर्शनादिके माहात्म्यसे—स्वर्गादिमें जाकर देव बन जाता है, और पापके प्रभावसे—मिथ्यादर्शनादिके कारण—एक देव भी कुत्तेका जन्म ग्रहण करता है। धर्मके प्रसादसे तो देहधारियोंको दूसरी अनिर्वचनीय सम्पत्-तककी प्राप्ति हो सकती है। (ऐसी हालतमें कुल, जाति तथा ऐश्वर्यादि-से हीन धर्मात्मा लोग कदापि तिरस्कारके योग्य नहीं होते।)'

व्याख्या—यहाँ धर्म और धर्मके फलका अधिकारी मनुष्य या देव ही नहीं बल्कि कुत्ता-जैसा तिर्यंचप्राणी भी होता है, यह स्पष्ट बतलाकर फलतः इस बातकी घोषणा की गई है कि ऐसी हालतमें कुल, जाति तथा ऐश्वर्यादिसे हीन धर्मात्मा लोग कदापि तिर-स्कारके योग्य नहीं होते।

इन सब बातोंको लक्ष्यमें रखते हुए स्वामीजी सम्यग्दृष्टिके विशेष कर्तव्यका निर्देश करते हुए लिखते हैं :—

सम्यग्दृष्टिका विशेष कर्तव्य

भयाऽऽशा-स्नेह-लोभाच्च कुदेवाऽऽगम-लिङ्गिनाम्।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥३०॥

'शुद्ध सम्यग्दृष्टियोंको चाहिये कि वे (श्रद्धा अथवा मूढदृष्टिसे ही नहीं किन्तु) भयसे—लौकिक अनिष्टकी सम्भावनाको लेकर उससे बचने-के लिये—आशासे—भविष्यकी किसी इच्छापूर्तिको ध्यानमें रखकर—स्नेहसे—लौकिक प्रेमके वश होकर—तथा लोभसे—धनादिकका कोई

लौकिक लाभ स्पष्ट सधता हुआ देखकर—भी कुदेव-कुआगम-कुलिंगियोंको—उन्हें कुदेव-कुआगम-कुलिंगी मानते हुए भी—प्रणाम (शिरोनति) तथा विनयआदिके—अभ्युत्थान हस्तांजलि आदिके—रूपमें आदर-सत्कार-न करें।'

व्याख्या—कुदेवादिकोंको प्रणामादिक करनेसे अपने निर्मल सम्यग्दर्शनमें मलिनता आती है और दूसरोंके सम्यग्दर्शनको भी ठेस पहुँचती है तथा जो धर्मसे चलायमान हों उनका स्थितिकरण भी नहीं हो पाता। ऐसा करनेवालोंका अमूढदृष्टि तथा निर्मद होना उनकी ऐसी प्रवृत्तिको समुचित सिद्ध करनेके लिये कोई गारण्टी (प्रमाणपत्र) नहीं हो सकता। इन्हीं सब बातोंको लक्ष्यमें रखकर तथा सम्यग्दर्शनमें लगे हुए चल-मल और अगाढ दोषोंको दूर करनेकी दृष्टिसे यहाँ उन देवों, आगमों तथा साधुओंके प्रणाम विनयादिकका निषेध किया गया है जो कुधर्मका झंडा उठाए हुए हों। उनके उपासक जनसाधारणका—जैसे माता-पिता-राजादिकका—,जोकि न देव है और न लिंगी, यहाँ ग्रहण नहीं है। और इसलिए लौकिक अथवा लोकव्यवहारकी दृष्टिसे उनको प्रणाम-विनयादिक करनेमें दर्शनकी म्लानताका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार भयादिककी दृष्टि न रखकर लोकानुवर्ति-विनय अथवा शिष्टाचारपालनके अनुरूप जो विनयादिक क्रिया की जाती है उससे भी उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

मोक्षमार्गमें सम्यग्दर्शनका स्थान

दर्शनं ज्ञान-चारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते ॥३१॥

'सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी अपेक्षा सम्यग्दर्शन उत्कृष्टता (श्रेष्ठता) को प्राप्त है इसलिए (सन्तजन) मोक्षमार्गमें—

मोक्षकी प्राप्तिके उपायस्वरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनोंमें—सम्यग्दर्शनको कर्णधार—खेवटिया—कहते हैं*।'

व्याख्या—समुद्रमें पड़ी हुई नावको खे कर उसपार लेजानेमें खेवटियाको जो पद प्राप्त है वही पद संसार-समुद्रमें पड़ी हुई जीवन-नैय्याको खे कर मोक्षतट पर पहुँचानेमें सम्यग्दर्शनको प्राप्त है।

सम्यग्दर्शनकी उत्कृष्टता

सम्यग्दर्शनको उसकी जिस उत्कृष्टताके कारण 'कर्णधार' कहा गया है उसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्यमहोदय लिखते हैं:—

विद्या-वृत्तस्य संभूति-स्थिति-वृद्धि-फलोदयाः ।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाऽभावे तरोरिव ॥३२॥

'जिस प्रकार बीजके अभावमें—बीजके बिना—वृक्षकी उत्पत्ति वृद्धि और फलसम्पत्ति नहीं बन सकती उसी प्रकार सम्यक्त्वके अभावमें—सम्यग्दर्शनके बिना—सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी उत्पत्ति, स्थिति—स्वरूपमें अवस्थान—, वृद्धि—उत्तरोत्तर उत्कर्षलाभ—और यथार्थ-फलसम्पत्ति—मोक्षफलकी प्राप्ति—नहीं हो सकती।'

व्याख्या—यहाँ 'सम्यक्त्व' शब्दके द्वारा गृहीत जो सम्यग्दर्शन वह मूलकारण अथवा उपादानकारणके रूपमें प्रतिपादित है। उसके होनेपर ही ज्ञान-चारित्र सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्रके रूपमें परिणत होते हैं, यही उनकी सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूपसे संभूति है। सम्यग्दर्शनकी सत्ता जबतक बनी रहती है तबतक ही वे अपने स्वरूपमें स्थिर रहते हैं, अपने विषयमें उन्नति करते

* भवाब्धौ भव्यसार्थस्य निर्वाणद्वीपयायिनः ।
चारित्रयानपात्रस्य कर्णधारो हि दर्शनम् ॥ —चारित्रसार

हैं और यथार्थ फलके दाता होते हैं। सम्यग्दर्शनकी सत्ता न रहनेपर उत्पन्न हुए सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र भी अपनी धुरी पर स्थिर नहीं रहते—डोल जाते हैं—उनमें विकार आ जाता है, जिससे उनकी वृद्धि तथा यथार्थ-फलदायिनी शक्ति रुक जाती है और वे मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्रमें परिणत होकर तद्रूप ही कहे जाते हैं तथा यथार्थफल जो आत्मोत्कर्ष-साधन है उसको प्रदान करनेमें समर्थ नहीं रहते। अतः ज्ञान और चारित्रकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनकी उत्कृष्टता स्पष्ट सिद्ध है—वह उन दोनोंकी उत्पत्ति आदिके लिये बीजरूपमें स्थित है।

मोही मुनिसे निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो,† गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥३३॥

'**निर्मोही**—दर्शनमोहसे रहित सम्यग्दृष्टि—**गृहस्थ मोक्षमार्गी है**—धर्मपर आरूढ है, भले ही वह कुल, जाति, वेष तथा चारित्रादिसे कितना ही हीन क्यों न हो—**किन्तु मोहवान्**—दर्शनमोहसहित मिथ्यादृष्टि—**गृहत्यागी मुनि मोक्षमार्गी नहीं है**—धर्म पर आरूढ नहीं है, भले ही वह कुल-जाति-वेषसे कितना ही उच्च तथा बाह्य चारित्रादिकमें कितना ही बढ़ा-चढ़ा क्यों न हो। **अतः जो भी गृहस्थ मिथ्यादर्शन रहित—सम्यग्दृष्टि है वह दर्शनमोहसे युक्त** (प्रत्येक जातिके) **मिथ्यादृष्टि मुनिसे श्रेष्ठ है।**'

व्याख्या—गृहत्यागी मुनिका दर्जा आमतौर पर गृहस्थसे ऊँचा होता है: परन्तु जो गृहस्थ सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न है उसका दर्जा जैनागमकी दृष्टि-अनुसार उस मुनिसे ऊँचा है जो सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न नहीं है। गृहस्थ-पदमें सभी जातियों और सभी श्रेणियोंके मनुष्योंका समावेश होता है और चाण्डालके पुत्र

† अनगारी इति पाठान्तरम्।

तकको सम्यग्दर्शनका पात्र बतलाया गया है (का० २८)। ऐसी हालतमें यह स्पष्ट है कि हीनसे हीन जाति-कुलवाला गृहस्थ भी जो सम्यग्दृष्टि है वह उस उच्चसे उच्च जाति-कुलवाले मुनिसे भी ऊँचे दर्जे पर है जो शास्त्रोंका बहुत कुछ पाठी तथा बाह्या-चारमें निपुण होते हुए भी मिथ्यादृष्टि है—द्रव्यलिङ्गी है। इस दृष्टिसे भी ज्ञान-चारित्रकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनकी उत्कृष्टता स्पष्ट है।

श्रेय-अश्रेयका अटल नियम

न सम्यक्त्व-समं किंचित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्व-समं नाऽन्यत्तनूभृताम् ॥३४॥

'तीनों कालों और तीनों लोकोंमें अन्य कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो सम्यक्त्वके समान—सम्यग्दर्शनके सदृश—देहधारियोंके लिये श्रेय रूप हो—उनका कल्याण कर सके, और न ऐसी ही कोई अन्य वस्तु है जो मिथ्यात्वके समान अश्रेयरूप हो—उनका अकल्याण कर सके।'

व्याख्या—यहाँ तीनों कालों और तीनों लोकोंकी दृष्टिसे संसारी जीवोंके हित-अहितका विचार करते हुए बतलाया गया है कि उनके लिये सदा एवं सर्वत्र सम्यग्दर्शन सबसे अधिक हित रूप है और मिथ्यात्व सबसे अधिक अहितरूप है। इससे सम्य-ग्दर्शनकी उत्कृष्टता एवं उपादेयता और भी स्पष्ट हो जाती है।

सम्यग्दर्शन-माहात्म्य

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारक-तिर्यङ्-नपुंसक-स्त्रीत्वानि ।
दुष्कुल-विकृताऽल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाऽप्यव्रतिकाः॥३५

'जो (अबद्धायुष्क) सम्यग्दर्शनसे शुद्ध हैं—जिनका आत्मा (आयु कर्मका बन्ध होनेके पूर्व) निर्मल सम्यग्दर्शनका धारक है—वे अव्रती होते हुए भी—अहिंसादि व्रतोंमेंसे किसी भी व्रतका पालन न करते हुए

भी—नरक-तिर्यंच गतिको तथा (मनुष्यगतिमें) नपुंसक और स्त्रीकी पर्यायको प्राप्त नहीं होते और न (भवान्तरमें) निंद्य कुलको, अंगोंकी विकलताको, अल्पायुको तथा दरिद्रताको—सम्पत्तिहीनता या निर्धनताको—ही प्राप्त होते हैं। अर्थात् निर्मल सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति-के अनन्तर और उसकी स्थिति रहते हुए उनसे ऐसे कोई कर्म नहीं बनते जो नरक-तिर्यंच आदि पर्यायोंके बन्धके कारण हों और जिनके फल-स्वरूप उन्हें नियमतः उक्त पर्यायों अथवा उनमेंसे किसीको प्राप्त करना पड़े।'

व्याख्या—यह कथन उन सम्यग्दृष्टियोंकी अपेक्षासे है जो सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके पूर्व अबद्धायुष्क † रहे हों—नरक-तिर्यंच-जैसी आयुका बन्ध न कर चुके हों अथवा सम्यक्त्वकालमें ही जिन्होंने आयु-कर्मका बन्ध किया हो; क्योंकि किसी भी प्रकारका आयु-कर्मका बन्ध एक बार होकर फिर छूटता नहीं और न उसमें परस्थान-संक्रमण ही होता है। ऐसी हालतमें जो लोग सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके पूर्व अथवा उसकी सत्ता न रहने पर नरकायु या तिर्यंचायुका बन्ध कर चुके हों उनकी दशा दूसरी है—उनसे इस कथनका सम्बन्ध नहीं है—, वे मरकर नरक या तिर्यंचगतिको जरूर प्राप्त करेंगे। हाँ, बद्धायुष्क होनेके बाद उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शनके प्रभावसे उनकी स्थितिमें कुछ सुधार जरूर हो जायगा*; जैसे सप्तमादि नरकोंकी आयु बाँधनेवाले प्रथम नरकमें ही जायेंगे—उससे आगे नहीं—और स्थावर, विकलत्रयादि रूप तिर्यंचायुका बन्ध करनेवाले स्थावर तथा

† श्रीचामुण्डरायने चारित्रसारमें इस कारिकाको उद्धृत करते हुए 'उक्तञ्च अबद्धायुष्कविषये' इस वाक्य-द्वारा इसे अबद्धायुष्कसे सम्बन्ध रखनेवाली प्रकट किया है।

* दुर्गतावायुषो बन्धे सम्यक्त्वं यस्य जायते।
गतिच्छेदो न तस्यास्ति तथाप्यल्पतरा स्थितिः॥

विकलत्रयपर्यायको न धारणकर तिर्यंचोंमें संज्ञी-पंचेन्द्रिय-पुल्लिंग-पर्यायको ही धारण करनेवाले होंगे। इसी तरह पूर्वबद्ध देवायु तथा मनुष्यायुकी बन्धपर्यायोंमें भी स्वस्थान-संक्रमणकी दृष्टिसे विशेषता आजायगी और वे संभावित प्रशस्तताका रूप धारण करेंगी। यहाँ पर इतना और भी जान लेना चाहिये कि यह सब कथन सम्यग्दर्शनका कोरा माहात्म्यवर्णन नहीं है बल्कि जैनागम-की सैद्धान्तिक दृष्टिके साथ इसका गाढ (गहरा) सम्बन्ध है।

ओजस्तेजो-विद्या-वीर्य-यशो-वृद्धि-विजय-विभव-सनाथाः।
महाकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः ॥३६॥

'सम्यग्दर्शनसे जिनका आत्मा पवित्र है वे ऐसे मानवतिलक पुरुषशिरोमणि—(भी) होते हैं, जो ओज—उत्साहसे, तेज—प्रतापसे, विद्या—बुद्धिसे, वीर्य—बलसे, यश—कीर्तिसे, वृद्धि—उन्नतिसे, जय-विजयसे और विभव—ऐश्वर्यसे युक्त होते हैं, महाकुल होते हैं—लोकपूजित उत्तम कुलोंमें जन्म लेते हैं—, और महार्थ होते हैं—महान ध्येयके धारक अथवा विपुल धनसम्पत्तिसे सम्पन्न होते हैं।'

व्याख्या—इससे पूर्वकी कारिकामें उन अवस्थाओंका उल्लेख है जिन्हें अबद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि प्राप्त नहीं होते। इस कारिका तथा अगली पाँच कारिकाओंमें उन विशिष्ट अवस्थाओंका निर्देश है जिन्हें वे सम्यग्दृष्टि जीव यथासाध्य प्राप्त होते हैं। ये अवस्थाएँ उत्तरोत्तर विशिष्टताको लिए हुए हैं और जीवोंको अपनी अपनी साधनाके अनुरूप प्राप्त होती हैं। यहाँ वह पूर्व-कारिकोल्लिखित दुष्कुलता और दरिद्रतासे छूटकर साधारण उच्चकुल तथा धनसम्पत्तिसे युक्त मानव ही नहीं होता बल्कि ओज-तेज-विद्यादिकी विशेषताको लिये हुए महाकुलीन और महदर्थ-सम्पन्न मानवतिलक भी होता है। और इससे यह कारिका पूर्वकारिकासे सामान्यतः फलित होनेवाली अवस्थाओंकी एक विशेषताको लिये हुए है।

अष्ट-गुण-पुष्टि-तुष्टा दृष्टिविशिष्टाः प्रकृष्टशोभाजुष्टा ।
अमराऽप्सरसां परिषदि चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे॥३७॥

'सम्यग्दर्शनकी विशेषताको प्राप्त हुए जिनेन्द्रभक्त, **अष्ट-गुणोंसे**—अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, ईशत्व, वशित्व, कामरूपित्व नामकी आठ दिव्यशक्तियोंसे—**तथा पुष्टिसे**—अपने शरीरावयवोंके दिव्य संगठनसे—**सन्तुष्ट रहते हुए**—सदा प्रसन्नताका अनुभव करते हुए—**और अतिशय शोभासम्पन्न होते हुए, स्वर्गमें चिरकालतक देव-देवांगनाओंकी सभामें**—उनके समूहमें—**रमते हैं**—आनन्दपूर्वक क्रीडा करते हैं।'

व्याख्या—जिनेन्द्रके भक्त सम्यग्दृष्टि जीव यदि मरकर देव-पर्यायको प्राप्त होते हैं तो वे भवनत्रिकमें—भवनवासि-व्यन्तर-ज्योतिष्क देवोंमें—जन्म न लेकर प्रायः स्वर्गोंमें उत्पन्न होते हैं और वहाँ हीनश्रेणीके देव न बनकर प्रायः ऊँचे दर्जेके देव ही नहीं बनते बल्कि देवेन्द्रके पदतकको प्राप्त करते हैं और अणिमा-महिमादि आठ दिव्य-शक्तियोंके लाभसे तथा अपने अंगोंके दिव्य-संगठनसे सदा सन्तुष्ट रहकर सातिशय शोभासे सम्पन्न हुए देव-देवांगनाओंकी गोष्ठीमें चिरकालतक रमे रहते हैं—हजारों वर्षों तक ऊँचे दर्जेके लौकिक आनन्दका उपभोग करते हैं। अणिमादि आठ दिव्य-शक्तियोंके स्वरूपादिका वर्णन आगे ६३ वीं कारिकाकी व्याख्यामें दिया गया है। इसतरह यह दूसरी विशिष्टावस्थाका उल्लेख है।

नव-निधि-सप्तद्वय-रत्नाधीशाः सर्वभूमि-पतयश्चक्रम् ।
वर्तयितुं प्रभवन्ति स्पष्टदृशः क्षत्र-मौलि-शेखर-चरणाः ॥३८

'जो निर्मल सम्यग्दर्शनके धारक हैं वे नव-निधियों तथा चौदह रत्नोंके स्वामी और सर्वभूमिके—षट्खण्ड पृथ्वीके—अधि-पति होते हुए चक्रको—सुदर्शनचक्र नामके आयुधरत्नको—प्रवर्तित

करनेमें समर्थ होते हैं—अर्थात् चक्रवर्ती सम्राट् होते हैं—और उनके चरणोंमें राजाओंके मुकुट-शेखर झुकते हैं—मुकुटबद्ध माण्डलीक राजा उन्हें बड़ी विनयके साथ सदा प्रणाम किया करते हैं।'

व्याख्या—यहाँ तीसरी विशिष्टावस्थाका उल्लेख है और वह षट्खण्डाधिपति चक्रवर्तीकी अवस्था है जो नवनिधियों (नौ प्रकारके अटूट खजानों) † और चौदह विशिष्ट (चेतन-अचेतनात्मक) रत्नोंका * स्वामी होता है तथा सारे मुकुटबद्ध माण्डलिक राजा जिसके चरणोंमें सीस झुकाते हैं। महाकुलादि-सम्पन्न मानवतिलक होकर भी किसीके लिए चक्रवर्ती होना लाज़मी नहीं है—वह नारायण तथा बलभद्रादि जैसे उच्च-पदका धारक भी हो सकता है। सम्यग्दृष्टि चक्रवर्तीका पद पानेमें भी समर्थ होता है यह उसकी अथवा उसके सम्यग्दर्शनकी जुदी ही विशिष्टता है, जिसका यहाँ उल्लेख है।

अमराऽसुर-नर-पतिभिर्यमधर-पतिभिश्च नूतपादाऽम्भोजाः।
दृष्ट्या सुनिश्चिताऽर्था वृषचक्रधरा भवन्ति लोक-शरण्याः३९

'जिन्होंने सद्दृष्टिसे—अनेकान्तदृष्टिसे—अर्थका—जीवादि-पदार्थ-समूहका—भले प्रकार निश्चय किया है ऐसे सम्यग्दृष्टिजीव धर्मचक्रके धारक वे तीर्थंकर (भी) होते हैं जिनके चरणकमल देवेन्द्रों, असुरेन्द्रों (धरणेन्द्रों), नरेन्द्रों (चक्रवर्तियों) तथा गणधर-मुनीन्द्रोंके द्वारा स्तुत किये जाते हैं और जो (कर्मशत्रुओंसे उपद्रुत)

---

† रक्षित-यक्ष-सहस्राः काल-महाकाल-पाण्डु-माणव-शंखाः।
नैसर्प-पद्म-पिंगल-नानारत्नाश्च नवनिधयः॥
ऋतुयोग्य-वस्तु-भाजन-धान्या-ऽऽयुध-तूर्य-हर्म्य-वस्त्राणि।
आभरण-रत्ननिकरान् क्रमेण निधयः प्रयच्छन्ति॥

* चक्रं छत्रमसिर्दण्डो मणिश्चर्म च काकिणी।
गृह-सेना-पती तक्ष-पुरोधाऽश्व-गज-स्त्रियः॥

लौकिक जनोंके लिये शरण्यभूत होते हैं—जनता जिनकी शरणमें जाकर शान्ति-सुखका अनुभव करती है।'

व्याख्या—यहाँ चौथी विशिष्टावस्थाका उल्लेख है जो धर्म-चक्रके प्रवर्तक तीर्थंकरकी अवस्था है, जिसे प्राप्त करके शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव देवेन्द्रों, असुरेन्द्रों, नरेन्द्रों और मुनीन्द्रों जैसे सभी लोकमान्योंके द्वारा नमस्कृत एवं पूजित होते हैं, सभीके शरण्य-भूत बनते हैं और इस तरह लोकमें सबसे अधिक ऊँचे एवं प्रतिष्ठित पदको प्राप्त करनेमें भी समर्थ होते हैं।

शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाधं विशोक[म]भय[म]शंकम्।
काष्ठागतसुख-विद्या-विभवं विमलं भजन्ति दर्शनशरणाः॥४०

'जो सम्यग्दर्शनकी शरणमें प्राप्त हैं—सम्यग्दर्शन ही जिनका एक रक्षक है—वे उस शिवपदको (भी) प्राप्त होते हैं—आत्माकी उस परमकल्याणमय अवस्थाको भी तद्रूप होकर अनुभव करते हैं—जो जरासे विहीन है, रोगसे मुक्त है, क्षयसे रहित है, विविध प्रकारकी आबाधाओंसे—कष्ट-परम्पराओंसे—विवर्जित है, शोकसे मुक्त है, भयसे हीन है, शंकासे शून्य है, सुख और ज्ञानकी विभूतिके परमप्रकर्षको—चरमसीमाको—लिए हुए है और द्रव्य-भाव रूप कर्ममलका जहाँ सर्वथा अभाव रहता है।'

व्याख्या—जो शुद्ध सम्यग्दर्शनके अनन्य उपासक होते हैं वे अन्तको दुःखमय संसार-बन्धनोंसे छूटकर सदाके लिये मुक्त हो जाते हैं—और परम ज्ञानानन्दमय बने रहते हैं। सम्यग्दृष्टिके लिये एक-न-एक दिन शिवपदका प्राप्त करना अवश्यंभावी है—चाहे उसकी प्राप्तिके लिये उसे कितने ही भव धारण करने पड़ें। यहाँ उस पदके स्वरूपका कुछ निर्देश करते हुए बतलाया है कि वह शिवपद जरासे, रोगोंसे, क्षयसे, बाधाओंसे, भयोंसे और शंकाओं से विहीन होता है, सुख तथा ज्ञानविभूतिको उसकी चरम सीमा

तक अपनाये रहता है और उसके साथमें द्रव्यकर्म, भावकर्म तथा नोकर्म रूपसे किसीभी प्रकारके कर्ममलका सम्पर्क नहीं होता— वह सारे ही कर्ममलसे सदा अस्पृष्ट बना रहता है। इस अवस्था-विशेषकी प्राप्तिके लिये किसीके हलधर (बलभद्र) वासुदेव जैसे मानव-तिलक और चक्रवर्ती या तीर्थंकर होनेकी जरूरत नहीं है। अतः इस पद्यमें सम्यग्दर्शनके माहात्म्यका उपसंहार करते हुए जो कुछ कहा गया है वह अपनी जुदी ही विशेषता रखता है ।

देवेन्द्र-चक्र-महिमानममेयमानं
राजेन्द्र-चक्रमवनीन्द्र-शिरोऽर्चनीयम् ।
धर्मेन्द्र-चक्रमधरीकृत-सर्वलोकं
लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्यः ॥४१॥

इति श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्य-विरचिते समीचीनधर्मशास्त्रे रत्नकरण्डाऽपरनाम्नि उपासकाध्ययने सम्यग्दर्शन-वर्णनं नाम प्रथममध्ययनम् ॥१॥

'जिनेन्द्रमें भक्तिका धारक भव्य प्राणी—सम्यग्दृष्टि जीव—देवेन्द्रोंके समूहकी अमर्यादित महिमाको, अवनीन्द्रों—मुकुटबद्ध माण्डलिक राजाओं—द्वारा नमस्कृत चक्रवर्तियोंके चक्ररत्नको और सम्पूर्ण लोकको अपना उपासक बनानेवाले धर्मेन्द्रचक्रको—धर्मके अनुष्ठाता-प्रणेता तीर्थंकरोंके चिन्हस्वरूप धर्मचक्रको—पाकर शिवपद को प्राप्त होता है—आत्माकी परमकल्याणमय उस स्वात्मस्थितिरूप आत्यन्तिक अवस्थाको प्राप्त करता है, जो सम्पूर्ण विभाव-परणतिसे रहित होती है ।'

व्याख्या—ऊपरी दृष्टिसे देखनेपर ऐसा मालूम होता है कि इस कारिकामें पिछली चार कारिकाओंके विषयकी पुनरुक्ति की गई है और यह एक उपसंहारात्मक संग्रहवृत्त है; परन्तु जब

गहरी दृष्टि डालकर इसे देखा जाता है तब यह पुनरुक्तियोंको लिए हुए कोरा संग्रहवृत्त मालूम नहीं होता। इसमें 'लब्ध्वा' पद और 'च' शब्दके प्रयोग अपनी खास विशेषता रखते हैं और इस बातको सूचित करते हैं कि एक ही सम्यग्दृष्टि जीव क्रमशः देवेन्द्र, राजेन्द्र (चक्रवर्ती) और धर्मेन्द्र (तीर्थंकर) इन तीनोंकी अवस्थाओंको प्राप्त होता हुआ भी शिवपदको प्राप्त करता है और यह पूर्वकी चार कारिकाओंमें वर्णित सम्यग्दृष्टिकी अवस्थाओंसे विशिष्टतम अवस्था है। ऐसे सातिशय पुण्याधिकारी सम्यग्दृष्टि जीव इस अवसर्पिणी कालके भारतवर्षमें कुल तीन ही हुए हैं और वे हैं शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ तथा अरहनाथ के जीव, जो एक ही मनुज-पर्यायमें चक्रवर्ती और तीर्थंकर दोनों पदोंके उपभोक्ता हुए हैं और देवेन्द्रके सुखोंको भोगते हुए इस पृथ्वीपर अवतीर्ण हुए थे। अतः इस पद्यमें पुनुरुक्ति नहीं बल्कि यह सम्यग्दृष्टिकी एक जुदी ही विशिष्टावस्था अथवा सम्यग्दर्शनके विशिष्टतम माहात्म्यका संद्योतक है।

इस प्रकार श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्य-विरचित समीचीन-धर्मशास्त्र
अपरनाम रत्नकरण्ड-उपासकाध्यायमें सम्यग्दर्शनका
वर्णन करनेवाला पहला अध्ययन समाप्त हुआ ॥१॥

द्वितीय अध्ययन

सम्यग्ज्ञान-लक्षण

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात् ।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥ १ ॥ ४२ ॥

'यथावस्थित वस्तु स्वरूपको जो न्यूनता–विकलता-रहित, अतिरिक्तता–अधिकता-रहित, विपरीतता-रहित और सन्देहरहित जैसाका तैसा जानता है अथवा उस रूप जो जानना है उसे आगमके ज्ञाता (भावश्रुतरूप) 'सम्यक्ज्ञान' कहते हैं ।'

व्याख्या—सम्यग्ज्ञानका विषय जो यथावस्थित वस्तुस्वरूपको जैसाका तैसा (याथातथ्यं) जानना बतलाया गया है उसको स्पष्ट करनेके लिये यहाँ *'अन्यूनं' 'अनतिरिक्तं' 'विपरीताद्विना'* और *'निःसन्देहं'* इन चार विशेषण पदोंका प्रयोग किया गया है और उनके द्वारा यह प्रदर्शित किया गया है कि वस्तुस्वरूपका वह जानना स्वरूपकी न्यूनताको लिये हुए अथवा अव्याप्ति दोष-से दूषित न होना चाहिये, स्वरूपकी अतिरिक्तता–अधिकताको लिये हुए ‡ अथवा अतिव्याप्ति दोषसे दूषित भी वह न होना चाहिये । इसी तरह स्वरूपकी कुछ विपरीतता तथा स्वरूपमें सन्देहको भी वह लिये हुए न होना चाहिये । इन चारों विशेषणों-की सामर्थ्यसे ही उस ज्ञानके यथावस्थित वस्तुस्वरूपका ज्योंका

---

‡ जीवादि किसी वस्तुके स्वरूपमें सर्वथा नित्यत्व-क्षणिकत्वादि धर्मोंके विद्यमान न होते हुए भी जो वैसे किसी धर्मकी कल्पना करके उस वस्तुको उस रूपमें जानना है वह स्वरूपकी अतिरिक्तताको लिये हुए जानना है, ऐसा टीकाकार प्रभाचन्द्रने अपनी टीकामें व्यक्त किया है ।

त्यों जानना बन सकता है। और श्रुतज्ञानके इस रूपके ही केवल-ज्ञानकी तरह जीवादि समस्त पदार्थोंके स्वरूपको अविकल-रूपमें प्रकाशनकी सामर्थ्यका संभव हो सकता है, जिस सामर्थ्यका पता स्वामी समन्तभद्रके 'देवागम' की निम्न कारिकासे चलता है, जिसमें बतलाया गया है कि स्याद्वादरूप जो श्रुतज्ञान है वह और केवलज्ञान दोनों ही सर्वतत्त्वोंके प्रकाशनमें समर्थ हैं, भेद इतना ही है कि एक उन्हें साक्षात्रूपसे प्रकाशित करता है तो दूसरा असाक्षात् (अप्रत्यक्ष वा परोक्ष) रूपसेः—

स्याद्वाद-केवलज्ञाने सर्व-तत्त्व-प्रकाशने ।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥१०५॥

उक्त स्वरूपको लिये हुए जो ज्ञान है वही इस ग्रन्थमें धर्मके अंगरूपमें स्वीकृत है।

आगे विषय-भेदसे इस ज्ञानके मुख्य चार भेदोंका वर्णन करते हुए ग्रन्थकार महोदय लिखते हैं:—

प्रथमानुयोग-स्वरूप

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम् ।
बोधि-समाधि-निदानं बोधति बोधः समीचीनः ॥२॥४३॥

'**पुण्यके प्रसाधनस्वरूप तथा बोधि-समाधिके निदानरूप**—सम्यग्दर्शनादिक और धर्म-ध्यानादिककी प्राप्तिमें कारणरूप—**जो अर्थाख्यान है**—शब्द-अर्थ-व्यंजक कथानक है—**चारित्र और पुराण है**—एकपुरुषाश्रित सत्यकथा और अनेकपुरुषाश्रित सत्यघटना-समूह है—**वह प्रथमानुयोग है, उस प्रथमानुयोगको जो जानता है वह सम्यग्ज्ञान है।** अर्थात् उक्त स्वरूपात्मक प्रथमानुयोगका जानना भी भावश्रुतरूप सम्यग्ज्ञानमें शामिल अथवा परिगणित है।

व्याख्या—यहाँ अनुयोग शब्दके पूर्वमें जो 'प्रथम' शब्दका प्रयोग पाया जाता है वह किसी संख्या अथवा क्रमका वाचक

नहीं है, बल्कि प्रधानताका द्योतक है। यह अनुयोग सब अनुयोगों में प्रधान है; क्योंकि एक तो इसके कथानकोंमें दूसरे अनुयोगोंका बहुत कुछ विषय आ जाता है; दूसरे, कथात्मक होनेसे यह बाल वृद्ध युवा और स्त्री सभीके लिये आसानीसे समझमें आने योग्य होता है, और तीसरे इस अनुयोगमें वर्णित पुण्य-कथानकोंको सुनने तथा अनुभूतिमें लानेसे मनुष्य पुण्य-प्रसाधक धर्मकार्योंके करनेमें प्रवृत्त होता है, उसे अप्राप्त सम्यग्दर्शनादिरूप बोधितक-की प्राप्ति होती है और वह धर्मध्यान तथा शुक्लध्यानरूप समाधिकी सजीव प्रेरणाओंको पाकर अपने आत्मविकासकी ओर लगता है। इस अनुयोगका अन्यत्र 'धर्मकथानुयोग' के नामसे भी उल्लेख मिलता है। इस अनुयोगके सब विशेषणोंमें 'अर्थाख्यान' नामका विशेषण खास तौरसे ध्यानमें लेने योग्य है और वह इस बातको सूचित करता है कि इस अनुयोगके कथानक अर्थकी दृष्टिसे प्रकल्पित नहीं होते—वे परमार्थरूप सत् विषयके प्रतिपादनको लिये हुए होते हैं। इसी बातको टीकाकार प्रभाचन्द्र-ने निम्न शब्दोंमें व्यक्त किया है—

"तस्य प्रकल्पितत्व-व्यवच्छेदार्थमर्थाख्यानमिति विशेषणं, अर्थस्य परमार्थस्य सतो विषयस्याऽऽख्यानं यत्र येन वा तं"

और इसलिये जो कथानक अथवा कथा-साहित्य अर्थकी दृष्टिसे प्रकल्पित हों उसे इस अनुयोगके बाहरकी वस्तु समझनी चाहिये।

करणानुयोग-स्वरूप

लोकाऽलोक-विभक्ते र्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च ॥ ३ ॥ ४४ ॥

'जो लोक-अलोकके विभागका, (उत्सर्पिण्यादि-युगरूप) काल-परिवर्तनका और चतुर्गतियोंका दर्पणकी तरह प्रकाशक है वह

करणानुयोग है, उसको जो जानता है वह भी सम्यग्ज्ञान है—
अर्थात् उक्त स्वरूप करणानुयोगका जानना भी सम्यग्ज्ञान है।

व्याख्या—यहाँ करणानुयोगके विषयको मोटे रूपसे तीन भागोंमें विभाजित किया गया है—एक लोक-अलोकके विभाजनका, दूसरा युग—परिवर्तनका और तीसरा चतुर्गतियोंका विभाग है। जहाँ जीवादिक पदार्थ देखनेमें आते हैं—पाये जाते हैं—उसे 'लोक' कहते हैं, जो कि ऊर्ध्व मध्य अधोलोकके भेदसे तीन भेद रूप है और जिसका परिमाण ३४३ राजू जितना है। जहाँ जीवादि पदार्थ देखनेमें नहीं आते उस लोक-बाह्य अनन्त शुद्ध आकाशको 'अलोक' कहते हैं । इन दोनोंका विभाग कैसे और क्षेत्र-विन्यासादि किस किस प्रकारका है यह सब करणानुयोगके प्रथम विभागका विषय है । दूसरे विभागमें उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी जैसे युगोंके समयोंका विभाजन और उनमें होनेवाले पदार्थोंके वृद्धि-ह्रासादिरूप परिवर्तनोंका निरूपण आता है। तीसरे विभागमें देव, नरक, मनुष्य और तिर्यंचके भेदसे चार गतियोंका स्वरूप तथा स्थिति आदिका वर्णन रहता है। करणानुयोग अपने इन सब विषय-विभागोंको यथावस्थितरूपमें दर्पणकी तरह प्रकाशित करता है । ऐसे करणानुयोग शास्त्रको भावश्रुतरूप जो सम्यग्ज्ञान है वह जानता है अर्थात् यह भी उस सम्यग्ज्ञानका विषय है । यह अनुयोग अन्यत्र गणितानुयोगके नामसे भी उल्लेखित मिलता है।

चरणानुयोग-स्वरूप

गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्ति-वृद्धि-रक्षाङ्गम् ।
चरणानुयोग-समयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति ॥ ४ ॥४५ ॥

'गृहस्थों और गृहत्यागी मुनियोंके चरित्रकी उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षाके अंगस्वरूप—कारणभूत अथवा इन तीन अंगोंको

लिये हुए जो शास्त्र है वह चरणानुयोग है; उस शास्त्रको जो विशेष रूपसे जानता है वह (भावश्रुतरूप) सम्यग्ज्ञान है। अर्थात् उक्त स्वरूप चरणानुयोगका जानना भी सम्यग्ज्ञान है।

व्याख्या—यहाँ *'चरणानुयोगसमयं'* पदका जो विशेषण पूर्वार्द्ध-के रूपमें स्थित है उससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि चरणानुयोग नामका जो द्रव्यश्रुत (केवल्यनुकूलप्रणीत आचारशास्त्रादिके रूपमें) है वह गृहस्थों तथा मुनियोंके चारित्रकी उत्पत्ति, वृद्धि एवं रक्षाको अपना अंग किये होता है—उनका प्रतिपादक होता है—अथवा वैसे चारित्रकी उत्पत्ति आदिमें निमित्तभूत सहायक होता है। उस केवलि-प्रणयनाऽनुवर्ति चारित्र-शास्त्रको जो सविशेष रूपसे जानता है या जिसके द्वारा वह शास्त्र जाना जाता है उसे अथवा उस जाननेको भी सम्यग्ज्ञान कहते हैं, जो कि भाव-श्रुतके रूपमें होता है।

गृहस्थोंके योग्य चारित्रकी उत्पत्ति वृद्धि और रक्षाका कितना ही मौलिक वर्णन इस ग्रन्थमें आ गया है, जो कि चरणानुयोगका ही एक मुख्य अंग है। गृहत्यागी मुनियोंके चारित्रकी उत्पत्ति वृद्धि और रक्षाके लिये मूलाचार, भगवती आराधना आदि प्रमुख ग्रन्थोंको देखना चाहिये।

द्रव्यानुयोग-स्वरूप

जीवाऽजीवसुतत्त्वे पुण्याऽपुण्ये च बन्ध-मोक्षौ च।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुत-विद्याऽऽलोक माऽऽतनुते ॥५॥४६॥

इति श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्य-विरचिते समीचीन-धर्मशास्त्रे रत्नकरण्डऽपरनाम्नि उपासकाऽध्ययने सम्यग्ज्ञान-वर्णनं नाम द्वितीयमध्ययनम् ॥ २ ॥

'जो सुव्यवस्थित जीव-अजीव तत्त्वोंको, पुण्य-पापको तथा बन्ध-मोक्षको और (चकारसे) बन्धके कारण (आस्रव) तथा मोक्षके

कारणों (संवर-निर्जरा) को भी प्रकाशित करनेवाला दीपक है वह द्रव्यानुपयोग है, और वह श्रुतविद्यारूप भावश्रुतके आलोक-को विस्तृत करता है। यह द्रव्यानुयोग सम्यग्ज्ञानका विषय है इसलिये इसका जानना भी सम्यग्ज्ञान है।'

व्याख्या—यहाँ जिस द्रव्यानुयोगको दीपकके रूपमें उल्लेखित किया गया है वह सिद्धान्तसूत्रादि अथवा तत्त्वार्थसूत्रादिके रूप-में द्रव्यागम है–द्रव्यश्रुत है–जो कि जीव-अजीव नामके सुतत्त्वों को, पुण्य-पापरूप कर्मप्रकृतियोंको तथा बन्ध-मोक्षको और बन्ध-के कारण (आस्रव) और मोक्षके कारणों (संवर-निर्जरा) को *अशेष-विशेषरूपसे प्ररूपित करता हुआ श्रुतविद्यारूप भावश्रुतके* प्रकाशको विस्तृत करता है। ऐसी स्थितिमें द्रव्यानुयोगका जानना भी सम्यग्ज्ञान है। जिन नव तत्त्वोंके प्ररूपक द्रव्यागमका यहाँ उल्लेख है उनका स्वरूप द्रव्यानुयोग-विषयक शास्त्रोंमें विस्तारके साथ वर्णित है और इसलिये उसे यहां देनेकी ज़रूरत नहीं है, उन्हीं शास्त्रोंपरसे उसको जानना चाहिये ।

इस तरह सम्यग्ज्ञान विषय-भेदसे प्रथमानुयोग, करणा-नुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगके रूपमें चार भेद रूप है। प्रस्तुत धर्मशास्त्रमें ज्ञानके इन्हीं चार भेदोंको स्वीकृत किया गया है, मतिज्ञानादिकको नहीं।

इस प्रकार स्वामी समन्तभद्राचार्य-विरचित समीचीन-धर्मशास्त्र अपरनाम रत्नकरण्ड-उपासकाध्ययनमें सम्यग्ज्ञान-वर्णन नामका दूसरा अध्ययन समाप्त हुआ ।।२।।

तृतीय अध्ययन

सच्चारित्रका पात्र और ध्येय

मोह-तिमिराऽपहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः ।
राग-द्वेष-निवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥१॥४७॥

'मोह-तिमिरका अपहरण होने पर—दर्शनमोह (मिथ्यादर्शन)-रूप अन्धकारके यथासम्भव उपशम, क्षय तथा क्षयोपशम-दशाको प्राप्त होने पर अथवा दर्शनमोह-चारित्रमोहरूप मोहके और ज्ञानावरणादिरूप तिमिरके यथासम्भव क्षयोपशमादिके रूपमें अपहृत होने पर—सम्यग्दर्शनके लाभपूर्वक सम्यग्ज्ञानको प्राप्त हुआ साधुपुरुष—भव्यात्मा—राग-द्वेषकी निवृत्तिके लिये चरणको—हिंसादि-निवृत्ति-लक्षण सम्यक् चारित्रको—अंगीकार करता है।'

व्याख्या—यहाँ 'दर्शन' और 'चरण' शब्द बिना साथमें किसी विशेषणके प्रयुक्त होने पर भी पूर्व-प्रसंगवश अथवा ग्रन्थाधिकारके वश सम्यक्पदसे उपलक्षित हैं और इसलिए उन्हें क्रमशः सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्रके वाचक समझना चाहिये। सम्यक्चारित्रका किसलिये अंगीकार किया जाता है—उसकी स्वीकृति अथवा तद्रूप-प्रवृत्तिका क्या कुछ ध्येय तथा उद्देश्य है—और उसको अंगीकार करनेका कौन पात्र है? यही सब इस कारिकामें बतलाया गया है, जिसे दूसरे शब्दों-द्वारा आत्मामें सम्यक्चारित्रकी प्रादुर्भूतिका क्रम-निर्देश भी कह सकते हैं। इस निर्देशमें उस सत्पुरुषको सम्यक्चारित्रका पात्र ठहराया है जो सम्यग्ज्ञानी हो, और इसलिये अज्ञानी अथवा मिथ्याज्ञानी उसका पात्र ही नहीं। सम्यग्ज्ञानी वह होता है जो सम्यग्दर्शनको

प्राप्त कर लेता है—सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति उसके सम्यग्ज्ञानी होनेमें कारणीभूत है। और सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति तब होती है जब मोह-तिमिरका अपहरण हो जाता है। जब तक मोह-तिमिर बना रहता है तब तक सम्यग्दर्शन नहीं हो पाता। अथवा जितने अंशोंमें वह बना रहता है उतने अंशोंमें यह नहीं हो पाता। अतः पहले सम्यग्दर्शनमें बाधक बने हुए मोह-तिमिरको प्रयत्न-पूर्वक दूर करके दृष्टि-सम्पत्तिको—सम्यग्दृष्टिको—प्राप्त करना चाहिये और सम्यग्दृष्टिकी प्राप्ति-द्वारा सम्यग्ज्ञानी बनकर राग-द्वेषकी निवृत्तिको अपना ध्येय बनाना चाहिये; तभी सम्यक्-चारित्रका आराधन बन सकेगा। जितने जितने अंशोंमें यह मोह-तिमिर दूर होता रहेगा उतने उतने अंशोंमें दर्शन-ज्ञानकी प्रादुर्भूति होकर आत्मामें सम्यक्चारित्रके अनुष्ठानकी पात्रता आती रहेगी। और इसलिये मोह-तिमिरको दूर करनेका प्रयत्न सर्वोपरि मुख्य है—वही अध्यात्मामें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप धर्मकी उत्पत्ति (प्रादुर्भूति) के लिये भूमि तय्यार करता है। इसीसे ग्रन्थकी आदिमें मोह-तिमिरके अपहरणस्वरूप सम्यग्दर्शन-का अध्ययन सबसे पहले कुछ विस्तारके साथ रक्खा गया है और उसमें सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिपर सबसे अधिक जोर देते हुए उसे ज्ञान और चारित्रके लिये बीजभूत बतलाया है †।

चारित्रके ध्येयका स्पष्टीकरण

राग-द्वेष-निवृत्तिर्*हिंसादि निवर्तना-कृता भवति।
अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन् ॥२॥३८॥

'राग-द्वेषकी निवृत्ति हिंसादिककी निवर्तनासे—चारित्ररूपसे कथ्यमान अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहादि व्रतोंकी

† देखो, 'विद्या-वृत्तस्य सम्भूति' इत्यादि कारिका ३२।

* रागद्वेषनिवृत्तेरिति पाठान्तरम्।

उपासनामें—की गई होती है। (इसीसे साधुजन हिंसादि-निवृत्ति-लक्षण चारित्रको अंगीकार करते हैं—उसकी उपासना-आराधनामें प्रवृत्त होते हैं। सो ठीक ही है) क्योंकि अर्थवृत्तिकी अथवा अर्थ (प्रयोजनविशेष) और वृत्ति (आजीविका) की अपेक्षा न रखता हुआ ऐसा कौन पुरुष है जो राजाओंकी सेवा करता है ?—कोई भी नहीं।'

व्याख्या—जिस प्रकार राजाओंका सेवन बिना प्रयोजनके नहीं होता उसी प्रकार अहिंसादि-व्रतोंका सेवन भी बिना प्रयोजनके नहीं होता। राजाओंके सेवनका प्रयोजन यदि अर्थवृत्ति है तो इन व्रतोंके अनुष्ठान-आराधनरूप सेवनका प्रयोजन है उनके द्वारा सिद्ध होनेवाली राग और द्वेषकी निवृत्ति। अतः इस प्रयोजनको सदा ही ध्यानमें रखना चाहिए। अहिंसादिव्रतोंका अनुष्ठान करते हुए यदि यह प्रयोजन सिद्ध नहीं हो रहा है तो समझना चाहिए कि व्रतोंका सेवन-आराधन ठीक नहीं बन रहा है और तब उसे ठीक तौर पर बनानेका पूर्ण प्रयत्न होना चाहिये। जिस व्रतीका लक्ष्य ही राग-द्वेषकी निवृत्तिकी तरफ न हो उसे 'लक्ष्य-भ्रष्ट' और उसके व्रतानुष्ठानको व्यर्थका कोरा आडम्बर समझना चाहिये।

प्रतिपद्यमान चारित्रका लक्षण

हिंसाऽनृत-चौर्येभ्यो मैथुनसेवा-परिग्रहाभ्यां च।
पाप-प्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥३॥४९॥

'हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुनसेवा और परिग्रहके रूपमें जो पाप-प्रणालिकाएँ हैं—पापास्रवके द्वार हैं, जिनमें होकर ही ज्ञानावरणादि पाप-प्रकृतियाँ आत्मामें प्रवेश पाती हैं और इसलिये पापरूप हैं—उनसे जो विरक्त होना है—तद्रूप प्रवृत्ति न करना है—वह सम्यग्ज्ञानी-का चारित्र अर्थात् सम्यक्चारित्र है।'

व्याख्या—यहाँ 'संज्ञस्य' पदके द्वारा सम्यक्चारित्रके स्वामी-का निर्देश किया गया है और उसे सम्यग्ज्ञानी बतलाया गया है। इससे स्पष्ट है कि जो सम्यग्ज्ञानी नहीं उसके सम्यक्-चारित्र होता ही नहीं—मात्र चारित्र-विषयक कुछ क्रियाओंके कर लेनेसे ही सम्यक्चारित्र नहीं बनता, उसके लिये पहले सम्यग्ज्ञानका होना अति आवश्यक है।

हिंसाके लिये इसी ग्रन्थमें आगे 'प्राणातिपात' (प्राणव्य-परोपण, प्राणघात), 'वध' तथा 'हति' का; अनृतके लिये 'वितथ' 'अलीक' तथा मृषाका एवं फलितार्थके रूपमें असत्यका; चौर्यके लिये 'स्तेय' का; मैथुनसेवाके लिये 'काम' तथा 'स्मर' का एवं फलितार्थरूपमें 'अब्रह्म' का; और परिग्रहके लिये 'संग', 'मूर्छा' (ममत्वपरिणाम) तथा 'इच्छा' का भी प्रयोग किया गया है ‡। और इसलिये अपने अपने वर्गके इन शब्दोंको एकार्थक, पर्याय-नाम अथवा एक दूसरेका नामान्तर समझना चाहिए।

चारित्रके भेद और स्वामी

सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसंग-विरतानाम्।
अनगाराणां, विकलं सागाराणां ससंगानाम् ॥४॥५०॥

'(पूर्वनिर्दिष्ट हिंसादि-विरति-लक्षण) चारित्र 'सकल' (परिपूर्ण) और 'विकल' (अपूर्ण) रूप होता है—महाव्रत-अणुव्रतके भेदसे उसके दो भेद हैं। सर्वसंगसे—बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रह से—विरक्त गृहत्यागी मुनियोंका जो चारित्र है वह सकलचारित्र

‡ देखो, हिंसावर्गके लिये कारिका ५२, ५३, ५४, ७२, ७५ से ७८, ८४; अनृतवर्गके लिये कारिका ५२, ५५, ५६; चौर्यवर्गके लिये कारिका ५२, ५७; मैथुनसेवावर्गके लिये कारिका ५२, ६०, १४३; और परिग्रह-वर्गके लिये कारिका ५०, ६१।

(सर्वसंयम) है, और परिग्रहसहित गृहस्थोंका जो चारित्र है वह 'विकलचारित्र' (देशसंयम) है।'

व्याख्या—यहाँ चारित्रके दो भेद करके उनके स्वामियोंका निर्देश किया गया है। महाव्रतरूप सकलचारित्रके स्वामी (अधिकारी) उन अनगारों (गृहत्यागियों) को बतलाया है जो संपूर्णपरिग्रहसे विरक्त हैं, और अणुव्रतरूप विकलचारित्रके स्वामी उन सागारों (गृहस्थों) को प्रकट किया है जो परिग्रह-सहित हैं और इसलिये दोनोंके '*सर्वसंगविरत*' और '*ससंग*' इन दो अलग-अलग विशेषणोंसे स्पष्ट है कि जो अनगार सर्वसंगसे विरक्त नहीं हैं—जिनके मिथ्यात्वादिक कोई प्रकारका परिग्रह लगा हुआ है—वे गृहत्यागी होनेपर भी सकलचारित्रके पात्र या स्वामी नहीं—यथार्थमें महाव्रती अथवा सकलसंयमी नहीं कहे जा सकते; जैसे कि द्रव्यलिंगी मुनि, आधुनिक परिग्रहधारी भट्टारक तथा ११ वीं प्रतिमामें स्थित क्षुल्लक-ऐलक। और जो सागार किसी समय सकलसंगसे विरक्त हैं उन्हें उस समय गृहमें स्थित होने मात्रसे सर्वथा विकलचारित्री (अणुव्रती) नहीं कह सकते—वे अपनी उस असंगदशामें महाव्रतकी ओर बढ़ जाते हैं। यही वजह है कि ग्रंथकारमहोदयने सामायिकमें स्थित ऐसे गृहस्थोंको 'यति भावको प्राप्त हुआ मुनि' लिखा है (कारिका १०२) और मोही मुनिसे निर्मोही गृहस्थको श्रेष्ठ बतलाया है (का. ३३)। और इससे यह नतीजा निकलता है कि चारित्रके 'सकल' या 'विकल' होनेमें प्रधान कारण उभय प्रकारके परिग्रह-से विरक्ति तथा अविरक्ति है—मात्र गृहका त्यागी या अत्यागी होना नहीं है। अतः 'सर्वसंगविरत' और 'ससंग' ये दोनों विशेषण अपना खास महत्व रखते हैं और किसी तरह भी उपेक्षणीय नहीं कहे जा सकते।

व्रतभेदरूप गृहस्थचारित्र

गृहिणां त्रेधा तिष्ठत्यणु-गुण-शिक्षा-व्रतात्मकं चरणम् ।
पंच-त्रि-चतुर्भेदं त्रयं यथासंख्यमाख्यातम् ॥५॥५१॥

'**गृहस्थोंका** (विकल) चारित्र अणुव्रत-गुणव्रत-शिक्षाव्रतरूपसे तीन प्रकारका होता है। और वह व्रतत्रयात्मक चारित्र क्रमशः पांच-तीन-चार भेदोंको लिये हुए कहा गया है—अर्थात् अणुव्रतके पांच, गुणव्रतके तीन और शिक्षाव्रतके चार भेद होते हैं।'

व्याख्या—यहाँ गृहस्थोंके विकल-चारित्रके अंगरूपमें जिन पांच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतोंकी सूचना की गई है उनमें अणुव्रत चारित्रकी उत्पत्तिके अंगरूपमें गुणव्रत चारित्रकी वृद्धिके अंगरूपमें और शिक्षाव्रत चारित्रकी रक्षाके अंगरूपमें स्थित हैं।

आगे ग्रन्थकारमहोदय विकल चारित्रके इन भेदों तथा उप-भेदोंका क्रमशः लक्षण-पुरस्सर वर्णन करते हैं।

अणुव्रत-लक्षण

प्राणातिपात-वितथव्याहार-स्तेय-काम-मूर्च्छाभ्यः† ।
स्थूलेभ्यः पापेभ्यः व्युपरमणमणुव्रतं भवति ॥६॥५२॥

'**स्थूलप्राणातिपात**—मोटे रूपमें प्राणोंके घातरूप स्थूलहिंसा—, **स्थूलवितथव्याहार**—मोटे रूपमें अन्यथा कथनरूप स्थूलअसत्य—, **स्थूलस्तेय**—मोटे रूपमें परधन हरणादिरूप स्थूलचौर्य(चोरी)—, **स्थूलकाम**—मोटे रूपमें मैथुन सेवारूप स्थूल-अब्रह्म—और **स्थूलमूर्च्छा**—मोटे रूपमें ममत्वपरिणामरूप स्थूल-परिग्रह—; इन (पांच) पापोंसे जो विरक्त होना है उसका नाम '**अणुव्रत**' है।'

† 'मूर्च्छेभ्यः' इति पाठान्तरम्।

व्याख्या—यहाँ पापोंके पाँच नाम दिये हैं, जिन्हें अन्यत्र दूसरे नामोंसे भी उल्लेखित किया है, और उनका स्थूल विशेषण देकर मोटे रूपमें उनसे विरक्त होनेको 'अणुव्रत' बतलाया है। इससे दो बातें फलित होती हैं—एक तो यह कि इन पापोंका सूक्ष्मरूप भी है और इस तरहसे पाप स्थूल-सूक्ष्मके भेदसे दो भागोंमें विभक्त हैं। अगली एक कारिका '*सीमान्तनां परतः*' (९५) में '*स्थूलेतरपंचपापसंत्यागात्*' इस पदके द्वारा इन पांच पापोंके 'स्थूल' और 'सूक्ष्म' ऐसे दो भेदोंका स्पष्ट निर्देश भी किया गया है और ६८वीं तथा ७०वीं कारिकाओंमें सूक्ष्मपापको 'अणुपाप' नामसे और ५७वीं कारिकामें स्थूल पापको 'अकृश' शब्दसे उल्लेखित किया है, इससे 'अणु' और 'कृश' भी सूक्ष्मके नामान्तर हैं। दूसरी बात यह कि सूक्ष्मरूपसे अथवा पूर्णरूपसे इन पापोंसे विरक्त होनेका नाम 'महाव्रत' है, जिसकी सूचना कारिका ७०, ७२ और ९५ से भी मिलती है।

इसके सिवाय, जिन्हें यहाँ 'पाप' बतलाया गया है उन्हें ही चारित्रका लक्षण प्रतिपादन करते हुए पिछली एक कारिका (४९) में 'पापप्रणालिका' लिखा है, और इससे यह जाना जाता है कि यहां कारणमें कार्यका उपचार करके पापके कारणोंको 'पाप' कहा गया है। वास्तवमें पाप मोहनीयादि कर्मोंकी वे अप्रशस्त प्रकृतियाँ हैं जिनका आत्मामें आस्रव तथा बन्ध इन हिंसादिरूप योग-परिणतिसे होता है और इसीसे इनको 'पापप्रणालिका' कहा गया है। स्वयं ग्रन्थकार महोदयने अपने स्वयम्भूस्तोत्रमें '*मोहरूपो रिपुः पापः कषायभटसाधनः*' इस वाक्यके द्वारा 'मोह' को उसके क्रोधादि-कषाय-भटों-सहित 'पाप' बतलाया है और देवागम (९५) तथा इस ग्रन्थ (का. २७) में भी 'पापास्रव' जैसे शब्दोंका प्रयोग करके कर्मोंकी दर्शनमोहादिरूप अशुभ प्रकृतियोंको ही 'पाप' सूचित किया है। तत्त्वार्थसूत्रमें श्रीगृध्रपिच्छाचार्यने भी

'*अतोऽन्यत्पापं*' इस सूत्रके द्वारा सातावेदनीय, शुभआयु, शुभ-नाम और शुभ (उच्च) गोत्रको छोड़कर शेष सब कर्मप्रकृतियों-को 'पाप' बतलाया है। दूसरे भी पुरातन आचार्योंका ऐसा ही कथन है। अतः जहाँ कहीं भी हिंसादिकको पाप कहा गया है वहाँ कारणमें कार्यकी दृष्टि संनिहित है, ऐसा समझना चाहिए।

अहिंसाऽणुव्रत-लक्षण

संकल्पात्कृत-कारित-मननाद्योग-त्रयस्य-चर-सत्वान्।
न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूल-वधाद्विरमणं निपुणाः ॥७॥५३॥

'संकल्पसे—संकल्पपूर्वक (इरादतन) अथवा शुद्ध स्वेच्छासे—किये गये योगत्रयके—मन-वचन-कायके—कृतकारित-अनुमोदन-रूप व्यापारसे जो त्रस जीवोंका—लक्ष्यभूत द्वीन्द्रियादि प्राणियोंका—प्राणघात न करना है उसे निपुणजन (आप्तपुरुष व गणधरादिक) 'स्थूलवधविरमण'—अहिंसाऽणुव्रत—कहते हैं।'

व्याख्या—यहाँ '*संकल्पात्*' पद उसी तरह हेतुरूपमें प्रयुक्त हुआ है जिस तरह कि तत्त्वार्थसूत्रमें '*प्रमत्तयोगात्*' और पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें '*कषाययोगात्*' पदका प्रयोग पाया जाता है*, और यह पद आरम्भादिजन्य-त्रसहिंसाका निवर्तक (अग्राहक) तथा इस व्रतके व्रतीकी शुद्ध-स्वेच्छा अथवा स्वतन्त्र इच्छाका संद्योतक है। और इसके द्वारा व्रतकी अणुताके अनुरूप जहाँ त्रसहिंसाको सीमित किया गया है वहाँ यह भी सूचित किया गया है कि इस (संकल्प) के विना वह (संकल्पी) त्रसहिंसा नहीं बनेगी। और यह ठीक ही है; क्योंकि कारणके अभावमें तज्जन्य कार्यका भी अभाव होता है। और इस 'संकल्पात्' पदकी

* प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा। —तत्त्वार्थसूत्र ७-१३

यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्य-भाव-रूपाणां।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥ पुरुषार्थ० ४३

अनुवृत्ति अगली 'सत्याणुव्रत' आदिका लक्षण प्रतिपादन करने-वाली कारिकाओंमें उसी प्रकार चली गई है जिस प्रकार कि तत्त्वार्थसूत्रमें 'प्रमत्तयोगात्' पदकी अनुवृत्ति अगले असत्यादिके लक्षण-प्रतिपादक सूत्रोंमें चली गई है।

शुद्ध-स्वेच्छा अथवा स्वतन्त्र इच्छा ही संकल्पका प्राण है, इसलिए वैसी इच्छाके विना मजबूर होकर जो अपने प्राण, धन, जन, प्रतिष्ठा तथा शीलादिकी रक्षाके लिए विरोधी हिंसा करनी पड़े वह भी इस व्रतकी सीमासे बाहर है। इस तरह आरम्भजा और विरोधजा दो प्रकारकी त्रसहिंसा इस संकल्पी त्रसहिंसाके त्यागमें नहीं आती। पंचसूना और कृषिवाणिज्यादिरूप आरम्भ कार्योंमें तो किसी व्यक्तिविशेषके प्राणघातका कोई संकल्प ही नहीं होता, और विरोधजा हिंसामें जो संकल्प होता है वह शुद्ध-स्वेच्छासे न होनेके कारण प्राणरहित होता है, इसीसे इन दोनों-का त्याग इस व्रतकी कोटिमें नहीं आता। इन दोनों प्रकारकी हिंसाओंकी छूटके विना गृहस्थाश्रम चल नहीं सकता, राज्य-व्यवस्था बन नहीं सकती और न गृहस्थ-जीवन व्यतीत करते हुए एक क्षणके लिये ही कोई निरापद या निराकुल रह सकता है। एक मात्र विरोधिहिंसाका भय कितनोंको ही दूसरोंके धन-जनादिकी हानि करनेसे रोके रहता है।

यहाँ पर इतना और भी जान लेना चाहिये कि '*हिनस्ति*' पदके अर्थरूपमें, हिंसाके पूर्वनिर्दिष्ट पर्यायनाम 'प्राणातिपात' को लक्ष्य में रखते हुए, प्राणघातकी जो बात कही गई है वह व्रतकी स्थूलतानुरूप प्रायः जानसे मार डालने रूप प्राणघातसे सम्बन्ध रखती है, और यह बात अगली कारिकामें दिए हुए अतिचारों-को देखते हुए और भी स्पष्ट होजाती है। क्योंकि छेदनादिक भी प्राणघातके ही रूप हैं, उनका समावेश यदि इस कारिका-वर्णित प्राणघातमें होता तो उन्हें अलगसे कहने तथा 'अतीचार' नाम

देनेकी जरूरत न रहती। अतीचार अभिसन्धिकृत-व्रतोंकी बाह्य सीमाएँ हैं।

अहिंसाणुव्रतके अतिचार

छेदन-बन्धन-पीडनमतिभारारोपणं व्यतीचाराः।
आहारवारणाऽपि च स्थूलवधाद्व्युपरतेः पंच ॥८॥५४॥

'**छेदन**—कर्ण-नासिकादि शरीरके अवयवोंका परहितविरोधिनी दृष्टिसे छेदना-भेदना—, **बन्धन**—रस्सी जंजीर तथा दूसरे किसी प्रतिबन्धादिके द्वारा शरीर और वचनपर यथेष्ट-गति-निरोधक अनुचित रोक-थाम लगाना—, **पीडन**—दण्ड-चाबुक बेंत आदिके अनुचित अभिघात-द्वारा शरीरको पीड़ा पहुँचाना तथा गाली आदि कटुक वचनोंके द्वारा किसीके मनको दुखाना—, **अतिभारारोपण**—किसी पर उसकी शक्तिसे अथवा न्याय-नीतिसे अधिक कार्यभार, करभार, दण्डभार तथा बोझा लादना—, और **आहार-वारणा**—अपने आश्रित प्राणियोंके अन्न-पानादिका निरोध करना, उन्हें जानबूझकर शक्ति होते यथा समय और यथापरिमाण भोजन न देना—; ये पांच **स्थूलवध-विरमणके**—अहिंसाणुव्रतके—**अतीचार** हैं—सीमोल्लंघन अथवा दोष हैं।'

व्याख्या—यहाँ जिस समय सीमोल्लंघन अथवा दोषके लिये 'व्यतीचार' शब्दका प्रयोग किया है उसीके लिये ग्रन्थमें आगे क्रमशः व्यतिक्रम, व्यतीपात, विक्षेप, अतिक्रमण, अत्याश, व्यतीत, अत्यय, अतिगम, व्यतिलंघन और अतिचार शब्दोंका प्रयोग किया गया है*, और इसलिए इन सब शब्दोंको एकार्थक समझना चाहिए।

* देखो, कारिका नं० ५६, ५८, ६२, ६३, ७२, ८१,९६,१०५, ११०, १२६।

सत्याऽणुव्रत-लक्षण

स्थूलमलीकं न वदति न परान्वादयति सत्यमपि विपदे ।
यत्तद्वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावाद-वैरमणम् ॥६॥५५॥

'(संकल्पपूर्वक अथवा स्वेच्छासे) स्थूल अलीकको—मोटे झूठको—जो स्वयं न बोलना और न दूसरोंसे बुलवाना है, तथा जो सत्य विपदाका निमित्त बने उसे भी जो स्वयं न बोलना और न दूसरोंसे बुलवाना है, उसे सन्तजन—आप्त पुरुष तथा गणधर-देवादिक—'स्थूलमृषावाद-वैरमण'—सत्याणुव्रत—कहते हैं।'

व्याख्या—यहाँ स्थूल अलीक अथवा मोटा झूठ क्या ? यह कुछ बतलाया नहीं—मात्र उसके न बोलने तथा न बुलवानेकी बात कही है, और इसलिये लोकव्यवहारमें जिसे मोटा झूठ समझा जाता हो उसीका यहाँ ग्रहण अभीष्ट जान पड़ता है। और वह ऐसा ही हो सकता है जैसा कि शपथ साक्षीके रूपमें क़सम खाकर या हलफ़ उठाकर जानते-बूझते अन्यथा (वास्तविकताके विरुद्ध) कथन करना, पंच या जज (न्यायाधीश) आदिके पदपर प्रतिष्ठित होकर अन्यथा कहना-कहलाना या निर्णय देना, धर्मोपदेष्टा बनकर अन्यथा उपदेश देना और सच बोलनेका आश्वासन देकर या विश्वास दिलाकर झूठ बोलना (अन्यथा कथन करना)। साथ ही ऐसा झूठ बोलना भी जो किसीकी विपदा (संकट वा महाहानि) का कारण हो; क्योंकि विपदाके कारण सत्यका भी जब इस व्रतके लिए निषेध किया गया है तब वैसे असत्य बोलनेका तो स्वतः ही निषेध होजाता है और वह भी स्थूलमृषावादमें गर्भित है। और इसलिये अज्ञानताके वश (अजानकारी) या असावधानी (सूक्ष्मप्रमाद) के वश जो बात बिना चाहे ही अन्यथा कही जाय या मुँहसे निकल जाय उसका स्थूल-मृषावादमें ग्रहण नहीं है; क्योंकि अहिंसाणुव्रतके लक्षणमें

आए हुए 'संकल्पात्' पदकी अनुवृत्ति यहाँ भी है जैसाकि पहले उसकी व्याख्यामें बतलाया जा चुका है। इसी तरह ऐसे साधारण असत्यकी भी इसमें परिगणना नहीं है जो किसीके ध्यानको विशेषरूपसे आकृष्ट न कर सके अथवा जिससे किसीकी कोई विशेष हानि न होती हो।

इसके सिवाय बोलने-बुलवानेमें मुखसे बोलना-बुलवाना ही नहीं बल्कि लेखनीसे बोलना-बुलवाना अर्थात् लिखना-लिखाना भी शामिल है।

यहाँ ऐसे सत्यको भी असत्यमें परिगणित किया है जो किसीकी विपदाका कारण हो, यह एक खास बात है और इससे यह साफ सूचित होता है कि अहिंसाकी सर्वत्र प्रधानता है, अहिंसाव्रत इस व्रतका भी आत्मा है और उसकी अनुवृत्ति उत्तरवर्ती व्रतोंमें बराबर चली गई है।

सत्याणुव्रतके अतिचार

परिवाद-रहोऽभ्याख्या पैशून्यं कूटलेखकरणं च।
न्यासाऽपहारिता च व्यतिक्रमाः पंच सत्यस्य ॥१०॥५६॥

'परिवाद—निन्दा-गाली-गलौच, रहोभ्याख्या—गुह्य (गोपनीय) का प्रकाशन, पैशून्य—पिशुनव्यवहार-चुगली, तथा कूटलेखकरण—मायाचारप्रधान लिखावट-द्वारा जालसाजी करना अर्थात् दूसरोंको प्रकारान्तरसे अन्यथा विश्वास करानेके लिए दूसरोंके नामसे नई दस्तावेज या लिखावट तैयार करना, किसीके हस्ताक्षर बनाना, पुरानी लिखावटमें मिलावट अथवा काट-छाँट करना या किसी प्राचीन ग्रन्थमेंसे कोई वाक्य इस तरहसे निकाल देना या उसमें बढ़ा देना जिससे वह अपने वर्तमान रूपमें प्राचीन कृति या अमुक व्यक्तिविशेषकी कृति समझी जाय—और **न्यासापहारिता**—धरोहरका प्रकारान्तरसे अपहरण अर्थात् ऐसा वाक्य-व्यवहार जिससे प्रकटरूपमें असत्य न बोलते हुए भी दूसरेकी धरोहरका

पूर्ण अथवा आंशिक रूपमें अपहरण होता हो ; ये सब सत्याऽणुव्रतके अतिचार हैं।

व्याख्या—जिन पाँच अतिचारोंका यहाँ उल्लेख है उनमें 'परिवाद' और 'पैशून्य' नामके दो अतिचार ऐसे हैं जिनके स्थान पर तत्त्वार्थसूत्रमें क्रमशः मिथ्योपदेश' और 'साकारमंत्रभेद' ये दो नाम दिये हैं। ये नाम यद्यपि उक्त अतिचारोंके पर्याय नाम नहीं हैं बल्कि आचार्योंके पारस्परिक शासनभेदके सूचक दूसरे ही अतिचार हैं, फिर भी टीकाकार प्रभाचन्द्रने परिवादको 'मिथ्योपदेश' के रूपमें और पैशून्यको 'साकारमन्त्रभेद' के रूपमें व्याख्या की है और व्याख्याके साथ ये नाम भी स्पष्ट रूपसे दे दिये हैं † यह चिन्तनीय है। क्योंकि परिवादका प्रसिद्ध अर्थ निन्दा-गर्हा-अपवाद (Blame, abuse) जैसा है * और पैशून्य शब्द चुगली (Backbitting) जैसे अर्थमें प्रयुक्त होता है। सोमदेवसूरिने इस व्रतके अतिचारोंका सूचक जो श्लोक दिया है वह इस प्रकार है—

> *"मन्त्रभेदः परीवादः पैशून्यं कूटलेखनम् ।*
> *मुधा साक्षिपदोक्तिश्च सत्यस्यैते विघातकाः ॥"*

† परिवादो मिथ्योपदेशोऽभ्युदयनिःश्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेष्वन्यस्यान्यथाप्रवर्तनमित्यर्थः। ....पैशून्यं अंगविकार-भ्रू-विक्षेपादिभिः पराभिप्रायं ज्ञात्वा असूयादिना तत्प्रकटनं साकारमंत्रभेद इत्यर्थः।

* परिवादस्तु निन्दायां वीणावादनवस्तुनि (हेमचन्द्रः)

अवर्णाक्षेपनिर्वाद-परीवादापवादवत् उपक्रोशो जुगुप्सा-च कुत्सा निन्दा च गर्हणे ॥ (अमरः)

परि सर्वतो दोषोल्लेखेन वादः कथनं अपवादः । (शब्दकल्पद्रुमः)

परिवादः 1 Blame, censure. detraction, abuse; 2 Scandal (V. S. Apte)

इसमें मन्त्रभेद और पैशून्यको दो अलग अलग अतिचारोंके रूपमें उल्लेखित किया है, जिससे यह साफ़ जाना जाता है कि दोनों एक नहीं हैं। ऐसी ही स्थिति परि (री) वादकी मिथ्योपदेशके साथ समझनी चाहिये। पं० आशाधरजीने, जिन्होंने परिवाद और पैशून्यको छोड़कर मिथ्योपदेश तथा मन्त्रभेदको अतिचार रूपमें ग्रहण किया है, अपने सागारधर्मामृतमें इस श्लोकको उद्धृत करते हुए इसे 'अतिचारान्तरवचन' सूचित किया है, इससे भी परिवाद और पैशून्य नामके अतिचार मिथ्योपदेशादिसे भिन्न जाने जाते हैं और वे आचार्य समन्तभद्रके शासनसे सम्बन्ध रखते हैं। शेष तीन अतिचार दोनों ग्रन्थोंमें समान हैं।

अचौर्याणुव्रत-लक्षण

निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टम्।
न हरति यन्न च दत्ते तदकृश-चौर्यादुपारमणम् ॥११॥५७॥

'बिना दिये हुए पर-द्रव्यको, चाहे वह धरा-ढका हो, पड़ा-गिरा हो अथवा अन्य किसी अवस्थाको प्राप्त हो, जो (संकल्पपूर्वक अथवा स्वेच्छासे) स्वयं न हरना (अनीतिपूर्वक ग्रहण न करना) और न (अनधिकृतरूपसे) दूसरोंको देना है उसे स्थूल-चौर्यविरति—अचौर्याणुव्रत—कहते हैं।'

व्याख्या—यहाँ '*परस्वं*' और उसका मुख्य विशेषण '*अविसृष्टं*' तथा '*हरति*' क्रियापद ये तीनों खास तौरसे ध्यान देने योग्य हैं। जिसका स्वामी अपनेसे भिन्न कोई दूसरा हो उस धन-धान्यादि पदार्थको 'परस्व' कहते हैं, पर-धन और पर-द्रव्य भी उसीके दूसरे नाम हैं। जो पदार्थ अपने तत्कालीन स्वामीके द्वारा अथवा उसकी इच्छा, आज्ञा या अनुमतिसे दिया गया न हो वह, 'अविसृष्ट' कहलाता है, 'अदत्त' भी उसीका नामान्तर है और उसमें

व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों प्रकारके पदार्थ शामिल हैं। *'हरति'* क्रियापद, जिससे हरना फलित होता है, अनीतिपूर्वक-ग्रहणका सूचक है। उसीकी दृष्टिसे अगला क्रियापद 'दत्ते' अनधिकृत रूपसे देनेका वाचक हो जाता है। और इसलिए जो पदार्थ अस्वामिक हो अथवा ग्रहणादिके समय जिसका कोई प्रकट स्वामी मौजूद या संभाव्य न हो और जिसके ग्रहणादिमें उसके स्वामीकी स्पष्ट इच्छा तथा आज्ञा बाधक न हो उसके ग्रहणादिका यहाँ निषेध नहीं है। साथ ही, जो धन-सम्पत्ति बिना दिये ही किसी-को उत्तराधिकारके रूपमें प्राप्त होती है उसके ग्रहणादिका भी इस व्रतके व्रतीके लिये निषेध नहीं है। इसी तरह जो अज्ञात-स्वामिका धन-सम्पत्ति अपनी मिलकियतके मकानादिके भीतर भूगर्भादिसे प्राप्त हो उसके भी ग्रहणादिका इस व्रतके व्रतीके लिये निषेध नहीं है, वह उस मकानादिका मालिक होनेके साथ-साथ तत्सम्बद्धा सम्पत्तिका भी प्रायः मालिक अथवा उत्तराधि-कारी है और यह समझना चाहिए कि वह सम्पत्ति उसकी अव्यक्त अथवा गुप्त सम्पत्तिके रूपमें स्थित थी, जबतक कि इसके विरुद्ध कोई दूसरी बात स्पष्ट सिद्ध न हो जाय या इसमें बाधक न हो।

यहाँ चोरीके स्थूल-त्यागकी दृष्टिसे इतना और भी जान लेना चाहिये कि जो पदार्थ बहुत ही साधारण तथा अत्यल्प मूल्यका हो और जिसका बिना दिये ग्रहण करना उसके स्वामी-को कुछ भी अखरता न हो—जैसे किसीके खेतमें हस्त-शुद्धिके लिये मिट्टीका लेना, जलाशयमें पीनेको पानी ग्रहण करना और वृक्षसे दाँतनका तोड़ना—ऐसे पदार्थोंको बिना दिये लेनेका त्याग इस व्रतके व्रतीके लिये विहित नहीं है। इसी तरह दूसरेकी जो वस्तु बिना संकल्पके ही अपने ग्रहणमें आ जाय उससे इस व्रत को बाधा नहीं पहुंचती; क्योंकि अहिंसाव्रतके लक्षणमें प्रयुक्त हुए 'संकल्पात्' पदकी अनुवृत्ति इस व्रतके साथ भी है।

अचौर्याऽणुव्रतके अतिचार

चौरप्रयोग-चौराऽर्थादान-विलोप-सदृशसम्मिश्राः ।
हीनाधिकविनिमानं पंचाऽस्तेये व्यतीपाताः ॥१२॥५८॥

'**चौरप्रयोग**—चोरको चोरीके कर्ममें स्वयं प्रयुक्त (प्रवृत्त) करना, दूसरोंके द्वारा प्रयुक्त कराना तथा प्रयुक्त हुएकी प्रशंसा-अनुमोदना करना, अथवा चोरीके प्रयोगों (उपायों) को बतला कर चौर-कर्मकी प्रवृत्तिमें किसी प्रकार सहायक होना—, **चौराऽर्थादान**—जान बूझकर चोरीका माल लेना—, **विलोप**—दूसरोंकी स्थावर-जंगम अथवा चेतन अचेतनादिरूप सम्पतिको आग लगाने, बम गिराने, तेजाब छिड़कने, विष देने आदिके द्वारा नष्ट कर देना तथा राज्यके अर्थ-विषयक न्याय्य नियमोंको भंग करना—**सदृशसंमिश्र**—अनुचित लाभ उठाने अथवा दूसरोंको ठगनेकी दृष्टिसे खरीमें समान रंग-रूपादिकी खोटी तथा बहु-मूल्यमें अल्पमूल्य वस्तुकी मिलावट करना और नकलीको जानबूझकर असलीके रूपमें देना—और **हीनाधिकविनिमान**—देने लेनेके बाट-तराजू, गज, पैमाने आदि कमती-बढ़ती रखना और उनके द्वारा कमती-बढ़ती तोल-माप करके अनुचित लाभ उठाना; ये पाँच अस्तेयके—अचौर्याणुव्रतके—**व्यतिपात हैं**—अतिचार अथवा दोष हैं।'

व्याख्या—यहाँ जिन अतिचारोंका उल्लेख है उनमें चौथा 'सदृशसन्मिश्र' नामका अतिचार वह है जिसके स्थान पर तत्त्वार्थसूत्रमें 'प्रतिरूपकव्यवहार' नाम दिया है और जिसे सर्वार्थसिद्धिकारने 'कृत्रिम हिरण्यादिके द्वारा वंचना-पूर्वक व्यवहार' बतलाया है। सदृशसम्मिश्र अपने विषयमें अधिक स्पष्ट और व्यापक है। तीसरा अतिचार 'विलोप' है, जो तत्त्वार्थ-सूत्रमें दिये हुए 'विरुद्ध-राज्यातिक्रम' नामक अतिचारसे बहुत कुछ भिन्न तथा अधिक विषयवाला है। विरुद्ध-राज्यातिक्रमकी जो व्याख्या सर्वार्थसिद्धिकारने दी है उससे यह मालूम होता

है कि 'विरुद्ध (प्रतिपक्षी) राज्यमें उचित न्यायसे अन्य प्रकार दानका ग्रहण 'विरुद्धराज्यातिक्रम' कहलाता है और उसका आशय है 'अल्पमूल्यमें मिले हुए द्रव्योंको वहाँ बहुमूल्य बनाने का प्रयत्न'* । इससे अपने राज्यकी जनता उन द्रव्योंके उचित उपयोगसे वंचित रह जाती है और इसलिये यह एक प्रकारका अपहरण है । विलोपमें दूसरे प्रकारका अपहरण भी शामिल है जो किसीकी सम्पत्तिको नष्ट करके प्रस्तुत किया जाता है । टीकाकार प्रभाचन्द्रने विलोपकी व्याख्या विरुद्धराज्यातिक्रम-के रूपमें दी है और साथमें विरुद्धराज्यातिक्रमका स्पष्ट नामो-ल्लेख भी कर दिया है, जब कि विलोप *विरुद्ध-राज्यातिक्रमका* कोई पर्यायनाम नहीं है ।

ब्रह्मचर्याऽणुव्रत-लक्षण

न तु† परदारान् गच्छति न परान् गमयति पापभीतेर्यत् ।
सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसंतोषनामाऽपि ॥१३॥५६॥

'पापके भयसे (न कि राजादिके भयसे) पर-स्त्रियोंको—स्वदार भिन्न अन्य स्त्रियोंको—जो स्वयं सेवन न करना और न दूसरोंको सेवन कराना है वह 'परदारनिवृत्ति' व्रत है, 'स्वदारसंतोष' भी उसीका नामान्तर है—दूसरे शब्दोंमें उसे स्थूल मैथुनसे विरति स्थूल-कामविरति तथा ब्रह्मचर्याणुव्रत भी कहते हैं ।

व्याख्या—यहाँ इस व्रतके दो नाम दिये गये हैं—एक 'परदारनिवृत्ति' दूसरा 'स्वदारसंतोष' जिनमेंसे एक निषेधपरक

---

* उचितन्यायादन्येन प्रकारेण दानग्रहणमतिक्रमः । विरुद्धं राज्यं विरुद्धराज्यं, विरुद्धराज्येऽतिक्रमः विरुद्धराज्यातिक्रमः । तत्र ह्यल्पमूल्यलभ्यानि महार्घ्याणि द्रव्याणीति प्रयत्नः । —सर्वार्थसिद्धिः

† 'च' इति पठान्तरम् ।

दूसरा विधिपरक है। दोनोंका आशय एक है। विधिपरक '**स्वदार-संतोष**' का आशय बिल्कुल स्पष्ट है और वह है अपनी स्त्रीमें ही सन्तुष्ट रहना—एक मात्र उसीके साथ काम-सेवा करना। और इसलिये परदारनिवृत्तिका भी यही आशय लेना चाहिये—अर्थात् स्वदारभिन्न अन्य स्त्रीके साथ कामसेवाका त्याग। इससे दोनों नामोंकी वाच्यभूत वस्तु (ब्रह्मचर्याणुव्रत) के स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं रहता और वह एक ही ठहरती है। प्रत्युत इसके, 'परदार' का अर्थ परकी (पराई) विवाहिता या धरेजा करी हुई स्त्री करना और एक मात्र उसीका त्याग करके शेष कन्या तथा वेश्याके सेवनकी छूट रखना संगत प्रतीत नहीं होता; क्योंकि इससे दोनों नामोंके अर्थका समानाधिकरण नहीं रहता।

ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार

अन्यविवाहाऽऽकरणाऽनङ्गक्रीडा-विटत्व-विपुलतृपः।
इत्वरिकागमनं चाऽस्मरस्य पंच व्यतीचाराः ॥१४॥६०॥

'**अन्यविवाहाऽऽकरण**—दूसरोंका अर्थात् अपने तथा स्वजनोंसे भिन्न गैरोंका विवाह सम्पन्न करनेमें पूरा योग देना—, **अनङ्गक्रीड़ा**—निर्दिष्ट कामके अंगोंको छोड़कर अन्य अंगादिकोंसे या अन्य अंगादिकोंमें कामक्रीड़ा करना—, **विटपनेका व्यवहार**—भण्डपनेको लिये हुए काय वचनकी कुचेष्टा—, **विपुलतृष्णा**—कामकी तीव्र लालसा—और **इत्वरिकागमन**—कुलटा व्यभिचारिणी स्वस्त्रीका सेवन—; ये **स्मरके**—स्थूलकामनिवृत्ति अथवा ब्रह्मचर्याणुव्रतके—**पांच अतिचार हैं**।

व्याख्या—यहाँ '**अन्यविवाहाऽऽकरण**', '**अनङ्गक्रीड़ा**' और '**इत्वरिकागमन**' ये तीन पद खास तौरसे ध्यान देने योग्य हैं। '**अन्यविवाहाऽऽकरण**' पदमें '**अन्य**' शब्दका अभिप्राय उन दूसरे लोगोंसे है जो अपने कुटुम्बी अथवा आश्रितजन नहीं हैं

और 'आकरण' शब्दका आशय सब ओरसे विवाहकार्यको सम्पन्न करना अर्थात् उसमें तन-मन-धनसे पूरा योग देना है। और इसलिये अपने कुटुम्बी तथा आश्रितजनोंका विवाह करना तथा दूसरोंके विवाहमें मात्र सलाह-मशवरा अथवा सम्मतिका देना इस व्रतके लिये दोपरूप अथवा बाधक नहीं है। 'अनङ्ग-क्रीड़ा' पदके द्वारा उन अंगोंसे तथा उन अंगोंमें काम-क्रीड़ा करनेका निषेध किया है जो मानवोंमें कामसेवा अथवा मैथुन-सेवनके लिये विहित नहीं हैं, और इससे हस्तमैथुनादिक-जैसे सभी अप्राकृतिक मैथुन दोपरूप ठहरते हैं। 'इत्वरिकागमन' पदमें 'इत्वरिका' शब्द उस स्वस्त्रीका वाचक है जो बादको कुलटा अथवा व्यभिचारिणी होगई हो—परस्त्रीका वाचक वह नहीं है; क्योंकि परस्त्री-गमनका त्याग तो मूलव्रतमें ही आ गया है तब अतिचारोंमें उसके पुनः त्यागका विधान कुछ अर्थ नहीं रखता।

अपरिग्रहाऽणुव्रत-लक्षण

धन-धान्यादि-ग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृहता।
परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाण-नामाऽपि ॥१५॥६१॥

'धन-धान्यादि परिग्रहको परिमित करके—धन-धान्यादिरूप दस प्रकारके बाह्य परिग्रहोंका संख्या-सीमानिर्धारणात्मक परिमाण करके—जो उस परिमाणसे अधिक परिग्रहोंमें वांछाकी निवृत्ति है उसका नाम 'परिमितपरिग्रह' है, 'इच्छापरिमाण' भी उसीका नामान्तर है—दूसरे शब्दोंमें उसे 'स्थूल-मूर्च्छाविरति', 'परिग्रहपरि-माणव्रत' और 'अपरिग्रहाऽणुव्रत' भी कहते हैं।

व्याख्या—यहाँ जिस धन-धान्यादि परिग्रहके परिमाणका विधान है वह बाह्य परिग्रह है और उसके दस भेद हैं, जैसा कि 'परिग्रहत्याग' नामकी दसवीं प्रतिमाके स्वरूपकथनमें प्रयुक्त हुए,

'बाह्येषु दशसु वस्तुषु' इन पदोंसे जाना जाता है। वे दस प्रकारके परिग्रह क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, शयनासन, यान, कुप्य और भाण्ड† हैं। क्षेत्रमें सब प्रकारकी भूमि, पर्वत और नदी नाले शामिल हैं। वास्तुमें सब प्रकारके मन्दिर, मकान, दुकान और भवनादिक दाखिल हैं। धनमें सोना-चाँदी, मोती, रत्न, जवाहरात और उनसे बने आभूषण तथा रुपया-पैसादि सब परिग्रहीत हैं। धान्यमें शालि, गेहूँ, चना, मटर, मूंग, उड़द आदि खेतीकी सब पैदावार अन्तर्भूत है। द्विपदमें सभी दासी-दास, नौकर-चाकर, स्त्री-पुत्रादि दो पैरवाले जीवों-का तथा चतुष्पदमें हाथी, घोड़ा, बैल, भैंसा, ऊँट, गदहा, गाय, बकरी आदि चार पैरों वाले जन्तुओंका ग्रहण है। शयनासनमें सोने और बैठनेके सब प्रकारके उपकरणोंका समावेश है; जैसे खाट, पलंग, चटाई, पीढ़ा, तख्त, सिंहासन, कुर्सी आदिक। यानमें डोली, पालकी, गाड़ी, रथ, नौका, जहाज, मोटरकार और हवाईजहाज आदिका अन्तर्भाव है। कुप्यमें सब प्रकारके सूती, ऊनी, रेशमी आदि वस्त्र अन्तर्निहित हैं तथा भाण्डमें लोहा, तांबा, पीतल, कांसी आदि धातु-उपधातुओंके, मिट्टी-पत्थर-कांचके और काष्ठादिकके बने हुए सभी प्रकारके बर्तन, उपकरण, औजार, हथियार तथा खिलौने संग्रहीत हैं। इन सब परिग्रहोंका अपनी शक्ति परिस्थिति और आवश्यकताके अनुसार परिमाण करके उस प्रमाणसे बाहर जो दूसरे बहुतसे बाह्य परि-ग्रह हैं उन्हें ग्रहण न करना ही नहीं बल्कि उनमें इच्छा तकका जो त्याग है वही परिमित-परिग्रह कहलाता है और इसीसे उसका दूसरा नाम 'इच्छापरिमाण' भी रक्खा गया है।

† "क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं, द्विपदं च चतुष्पदम्।
शय्यासनं च यानं च कुप्य-भाण्डमितिद्वयम् ॥"

अपरिग्रहाऽणुव्रतके अतिचार

अतिवाहनाऽतिसंग्रह-विस्मय-लोभाऽतिभारवहनानि ।
परिमितपरिग्रहस्य च विक्षेपाः पंच लक्ष्यन्ते ॥१६॥६२॥

'परिमितपरिग्रह (परिग्रहपरिमाण) व्रतके भी पाँच अतिचार निर्दिष्ट किये जाते हैं और वे हैं— १ अतिवाहन—अधिक लाभ उठानेकी दृष्टिसे अधिक चलाना, जोतना, इस्तैमाल करना अथवा काम लेना—, २ अतिसंग्रह—विशिष्ट लाभकी आशासे अधिक काल तक धन-धान्यादिकका संग्रह रखना—, ३ अतिविस्मय—व्यापारादिक-में दूसरोंके अधिक लाभको देखकर विषाद करना अर्थात् जलना-कुढ़ना—, ४ अतिलोभ—विशिष्ट लाभ होते हुए भी और अधिक लाभकी लालसा रखना—, और ५ अतिभारवाहन—लोभके वश किसी पर शक्तिसे अथवा न्याय-नीतिसे अधिक भार लादना—; ये परिग्रहपरिमाण व्रत अथवा अपरिग्रहाऽणुव्रतके पाँच अतिचार हैं।

व्याख्या—परिग्रहपरिमाणव्रत लेनेके समय संस्कारित दृष्टि-में चेतन-अचेतन पदार्थोंसे लाभ उठानेके लिये उनके इस्तैमाल (उपयोग) आदिका जो माध्यम होता है उससे अधिकका ग्रहण अथवा न्याय-नीतिका उल्लंघन करके अधिक ग्रहण ही यहाँ 'अति' शब्दका वाच्यार्थ है।

अणुव्रत-पालन-फल

पंचाणुव्रतनिधयो निरतिक्रमणाः फलन्ति सुरलोकम् ।
यत्राऽवधिरष्टगुणाः दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते ॥१७॥६३॥

'निरतिचाररूपसे पालन किये गये (उक्त अहिंसादि) पाँच अणुव्रत निधिस्वरूप हैं और वे उस सुरलोकको फलते हैं—प्रदान करते हैं—जहाँ पर (स्वतः स्वभावसे) अवधिज्ञान, (अणिमादि) आठगुण और दिव्य शरीर प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—यहाँ '*अवधि:*' पदके द्वारा जिस अवधिज्ञानका उल्लेख है वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान है, जो देवलोकमें भवधारण अर्थात् जन्म लेनेके साथ ही उत्पन्न होता है तथा उस भवकी स्थिति-पर्यन्त रहता है और जिसके द्वारा देश-कालादिकी अवधि-विशेषके भीतर रूपी पदार्थोंका एकदेश साक्षात् (देशप्रत्यक्ष) ज्ञान होता है। यह अवधिज्ञान 'सर्वावधि' तथा 'परमावधि' न होकर 'देशावधि' कहलाता है और अपने विषयमें निर्भ्रान्त होता है। '*अष्टगुणा:*' पदके द्वारा जिन आठ गुणोंका उल्लेख किया गया है वे हैं—१ अणिमा, २ महिमा, ३ लघिमा, ४ प्राप्ति, ५ प्राकाम्य ६ ईशित्व, ७ वशित्व, और ८ कामरूपित्व। आगमानुसार 'अणिमा' गुण उस शक्तिका नाम है जिसमें बड़ेसे बड़ा शरीर भी अणुरूपमें परिणित किया जा सके। 'महिमा' गुण उस शक्तिका नाम है जिससे छोटेसे छोटा अणुरूप शरीर भी मेरुप्रमाण जितना अथवा उससे भी बड़ा किया जा सके। लघिमा गुण उस शक्तिका नाम है जिससे मेरु जैसे भारी शरीरको भी वायुसे अधिक हलका अथवा इतना हलका किया जा सके कि वह मकड़ी जालेके तन्तुओंपर निर्बाध रूपसे गति कर सके। 'प्राप्ति' गुण उस शक्तिविशेषको कहते हैं जिससे दूरस्थ मेरु-पर्वतादिके शिखरों तथा चन्द्र-सूर्योंके बिम्बोंको हाथकी अँगुलियोंसे छुआ जा सके। 'प्राकाम्य' गुण वह शक्ति है जिससे जलमें गमन पृथ्वीपर गमनकी तरह और पृथ्वीपर गमन जलमें गमनके समान उन्मज्जन-निमज्जन करता हुआ हो सके। 'ईशित्व' गुण उस शक्तिका नाम है जिससे सर्व संसारी जीवों तथा ग्राम नगरादिकों को भोगने-उपयोगमें लानेकी सामर्थ्य प्राप्त हो अथवा सबकी प्रभुता घटित हो सके। 'वशित्व' गुण उस शक्तिको कहते हैं जिससे प्रायः सब संसारी जीवोंका वशीकरण किया जा सके। 'कामरूपित्व' गुण उस शक्तिका नाम है जिससे विक्रिया-द्वारा

अनेक प्रकारके इच्छितरूप युगपत् धारण किये जा सकें। और 'दिव्यशरीर' पदसे उस प्रकारके शरीरका अभिप्राय है जो सप्त कुधातु तथा मल-मूत्रादिसे युक्त औदारिक न होकर वैक्रियक होता है और अद्वितीय शोभासे सम्पन्न रहता है।

अहिंसादिके पालनेमें प्रसिद्ध

*** मातंगो धनदेवश्च वारिषेणस्ततः परः † ।**
नीली जयश्च सम्प्राप्ताः पूजाऽतिशयमुत्तमम् ॥१८॥६४॥
धनश्री-सत्यघोषौ च तापसाऽऽरक्षकावपि ।
उपाख्येयास्तथाश्मश्रुनवनीतो यथाक्रमम् ॥१९॥६५॥

'मातंग (चाण्डाल), धनदेव (सेठ), तदनन्तर वारिषेण (राजकुमार), नीली (वणिक्पुत्री) और जय (राजा), उत्तम पूजातिशयको प्राप्त हुए।'

'धनश्री (सेठानी) और सत्यघोष (पुरोहित), तापस और आरक्षक (कोट्टपाल) तथा श्मश्रुनवनीत (मूछोंमें लगे घीसे व्यापार करनेका अभिलाषी); ये यथाक्रम उपाख्येय हैं—उन्हें क्रमशः उपाख्यान (परम्परा कथा) का विषय बनाना चाहिए।'

व्याख्या—इन श्लोकोंकी शब्दरचना परसे यद्यपि यह स्पष्ट मालूम नहीं होता कि मातंगादिकने किस विषयमें उत्तम पूजातिशयको प्राप्त किया और धनश्री आदिको किस विषयमें उपाख्यानका विषय बनाना चाहिए; फिर भी इन व्यक्तियोंकी कथाएँ अहिंसा-हिंसादिके विषयमें सुप्रसिद्ध हैं और अनेक ग्रन्थोंमें पाई जाती हैं अतः उन्हें यहाँ उद्धृत नहीं किया गया है।

* इन दोनों श्लोकोंकी स्थिति आदिके सम्बन्धमें विशेष विचार तथा ऊहापोहको जाननेके लिये ग्रन्थकी प्रस्तावनाको देखना चाहिये।

† 'परं' इति पाठान्तरम्।

अष्ट मूलगुण

मद्य-मांस-मधु-त्यागैः सहाऽणुव्रत-पंचकम् ।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥२०॥६६॥

इति श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्य-विरचिते समीचीनधर्मशास्त्रे रत्नकरण्डाऽपरनाम्नि उपासकाध्ययने अणुव्रतवर्णनं नाम तृतीयमध्ययनम् ॥ ३ ॥

'श्रमणोत्तम—श्रीजिनेन्द्रदेव—मद्यत्याग, मांस-त्याग और मधुत्यागके साथ पांच अणुव्रतोंको (सद्) गृहस्थोंके आठ मूल-गुण बताते हैं।—और इससे अन्य दिग्व्रतादिक जो गुण हैं वे सब उत्तरगुण हैं, यह साफ़ फलित होता है।'

व्याख्या—यहाँ 'गृहिणां' पद यद्यपि सामान्यरूपसे बिना किसी विशेषणके प्रयुक्त हुआ है। फिर भी प्रकरणकी दृष्टिसे वह उन सद्गृहस्थोंका वाचक है जो व्रती-श्रावक होते हैं—अव्रती गृहस्थोंसे उसका प्रयोजन नहीं है। जैनधर्ममें जिस प्रकार महा-व्रती मुनियोंके लिए मूलगुणों और उत्तरगुणोंका विधान किया गया है उसी प्रकार अणुव्रती श्रावकोंके लिये भी मूलोत्तरगुणोंका विधान है। मूलगुणोंसे अभिप्राय उन व्रत-नियमादिकसे है जिनका अनुष्ठान सबसे पहले किया जाता है और जिनके अनुष्ठानपर ही उत्तर गुणोंका अथवा दूसरे व्रत-नियमादिका अनुष्ठान अवलम्बित होता है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि जिस प्रकार मूलके होते ही वृक्षके शाखा-पत्र-पुष्प-फलादिका उद्भव हो सकता है उसी प्रकार मूल गुणोंका आचरण होते ही उत्तर गुणोंका आचरण यथेष्ट बन सकता है। श्रावकोंके वे मूलगुण आठ हैं, जिनमें पाँच तो वे अणुव्रत हैं जिनका स्वरूपादि इससे पहिले निर्दिष्ट हो चुका है और तीन गुण मद्य, मांस तथा मधुके त्यागरूपमें हैं। मद्य, जिसके त्यागका यहाँ विधान है, वह नशीली वस्तु जो मनुष्यकी बुद्धिको भ्रष्ट करके उसे उन्मत्त अथवा भारी

असावधान बनाती है—चाहे वह पिष्टोदक गुड़ और घातकी आदि पदार्थोंको गला-सड़ाकर रसरूपमें तय्यार की गई हो और या भांग-धतूरादिके द्वारा खाने-पीनेके किसी भी रूपमें प्रस्तुत हो; क्योंकि मद्यत्यागमें ग्रन्थकारकी दृष्टि प्रमाद-परिहरण की है, जैसाकि इसी ग्रन्थकी अगली एक कारिकामें प्रयुक्त हुए '*प्रमाद-परिहृतये मद्यं च वर्जनीयं*' इस वाक्यसे जाना जाता है। मांस उस विकृत पदार्थका नाम है जो द्वीन्द्रियादि त्रसजीवोंके रस-रक्तादिमिश्रित कलेवरसे निष्पन्न होता है और जिसमें निरन्तर त्रसजीवोंका उत्पाद बना रहता है—चाहे वह पदार्थ आर्द्र हो शुष्क हो या द्रवरूपमें उपस्थित हो। उसके त्यागमें त्रसहिंसा-की दृष्टि संनिहित है। और मधु, जिसका त्याग यहाँ विहित है, वह पदार्थ है जिसे मधुमक्खियाँ पुष्पोंसे लाकर अपने छत्तोंमें संचय करती हैं और जो बादमें प्रायः छत्तोंको तोड़-मरोड़ तथा निचोड़कर मनुष्योंके खानेके लिये प्रस्तुत किया जाता है और जिसके इस प्रस्तुतीकरणमें मधुमक्खियोंको भारी बाधा पहुँचती है, उनका तथा उनके अण्डे-बच्चोंका रसादिक भी निचुड़ कर उसमें शामिल हो जाता है और इस तरह जो एक घृणित पदार्थ बन जाता है। 'क्षौद्र' संज्ञा भी उसे प्रायः इस प्रक्रियाकी दृष्टिसे ही प्राप्त है। इसके त्यागमें भी त्रसहिंसाके परिहारकी दृष्टि संनिहित है; जैसा कि अगली उक्त कारिकामें प्रयुक्त हुए '*त्रसहति-परिहरणार्थं पिशितं क्षौद्रं च वर्जनीयं*' इस वाक्यसे जाना जाता है।

यहाँ पर एक बात खास तौरसे जान लेनेकी है और वह है अष्टमूलगुणोंमें पंच अणुव्रतोंका निर्देश; क्योंकि अमृतचन्द्र, सोमदेव और देवसेन जैसे कितने ही उत्तरवर्ती आचार्यों तथा कविराजमल्लादि जैसे विद्वानोंने अपने-अपने ग्रन्थों* में पंचाणु-

---

* देखो, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, यशस्तिलक, भावसंग्रह (प्रा०) और पंचाध्यायी तथा लाटी संहिता।

व्रतोंके स्थानपर पंच उदुम्बरफलोंका निर्देश किया है। जिनमें बड़, पीपल, पिलखन आदिके फल शामिल हैं। कहाँ पंचाणुव्रत और कहाँ पंच उदुम्बर फलोंका त्याग ! दोनोंमें ज़मीन-आस्मान-कासा अन्तर है। वस्तुतः विचार किया जाय तो उदुम्बरफलोंका त्याग मांसके त्यागमें ही आ जाता है; क्योंकि इन फलोंमें चलते-फिरते त्रस जीवोंका समूह साक्षात् भी दिखलाई देता है, इनके भक्षणसे मांसभक्षणका स्पष्ट दोष लगता है, इसीसे इनके भक्षणका निषेध किया जाता है। और इसलिए जो मांस-भक्षणके त्यागी हैं वे प्रायः कभी इनका सेवन नहीं करते। ऐसी हालत में—मांसत्याग नामका एक मूलगुण होते हुए भी—पंच उदुम्बर-फलोंके त्यागको, जिनमें परस्पर ऐसा कोई विशेष भेद भी नहीं है, पांच अलग अलग मूलगुण करार देना और साथ ही पंचा-णुव्रतोंको मूलगुणोंसे निकाल देना एक बड़ी ही विलक्षण बात मालूम होती है। इस प्रकारका परिवर्तन कोई साधारण परिवर्तन नहीं होता। यह परिवर्तन कुछ विशेष अर्थ रखता है। इसके द्वारा मूलगुणोंका विषय बहुत ही हलका किया गया है और इस तरह उन्हें अधिक व्यापक बनाकर उसके क्षेत्रकी सीमाको बढ़ाया गया है। बात असलमें यह मालूम होती है कि मूल और उत्तर गुणोंका विधान व्रतियोंके वास्ते था। अहिंसादिक पंचव्रतोंका जो सर्वदेश (पूर्णतया) पालन करते हैं वे महाव्रती, मुनि अथवा यति आदि कहलाते हैं और जो उनका एकदेश (स्थूल-रूपसे) पालन करते हैं उन्हें देशव्रति, श्रावक अथवा देशयति कहा जाता है।

जब महाव्रतियोंके २८ मूलगुणोंमें अहिंसादिक पंचव्रतोंका वर्णन किया गया है तब देशव्रतियोंके मूलगुणोंमें पंचाणुव्रतोंका विधान होना स्वाभाविक ही है और इसलिये स्वामी समन्तभद्रने पंच अणुव्रतोंको लिए हुए श्रावकोंके अष्टमूलगुणोंका जो प्रति-

पादन किया है वह युक्तियुक्त ही प्रतीत होता है। परन्तु बादमें ऐसा जान पड़ता है कि जैन गृहस्थोंको परस्परके इस व्यवहारमें कि 'आप श्रावक हैं' और 'आप श्रावक नहीं हैं' कुछ भारी असमंजसता प्रतीत हुई है। और इस असमंजसताको दूर करनेके लिए अथवा देशकालकी परिस्थितियोंके अनुसार सभी जैनियोंको एक ही श्रावकीय झण्डेके तले लाने आदिके लिए जैन आचार्योंको इस बातकी जरूरत पड़ी है कि मूलगुणोंमें कुछ फेर-फार किया जाय और ऐसे मूलगुण स्थिर किये जाँय जो व्रतियों और अव्रतियों दोनोंके लिए साधारण हों। वे मूलगुण मद्य, मांस और मधुके त्याग रूप तीन हो सकते थे; परन्तु चूंकि पहलेसे मूलगुणोंकी संख्या आठ रूढ थी, इसलिये उस संख्याको ज्यों-का-त्यों कायम रखनेके लिये उक्त तीन मूलगुणोंमें पंचोदुम्बर फलोंके त्यागकी योजना की गई है और इस तरह इन सर्वसाधारण मूलगुणोंकी सृष्टि हुई जान पड़ती है। ये मूलगुण व्रतियों और अव्रतियों दोनोंके लिये साधारण हैं, इसका स्पष्टीकरण कविराजमल्लके पंचाध्यायी तथा लाटीसंहिता ग्रन्थोंके निम्न पद्यसे भले प्रकार हो जाता है:—

तत्र मूलगुणाश्चाष्टौ गृहिणां व्रतधारिणाम्।
क्वचिदव्रतिनां यस्मात् सर्वसाधारणा इमे॥

परन्तु यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि समन्तभद्र-द्वारा प्रतिपादित मूलगुणोंका व्यवहार अव्रतियोंके लिये नहीं हो सकता, वे व्रतियोंको ही लक्ष्य करके लिखे गये हैं; यही दोनोंमें परस्पर भेद है। अस्तु; इस प्रकार सर्वसाधारण मूलगुणोंकी सृष्टि हो जाने पर, यद्यपि, इन गुणोंके धारक अव्रती भी श्रावकों तथा देशव्रतियोंमें परिगणित होते हैं—सोमदेवने, यशस्तिलकमें, उन्हें साफ तौरसे 'देशयति' लिखा है—तो भी वास्तवमें उन्हें 'नामके ही' श्रावक अथवा देशयति समझना चाहिये; जैसाकि पंचाध्यायी-

के निम्न पद्यसे प्रकट है, जो लाटीसंहितामें भी पाया जाता है और जिसमें यह भी बतलाया गया है कि जो गृहस्थ इन आठोंका त्यागी नहीं वह नामका भी श्रावक नहीं:—

मद्यमांसमधुत्यागी त्यक्तोदुम्बरपंचकः ।
नामतः श्रावकः ख्यातो नान्यथापि तथा गृही ॥

असल श्रावक तो वे ही हैं जो पंच अणुव्रतोंका पालन करते हैं। और इस सब कथनकी पुष्टि शिवकोटि आचार्यकी 'रत्नमाला' के निम्न वाक्यसे भी होती है, जिसमें पंच-अणुव्रतोंके पालन-सहित मद्य, मांस और मधुके त्यागको 'अष्टमूलगुण' लिखा है और साथ ही यह बतलाया है कि पंच-उदुम्बरवाले जो अष्टमूलगुण हैं वे अर्भकों—बालकों, मूर्खों, छोटों अथवा कमज़ोरोंके लिए हैं। और इससे उनका साफ़ तथा ख़ास सम्बन्ध अव्रतियोंसे जान पड़ता है—

मद्य-मांस-मधु-त्याग-संयुक्ताऽणुव्रतानि नुः ।
अष्टौ मूलगुणाः पंचोदुम्बराश्चार्भकेष्वपि ॥१६॥

इन समन्तभद्र-प्रतिपादित मूलगुणोंमें श्रीजिनसेन और अमितगति जैसे आचार्योंने भी, अपने-अपने प्रतिपाद्योंके अनुरोधवश, थोड़ा-बहुत भेद उत्पन्न किया है, जिसका विशेष वर्णन और विवेचन 'जैनाचार्योंका शासन भेद' नामक ग्रन्थसे जाना जा सकता है।

इस प्रकार श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्य-विरचित समीचीन-धर्मशास्त्र अपरनाम रत्नकरण्ड-उपासकाध्ययनमें अणुव्रतोंका वर्णन करनेवाला तीसरा अध्ययन समाप्त हुआ ॥३॥

चतुर्थ अध्ययन

गुणव्रतोंके नाम और इस संज्ञाकी सार्थकता

दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोगपरिमाणम् ।
अनुबृंहणाद्गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः ॥१॥६७॥

'आर्यजन—तीर्थंकर-गणधरादिक उत्तमपुरुष—दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाण (व्रत) को 'गुणव्रत' कहते हैं; क्योंकि ये गुणोंका अनुबृंहण करते हैं—पूर्वोक्त आठ मूलगुणोंकी वृद्धि करते हुए उनमें उत्कर्षता लाते हैं।'

व्याख्या—यहां '*गुणव्रतानि*' पदमें प्रयुक्त हुआ 'गुण' शब्द गुणोंका (शक्तिके अंशोंका) और गौणका वाचक नहीं है, बल्कि गुणकार अथवा वृद्धिका वाचक है, इसी बातको हेतुरूपमें प्रयुक्त हुए '*अनुबृंहनात्*' पदके द्वारा सूचित किया गया है।

दिग्व्रत-लक्षण

दिग्वलयं परिगणितं कृत्वाऽतोऽहं बहिर्न यास्यामि ।
इति संकल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपाप-विनिवृत्त्यै ॥२॥६८॥

'दिग्वलयको—दशों दिशाओंको—मर्यादित करके जो सूक्ष्म पापकी निवृत्तिके अर्थ मरण-पर्यन्तके लिये यह संकल्प करना है कि 'मैं दिशाओंकी इस मर्यादासे बाहर नहीं जाऊँगा' उसको दिशाओंसे विरतिरूप 'दिग्व्रत' कहते हैं।'

व्याख्या—जिस दिग्वलयको मर्यादित करनेकी बात यहाँ कही गई है वह पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर ऐसे चार दिशाओं तथा अग्नि, नैऋत, वायव्य, ईशान ऐसे चार विदिशाओं और ऊर्ध्व दिशा एवं अधोदिशाको मिलाकर दश दिशाओंके रूपमें

है, जिनकी मर्यादाओंका कुछ सूचन अगली कारिकामें किया गया है। यहाँ पर इतना और जान लेना चाहिये कि यह मर्यादीकरण किसी अल्पकालकी मर्यादाके लिये नहीं होता, बल्कि यावज्जीवन अथवा मरणपर्यन्तके लिये होता है, इसीसे कारिकामें '*आमृति*' पदका प्रयोग किया गया है। और इसका उद्देश्य है अवधिके बाहर स्थित क्षेत्रके सम्बन्धमें अणुपापकी विनिवृत्ति अर्थात् स्थूलपापकी ही नहीं बल्कि सूक्ष्म-पापकी भी निवृत्ति। और यह तभी हो सकती है जब उस मर्यादा-बाह्य क्षेत्रमें मनसे वचनसे तथा कायसे गमन नहीं किया जायगा। और इसलिये संकल्प अथवा प्रतिज्ञामें स्थित '*बहिर्न यास्यामि*' वाक्य शरीरकी दृष्टिसे ही बाहर न जानेका नहीं बल्कि वचन और मनके द्वारा भी बाहर न जानेका सूचक है, तभी सूक्ष्म-पापकी विनिवृत्ति बन सकती है।

दिग्व्रतकी मर्यादाएँ

मकराकर-सरिदटवी-गिरि-जनपद-योजनानि मर्यादाः।
प्राहुर्दिशां दशानां प्रतिसंहारे प्रसिद्धानि ॥३॥६९॥

'दशों दिशाओंके प्रतिसंहारमें—उनके मर्यादीकरणरूप दिग्व्रतके ग्रहण करनेमें—प्रसिद्ध समुद्र, नदी, अटवी (वन), पर्वत, देश-नगर और योजनोंकी गणना, ये मर्यादायें कही जाती हैं।'

व्याख्या—दिग्व्रतका संकल्प करते-कराते समय उसमें इन अथवा इन-जैसी दूसरी लोकप्रसिद्ध मर्यादाओंमेंसे किसी न किसीका स्पष्ट उल्लेख रहना चाहिये।

दिग्व्रतोंसे अणुव्रतोंको महाव्रतत्व

अवधेर्बहिरणुपाप†-प्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम्।
पंचमहाव्रतपरिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते ॥४॥७०॥

† 'अणुपापं' इति पाठान्तरम्।

'दिशाओंके व्रतोंको धारण करनेवालोंके अणुव्रत, मर्यादाके बाहर सूक्ष्म-पापोंकी निवृत्ति हो जानेके कारण, पंच महाव्रतोंकी परिणतिको—उतने अंशोंमें महाव्रतों-जैसी अवस्थाको—प्राप्त होते हैं।'

व्याख्या—जब दिग्व्रतोंका धारण-पालन करने पर अणुव्रत महाव्रतोंकी परिणतिको प्राप्त होते हैं तब 'दिग्व्रत गुणव्रत हैं' यह बात सहजमें ही स्पष्ट हो जाती है और इसका एक मात्र आधार मर्यादित क्षेत्रके बाहर सूक्ष्म पापसे भी विरक्तिका होना है।

महाव्रतत्वके योग्य परिणाम

प्रत्याख्यान-तनुत्वान्मन्दतराश्चरणमोह-परिणामाः।
सत्वेन दुरवधारा महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते ॥५॥७१॥

'प्रत्याख्यानके कृश होनेसे—प्रत्याख्यानावरणरूप द्रव्य-क्रोध-मान-माया-लोभ नामक कर्मोंका मन्द उदय होनेके कारण—चारित्रमोहके परिणाम—क्रोध-मान-माया-लोभके भाव—बहुत मन्द होजाते हैं, (यहाँ तक कि) अपने अस्तित्वसे दुरवधार हो जाते हैं—सहजमें लक्षित नहीं किये जा सकते—वे परिणाम महाव्रतके लिये प्रकल्पित किये जाते हैं—उन्हें एक प्रकार महाव्रत कहा जाता है।'

व्याख्या—यहाँ 'प्रत्याख्यान' शब्द नामका एकदेश होनेसे 'प्रत्याख्यानावरण' नामका उसी तरह वाचक है जिस तरह कि 'राम' शब्द 'रामचन्द्र' नामके व्यक्तिविशेषका वाचक होता है। हिंसादिकसे विरक्तिरूप संयमका नाम प्रत्याख्यान है। इस प्रत्याख्यानको जो आवृत्त करते हैं—नहीं होने देते—वे द्रव्य क्रोध-मान-माया और लोभके रूपमें चार कर्म-प्रकृतियाँ हैं, जिन्हें 'प्रत्याख्यानावरण' कहा जाता है। इन चारों कर्मप्रकृतियोंका उदय जब अतिमन्द होता है तो चारित्रमोहके परिणाम भी अतीव मन्द हो जाते हैं अर्थात् क्रोध-मान-माया-लोभके भाव इतने अधिक क्षीण हो जाते हैं कि उनका अस्तित्व सहजमें ही मालूम नहीं पड़ता। चारित्रमोहके ये ही मन्दतर परिणाम महाव्रतत्वको

प्राप्त होते हैं। यहाँ चारित्रमोहके परिणामोंका *'सत्वेन दुरवधाराः'* विशेषण बहुत ही महत्वपूर्ण है और इस बातको सूचित करता है कि जहाँ क्रोधादिकषायें साफ तौरसे परिलक्षित या भभकती हुई नजर आती हों वहाँ महाव्रतोंकी कल्पनातक भी नहीं की जा सकती—भले ही वे व्यक्ति बाह्यमें मुनिपदके धारक क्यों न हों।

महाव्रत-लक्षण

पंचानां पापानां हिंसादीनां मनोवचःकायैः।
कृत-कारिताऽनुमोदैस्त्यागस्तु महाव्रतं महताम् ॥६॥७२॥

'हिंसादिक पांच पापोंका—पापोपार्जनके कारणोंका—मनसे, वचनसे, कायसे, कृत-द्वारा, कारित-द्वारा और अनुमोदन-द्वारा जो त्याग है—अर्थात् नव प्रकारसे हिंसादिक पापोंके न करनेका जो दृढ संकल्प है—उसका नाम 'महाव्रत' है और वह महात्माओंके—प्रायः प्रमत्तसंयतादि-गुणस्थानवर्ति-विशिष्ट-आत्माओंके—होता है।'

व्याख्या—यहाँ पापोंके साथमें 'स्थूल'-जैसा कोई विशेषण नहीं लगाया गया, और इसलिये यहाँ स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकारके सभी पापोंका पूर्णरूपसे त्याग विवक्षित है। हिंसादि पाँचों पापोंका मन-वचन-कायसे कृत कारित और अनुमोदनाके रूपमें जो यह त्याग है वही महाव्रत है—पंच महाव्रतोंका समूह है—और उसको धारण-पालन करनेवाले महान् आत्मा होते हैं। अपरिग्रह-महाव्रतमें बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहोंका त्याग होता है। अभ्यन्तर परिग्रह चौदह प्रकारके हैं, जिनमें राग-द्वेष-मोह-काम-क्रोध-मान-माया-लोभ तथा भयादिक शामिल हैं। इन सब अन्तरंग-परिग्रहोंका पूर्णतः त्याग १२वें गुणस्थानमें जाकर होता है, जहाँ कि मोहनीय-कर्म अत्यन्त क्षीण होकर आत्मासे अलग हो जाता है—उसका अस्तित्व ही वहाँ शेष नहीं रहता; क्योंकि ये सब परिग्रह मोहनीय-कर्मके ही

परिकर परिवार अथवा अंग हैं। ऐसी स्थितिमें महाव्रतोंकी पूर्णता भी १२वें गुणस्थानमें जाकर ही होती है। उससे पूर्वके छठे आदि गुणस्थानवर्तियोंको जो महाव्रती कहा जाता है वह पूर्व-कारिकानुवर्णित इस दृष्टिको लक्ष्यमें लेकर ही जान पड़ता है कि वहाँ चारित्रमोहके परिणाम 'सत्वेन दुरवधार' होते हैं।

दिग्व्रतके अतिचार

ऊर्ध्वाऽधस्तात्तिर्यग्व्यतिपात-क्षेत्रवृद्धिरवधीनाम्।
विस्मरणं दिग्विरतेरत्याशाः पंच मन्यन्ते ॥७॥७३॥

'(अज्ञान या प्रमादसे) ऊपरकी दिशा-मर्यादाका उल्लंघन, नीचेकी दिशामर्यादाका उल्लंघन, दिशाओं-विदिशाओंकी मर्यादा-का उल्लंघन, क्षेत्रवृद्धि—क्षेत्रकी मर्यादाको बढ़ा लेना—तथा की हुई मर्यादाओंको भूल जाना; ये दिग्व्रतके पाँच अतिचार माने जाते हैं।'

व्याख्या—यहाँ दिशाओंकी मर्यादाका उल्लंघन और क्षेत्र-वृद्धिकी जो बात कही गई है वह जान-बूझकर की जानेवाली नहीं बल्कि अज्ञान तथा प्रमादसे होनेवाली है; क्योंकि जानबूझ-कर किये जानेसे तो व्रत भंग होता है—अतिचारकी तब बात ही नहीं रहती।

अनर्थदण्डव्रत-लक्षण

अभ्यंतरं दिगवधेरपार्थकेभ्यः सपापयोगेभ्यः।
विरमणमनर्थदण्डव्रतं विदुर्व्रतधराऽग्रण्यः ॥८॥७४॥

'दिशाओंकी मर्यादाके भीतर निष्प्रयोजन पापयोगोंसे—पापमय मन, वचन, कायकी प्रवृत्तियोंसे—जो विरक्त होना है उसे व्रतधारियोंमें अग्रणी—तीर्थंकरादिक देव—'अनर्थदण्डव्रत' कहते हैं।

व्याख्या—यहाँ पापयोगका—अपार्थक (निष्प्रयोजन) विशे-षण खास तौरसे ध्यान देनेके योग्य है और इस बातको सूचित

कहता है कि मन-वचन-कायकी जो पापप्रवृत्ति स्थूलत्यागके अनुरूप अपने किसी प्रयोजनकी सिद्धिके लिये की जाती है उसका यहाँ ग्रहण नहीं है, यहाँ उस पापप्रवृत्तिका ही ग्रहण है जो निरर्थक होती है, जिसे लोकमें 'गुनाह बेलज्जत' भी कहते हैं और जिससे अपना कोई प्रयोजन नहीं सधता, केवल पाप ही पाप पल्ले पड़ता है। पापयोगका यह 'अपार्थक' विशेषण अनर्थदण्डके उन सभी भेदोंके साथ सम्बद्ध है जिनका उल्लेख अगली कारिकाओं में किया गया है।

अनर्थदण्डके भेद

पापोपदेश-हिंसादानाऽपध्यान-दुःश्रुतीः पंच।
प्राहुः प्रमादचर्यामनर्थदण्डानदण्डधराः ॥९॥७५॥

'पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति (और) प्रमादचर्या, इनको अदण्डधर—मन-वचन-कायके अशुभ व्यापारको न धरनेवाले गणधरादिकदेव—पाच अनर्थदण्ड बतलाते हैं—इनसे विरक्त होनेके कारण अनर्थदण्ड व्रतके पांच भेद कहे जाते हैं।

व्याख्या—यहाँ इस कारिकामें अनर्थदण्डोंके सिर्फ पांच नाम दिये हैं, इनसे विरक्त होनेका नाम पूर्व-कारिकाके अनुसार व्रत है और इसलिए विषय-भेदसे अनर्थदण्डव्रतके भी पाँच भेद हो जाते हैं। इन अनर्थदण्डोंके स्वरूपका क्रमशः वर्णन ग्रन्थकार-महोदय स्वयं ग्रन्थमें आगे कर रहे हैं।

पापोपदेश-लक्षण

तिर्यक्क्लेश-वणिज्या-हिंसाऽऽरम्भ-प्रलंभनादीनाम्।
कथा-प्रसंग-प्रसवः* स्मर्तव्यः पापउपदेशः ॥१०॥७६॥

'तिर्यञ्चोंके वाणिज्यकी तथा क्लेशात्मक-वाणिज्यकी या

* 'प्रसवः कथाप्रसंगः' इति पाठान्तरम्।

तिर्यञ्चोंकेक्लेशकी तथा क्रय-विक्रयादिरूप वाणिज्यकी अथवा तिर्यञ्चोंके लिये जो क्लेशरूप हो ऐसे वाणिज्यकी, हिंसाकी—प्राणियोंके वधकी—, आरम्भकी—कृष्यादिरूप सावद्यकर्मोंकी—प्रलम्भनकी—प्रवंचना-ठगीकी—,और'आदि' शब्दसे मनुष्यक्लेशादिविषयोंकी कथाओंके (व्यर्थ) प्रसंग छेड़नेको 'पापोपदेश'—पापात्मक उपदेश—नामका अनर्थदण्ड जानना चाहिये।'

व्याख्या—यहाँ जिस प्रकारकी कथाओंके प्रसंग छेड़नेकी बात कही गई है वह यदि सत्य घटनाओंके प्रतिपादनादिरूप ऐतिहासिक दृष्टिको लिए हुए हो, जैसा कि चरित-पुराणादिरूप प्रथमानुयोगके कथानकोंमें कहीं-कहीं पाई जाती है, तो उसे व्यर्थ-अपार्थक या निरर्थक नहीं कह सकते, और इसलिये वह इस अनर्थदण्डव्रतकी सीमाके बाहर है। यहाँ जिस पापोपदेशके लक्षणका निर्देश किया गया है उसके दो एक नमूने इस प्रकार हैं—

१. 'अमुक देशमें दासी-दास बहुत सुलभ हैं उन्हें अमुक देशमें ले जाकर बेचनेसे भारी अर्थ-लाभ होता है,' इस प्रकारके आशयको लिये हुए जो कथा-प्रसंग है वह 'क्लेश-वणिज्या' रूप पापोपदेश है।

२. 'अमुक देशसे गाय-भैंस-बैलादिको लेकर दूसरे देशमें उनका व्यापार करनेसे बहुत धनकी प्राप्ति होती है' इस आशयके अभिव्यंजक कथाप्रसंगको 'तिर्यक् वणिज्यात्मक-पापोपदेश' समझना चाहिये।

३. शिकारियों तथा चिड़ीमारों आदिके सामने ऐसी कथा करना जिससे उन्हें यह मालूम हो कि 'अमुक देश या जंगलमें मृग-शूकरादिक तथा नाना प्रकारके पक्षी बहुत हैं,' यह 'हिंसा-कथा' के रूपमें पापोपदेश नामक अनर्थदण्ड है।

हिंसादान-लक्षण

परशु-कृपाण-खनित्र-ज्वलनायुध-शृङ्गि-शृङ्खलादीनाम् ।
वधहेतूनां दानं हिंसादानं ब्रुवंति बुधाः ॥ ११ ॥ ७७ ॥

'फरसा, तलवार, गेंती, कुदाली, अग्नि, आयुध (छुरी-कटारी-लाठी-तीर आदि हथियार) विष, सांकल इत्यादिक वधके कारणोंका—हिंसाके उपकरणोंका—जो (निरर्थक) दान है उसे ज्ञानीजन—गणधरादिक मुनि—'हिंसादान' नामका अनर्थदण्ड कहते हैं ।

व्याख्या—यहाँ हिंसाके जिन उपकरणोंका उल्लेख है उनका दान यदि निरर्थक नहीं है—एक गृहस्थ अपनी आरम्भजा तथा विरोधजा हिंसाकी सिद्धिके लिये उन्हें किसीको देता है—तो वह इस व्रतकी कोटिसे निकल जाता है—क्योंकि अनर्थदण्डके लक्षण में पापयोगका जो अपार्थक (निरर्थक) विशेषण दिया गया है उसकी यहाँ भी अनुवृत्ति है, वह 'दान' पदके पूर्वमें अध्याहृत (गुप्त) रूपसे स्थित है । इसी तरह यदि कोई गृहस्थ हिंसाके ये उपकरण अपने किसी पड़ोसी या इष्ट-मित्रादिकको इसलिये मांगे देता है कि उसने भी अपनी आवश्यक्ताके समय उनसे वैसे उप-करणोंको माँग कर लिया है और आगे भी उसके लेनेकी सम्भा-वना है तो ऐसी हालतमें उसका वह देना निरर्थक या निष्प्रयोजन नहीं कहा जा सकता और इसलिये वह भी इस व्रतका व्रती होते हुए व्रतकी कोटिसे निकल जाता है—उसमें भी यह व्रत बाधा नहीं डालता । जहाँ इन हिंसोपकरणोंके देनेमें कोई प्रयोजन-विशेष नहीं है वहीं यह व्रत बाधा डालता है ।

अपध्यान-लक्षण

वध-बन्ध-च्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः ।
आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः ॥१२॥७८॥

'**द्वेषभावसे किसीको मारने-पीटने, बांधने या उसके अंग-च्छेदनादिका**—तथा किसीकी हार (पराजय) का—**और रागभावसे परस्त्री आदिका**—दूसरोंकी पत्नी-पुत्र-धन-धान्यादिका—तथा किसीकी जीत (जय) का—**जो निरन्तर चिन्तन है**—कैसे उनका सम्पादन-विनाश-वियोग, अपहरण अथवा सम्प्रापण हो, ऐसा जो व्यर्थका मानसिक व्यापार है—उसे जिन-शासनमें निष्णात कुशलबुद्धि आचार्य अथवा गणधरादिकदेव 'अपध्यान' नामका अनर्थदण्डव्रत बतलाते हैं।'

व्याख्या—यहाँ '*द्वेषात्*' और '*रागात्*' ये दोनों पद खास तौरसे ध्यान देने योग्य हैं, जो कि अपने अपने विषयकी दृष्टिको स्पष्ट करनेके लिये प्रयुक्त हुए हैं। 'द्वेषात्' पदका सम्बन्ध वध-बन्ध-छेदादिकसे है, जिसमें किसीकी हार (पराजय) भी शामिल है; और 'रागात्' पदका सम्बन्ध परस्त्री आदिकसे है, जिसमें किसीकी जीत (जय) भी शामिल है। वध-बन्ध-च्छेदादिका चिन्तन यदि द्वेषभावसे न होकर सुधार तथा उपकारादिकी दृष्टि-से हो और परस्त्री आदिका चिन्तन कामादि-विषयक अशुभ रागसे सम्बन्ध न रखकर यदि किसी दूसरी ही सद्दृष्टिको लिये हुए हो तो वह चिन्तन अपध्यानकी कोटिसे निकल जाता है। अपध्यानके लिये द्वेषभाव तथा अशुभरागमेंसे किसीका भी होना आवश्यक है।

दुःश्रुति-लक्षण

आरम्भ-संग-साहस-मिथ्यात्व-द्वेष-राग-मद-मदनैः ।
चेतःकलुषयतां श्रुतिरवधीनां दुःश्रुतिर्भवति ॥१३॥ ७९ ॥

'(व्यर्थके) आरम्भ (कृष्यादिसावद्यकर्म) परिग्रह (धन-धान्यादि-की इच्छा), साहस (शक्ति तथा नीतिका विचार न करके एक दम किये जानेवाले भारी असत्कर्म), मिथ्यात्व (एकान्तादिरूप अतत्त्वश्रद्धान)

द्वेष, राग, मद और मदन (रति-काम) के प्रतिपादनादि-द्वारा चित्तको कलुषित-मलिन करनेवाले—क्रोध-मान-माया-लोभादिसे अभिभूत अथवा आक्रान्त बनानेवाले—शास्त्रोंका सुनना 'दुःश्रुति' नामका अनर्थदण्ड है।'

व्याख्या—जो शास्त्र व्यर्थके आरम्भ-परिग्रहादिके प्रोत्तेजन-द्वारा चित्तको कलुषित करनेवाले हैं उनका सुनना-पढ़ना निरर्थक है; क्योंकि चित्तका कलुषित होना प्रकट रूपमें कोई हिंसादि कार्य न करते हुए भी स्वयं पाप-बन्धका कारण है। इसीसे ऐसे शास्त्रों-के सुननेको, जिसमें पढ़ना भी शामिल है, अनर्थदण्डमें परि-गणित किया गया है। और इसलिये अनर्थदण्डव्रतके व्रतीको ऐसे शास्त्रोंके व्यर्थ श्रवणादिकसे दूर रहना चाहिये। हाँ, गुण-दोषका परीक्षक कोई समर्थ पुरुष ऐसे ग्रन्थोंको उनका यथार्थ परिचय तथा हृदय मालूम करने और दूसरोंको उनके विषयकी समुचित चेतावनी देनेके लिये यदि सुनता या पढ़ता है तो वह इस व्रतका व्रती होनेपर भी दोषका भागी नहीं होता। वह अपने चित्तको कलुषित न होने देनेकी भी क्षमता रखता है।

प्रमादचर्या-लक्षण

क्षिति-सलिल-दहन-पवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदं ।
सरणं सारणमपि च प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते ॥१४॥८०॥

'पृथ्वी, जल, अग्नि तथा पवनके (व्यर्थ) आरम्भको—बिना ही प्रयोजन पृथ्वीके खोदने-कुरेदनेको, जलके उछालने-छिड़कने तथा पीटने-पटकनेको, अग्निके जलाने-बुझानेको, पवनके पंखे आदिसे उत्पन्न करने ताड़ने-रोकनेको—व्यर्थके वनस्पतिच्छेदको, और व्यर्थके पर्यटन-पर्यटनको—बिना प्रयोजन स्वयं घूमने-फिरने तथा दूसरोंके घुमाने-फिरानेको—'प्रमादचर्या' नामका अनर्थदण्ड कहते हैं।'

व्याख्या—यहाँ प्रकटरूपमें आरम्भादिका जो 'विफल' विशेषण दिया गया है वह उसी 'निरर्थक' अर्थका द्योतक है जिसके लिये अनर्थदण्डके लक्षण-प्रतिपादक पद्य (७४) में 'अपार्थक' शब्दका प्रयोग किया गया है और जो पिछले कुछ पद्योंमें अध्याहृत रूपसे चला आता है। इस पद्यमें वह 'अन्तदीपक' के रूपमें स्थित है और पिछले विवक्षित पद्योंपर भी अपना प्रकाश डाल रहा है। साथ ही प्रस्तुत पद्यमें इस बातको स्पष्ट कर रहा है कि उक्त आरम्भ, वनस्पतिच्छेद तथा सरण-सारण (पर्यटन-पर्याटन) जैसे कार्य यदि सार्थक हैं—जैसा कि गृहस्थाश्रमकी आवश्यकताओंको पूरा करनेके लिये प्रायः किये जाते हैं—तो वे इस व्रतके व्रतीके लिये दोषरूप नहीं हैं।

अनर्थदण्डव्रतके अतिचार

कंदर्पं कौत्कुच्यं मौखर्यमतिप्रसाधनं पंच।
असमीक्ष्य चाऽधिकरणं व्यतीतयोऽनर्थदंडकृद्विरतेः॥१५॥८१

'कन्दर्प—काम-विषयक रागकी प्रबलतासे प्रहास-मिश्रित (हँसी ठट्ठेको लिये हुए) भण्ड (अशिष्ट) वचन बोलना—, *कौत्कुच्य*—हँसी-ठट्ठे और भण्ड वचनको साथमें लिये हुए कायकी कुचेष्टा करना, *मौखर्य*—धीठपनेकी प्रधानताको लिये हुए बहुत बोलना—बकवाद करना—, *अतिप्रसाधन*—भोगोपभोगकी सामग्रीका आवश्यकतासे अधिक जुटा लेना—और *असमीक्ष्याऽधिकरण*—प्रयोजनका विचार न करके कार्यको अधिकरूपमें कर डालना—; ये पाँच अनर्थदण्डव्रतके अतिचार हैं।'

व्याख्या—यहाँ 'अतिप्रसाधन' नामका जो अतिचार है वह तत्त्वार्थसूत्रमें वर्णित 'उपभोग-परिभोगानर्थक्य' नामक अतिचारके समकक्ष है और उसका संक्षिप्त पर्याय-नाम है।

भोगोपभोगपरिमाणव्रत-लक्षण

अक्षार्थानां परिसंख्यानं भोगोपभोगपरिमाणम् ।
अर्थवतामप्यवधौ राग-रतीनां तनूकृतये ॥१६॥८२॥

'रागोद्रेकसे होनेवाली विषयोंमें आसक्तियोंको कृश करने-घटानेके लिये प्रयोजनीय होते हुए भी इन्द्रिय-विषयोंकी जो अवधिके अन्तर्गत—परिग्रहपरिमाणव्रत और दिग्व्रतमें ग्रहण की हुई अवधियोंके भीतर—परिगणना करना है—काल मर्यादाको लिये हुए सेव्याऽसेव्यरूपसे उनकी संख्याका निर्धारित करना है— उसे भोगो-पभोग-परिमाण' नामका गुणव्रत कहते हैं ।

व्याख्या—यहाँ 'अक्षार्थानां' पदके द्वारा परिग्रहीत इंद्रिय-विषयोंका अभिप्राय स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँचों इन्द्रियोंके विषयभूत सभी पदार्थोंसे है, जो असंख्य तथा अनन्त हैं। वे सब दो भागोंमें बँटे हुए हैं—एक 'भोगरूप' और दूसरा 'उपभोगरूप', जिन दोनोंका स्वरूप अगली कारिका-में बतलाया गया है। इन दोनों प्रकारके पदार्थोंमेंसे जिस जिस प्रकारके जितने जितने पदार्थोंको इस व्रतका व्रती अपने भोगो-पभोगके लिये रखता है वे सेव्य रूपमें परिगणित होते हैं, शेष सब पदार्थ उसके लिये असेव्य होजाते हैं; और इस तरह इस व्रतका व्रती अपने अहिंसादि मूलगुणोंमें बहुत बड़ी वृद्धि करनेमें समर्थ हो जाता है। उसकी यह परिगणना रागभावोंको घटाने तथा इन्द्रियविषयोंमें आसक्तिको कम करनेके उद्देश्यसे की जाती है। यह उद्देश्य खास तौरसे ध्यानमें रखने योग्य है। जो लोग इस उद्देश्यको लक्ष्यमें न रखकर लोकदिखावा, गतानुगतिकता, पूजा-प्रतिष्ठा, ख्याति, लाभ आदि किसी दूसरी ही दृष्टिसे सेव्य-रूपमें पदार्थोंकी परिगणना करते हैं वे इस व्रतकी कोटिमें नहीं आते।

यहाँ पर इतना और भी जान लेना चाहिये कि इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थोंकी यह परिगणना उन पदार्थोंसे सम्बन्ध नहीं रखती जो परिग्रहपरिमाणव्रत और दिग्व्रतकी ही सीमाओंके बाहर स्थित है—वे पदार्थ तो उन व्रतोंके द्वारा पहले ही एक प्रकारसे त्याज्य तथा असेव्य हो जाते हैं। अतः उक्त व्रतोंकी सीमाओंके भीतर स्थित पदार्थोंमेंसे कुछ पदार्थोंको अपने भोगोपभोगके लिये चुन लेना ही यहाँ विवक्षित है—भले ही वे दिग्व्रतमें ग्रहण की हुई क्षेत्र-मर्यादाके बाहर उत्पन्न हुए हों। इसी बातको बतलानेके लिये कारिकामें '*अवधौ*' पदका प्रयोग किया गया है।

भोगोपभोग-लक्षण

भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः।
उपभोगोऽशन-वसनप्रभृतिः पाञ्चेन्द्रियोविषयः† ॥१७॥८३॥

'जो पांचेन्द्रियविषय—पाँचों इन्द्रियोंमेंसे किसीका भी भोग्य पदार्थ—एक बार भोगने पर त्याज्य हो जाता है—पुनः उसका सेवन नहीं किया जाता—वह 'भोग' है; जैसे अशनादिक—भोजन-पान-विलेपनादिक। और जो पांचेन्द्रिय विषय एक बार भोगने पर पुनः (बार-बार) भोगनेके योग्य रहता है—फिर-फिरसे उसका सेवन किया जाता है—उसे 'उपभोग' कहते हैं; जैसे वसनादिक—वस्त्र, आभरण, शोभा-सजावटका सामान, सिनेमाके पर्दे, गायनके रिकार्ड आदिक।'

व्याख्या—यहाँ कारिकामें भोग तथा उपभोगका लक्षण देकर नमूनेके तौर पर दोनोंका एक-एक उदाहरण दे दिया गया है, शेषका संग्रह 'प्रभृति' शब्दके द्वारा किया गया है जो इत्यादि

† 'पंचेन्द्रियोविषयः' इति पाठान्तरम्।

अर्थका वाचक है। साथ ही 'पाँचेन्द्रियविषय' विशेषण देकर यह भी स्पष्ट किया गया है कि वह भोग या उपभोग किसी एक ही इन्द्रियका विषय नहीं है बल्कि पाँचों ही इन्द्रियोंके विषयोंसे सम्बन्ध रखता है—सभी इन्द्रियोंके विषय यथासाध्य भोग-उपभोगोंमें परिगृहीत हैं।

मधु-मांसादिके त्यागकी दृष्टि

असहति-परिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमाद-परिहृतये ।
मद्यं च वर्जनीयं जिनरचरणौ शरणमुपयातैः ॥१८॥८४॥

'जिन्होंने जिन-चरणोंको शरणरूपमें (अपाय-परिरक्षक-रूपमें) प्राप्त किया है—जो जिनेन्द्रदेवके उपासक बने हैं—उनके द्वारा त्रस-जीवोंकी हिंसा टालनेके लिये 'मधु' और 'मांस' तथा प्रमादको—चित्तकी असावधानता-अविवेकताको—दूर करनेके लिये मद्य-मदिरादिक मादक पदार्थ—वर्जनीय हैं—अर्थात् ये तीनों दूषित पदार्थ भोगोपभोगके परिमाणमें ग्राह्य नहीं हैं, श्रावकोंके लिए सर्वथा त्याज्य हैं।'

व्याख्या—यहाँ '*त्रसहतिपरिहरणार्थं*' पदके द्वारा मांस तथा मधुके त्यागकी और '*प्रमादपरिहृतये*' पदके द्वारा मद्यके त्यागकी दृष्टिको स्पष्ट किया गया है। अर्थात् त्रसहिंसाके त्यागकी दृष्टि से मांस तथा मधुका त्याग विवक्षित है और प्रमादके परिहारकी दृष्टिसे मद्यका परिहार अपेक्षित है, ऐसा घोषित किया गया है। और इसलिए जहाँ विवक्षित दृष्टि चरितार्थ नहीं होती वहाँ विवक्षित त्याग भी नहीं बनता। इन पदार्थोंके स्वरूप एवं त्यागादि-विषयका कुछ विशेष कथन एवं विवेचन अष्टमूल-गुण-विषयक-कारिका (६६) की व्याख्यामें आगया है अतः उसको फिरसे यहां देनेकी जरूरत नहीं है।

दूसरे त्याज्य पदार्थ

अल्पफल-बहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृङ्गवेराणि ।
नवनीत-निम्ब-कुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥१६॥८५॥

'अल्पफल और बहु विघातके कारण (अप्रासुक) **मूलक**—मूली आदिक—तथा **आर्द्रशृङ्गवेर आदि**—सचित्त अथवा अप्रासुक अदरकादिक, **नवनीत**—(मर्यादासे बाहरका) **मक्खन, नीमके फूल, केतकीके फूल, ये सब और इसी प्रकारकी दूसरी वस्तुएँ भी** (जिनेन्द्रदेवके उपासकोंके लिये) त्याज्य हैं—अर्थात् श्रावकोंको भोगोपभोगकी ऐसी सब वस्तुओंका त्याग ही कर देना चाहिये—परिमाण करनेकी जरूरत नहीं—जिनके सेवनसे जिह्वाकी तृप्ति आदि लौकिक लाभ तो बहुत कम मिलता है किन्तु त्रस और स्थावर जीवोंका बहुत घात होनेसे पापसंचय अधिक होकर परलोक बिगड़ जाता है और दुःखपरम्परा बढ़ जाती है।

व्याख्या—यहाँ '*मूलकं*' पद मूलमात्रका द्योतक है और उसमें मूली-गाजर-शलजमादिक तथा दूसरी वनस्पतियोंकी जड़ें भी शामिल हैं। '*शृङ्गवेराणि*' पदमें अद्रकके सिवा हरिद्रा (हल्दी), सराल, शकरकन्द, जमींकन्दादिक वे दूसरे कन्द भी शामिल हैं जो अपने अंगपर शृङ्गकी तरहका कुछ उभार लिये हुए होते हैं और उपलक्षणसे उसमें ऐसे कन्दोंका भी ग्रहण आ जाता है जो शृङ्गकी तरहका कोई उभार अपने अंगपर लिये हुए न हों, किन्तु अनन्तकाय—अनन्त जीवोंके आश्रयभूत—हों। इस पद तथा 'मूलक' पदके मध्यमें प्रयुक्त हुआ '*आर्द्राणि*' पद यहाँ अपना खास महत्व रखता है और अपने अस्तित्वसे दोनों ही पदोंको अनुप्राणित करता है। इसका अर्थ आमतौर पर गीले, हरे, रसभरे, अशुष्क-रूपमें लिया जाता है; परन्तु स्पष्टार्थकी दृष्टिसे वह यहाँ सचित्त (Living) तथा अप्रासुक अर्थका वाचक है। टीकामें प्रभा-

चन्द्राचार्यने इस पदका अर्थ जो '*अपक्वानि*' दिया है वह भी इसी अर्थकी दृष्टिको लिये हुए है; क्योंकि जो कन्द-मूल अग्नि आदिके द्वारा पके या अन्य प्रकारसे जीवशून्य नहीं होते वे सचित्त तथा अप्रासुक होते हैं। प्रासुक कन्द-मूलादिक द्रव्य वे कहे जाते हैं जो सूखे होते हैं, अग्न्यादिकमें पके या खूब तपे होते हैं, खटाई तथा लवणसे मिले होते हैं अथवा यन्त्रादिसे छिन्न-भिन्न किये होते हैं; जैसा कि इस विषयकी निम्न प्राचीन प्रसिद्ध गाथासे प्रकट है:—

> "*सुक्कं पक्कं तत्तं अंबिल-लवणेण मिस्सियं दव्वं।*
> *जं जंतेण य छिण्णं तं सव्वं फासुयं भणियं॥*"

और '*प्रासुकस्य भक्षणे नो पापः*'—प्रासुक पदार्थके खानेमें कोई पाप नहीं—, इस उक्तिके अनुसार वे ही कन्द-मूल त्याज्य हैं जो प्रासुक तथा अचित नहीं हैं और उन्हींका त्याग यहाँ '*आर्द्राणि*' पदके द्वारा विवक्षित है। नवनीत (मक्खन) में अपनी उत्पत्तिसे अन्तमुहूर्तके बाद ही सम्मूर्च्छन जीवोंका उत्पाद होता है अतः इस काल-मर्यादाके बाहरका नवनीत ही यहां त्याज्य-कोटिमें स्थित है—इससे पूर्वका नहीं; क्योंकि जब उसमें जीव ही नहीं तब उसके भक्षणमें बहुघातकी बात तो दूर रही अल्पघातकी बात भी नहीं बनती। नीमके फूल अनन्तकाय और केतकीके फूल बहु-जन्तुओंके योनिस्थान होते हैं। इसीसे वे त्याज्य-कोटिमें स्थित हैं।

यहाँ पर इतना और भी जान लेना चाहिये कि '*अल्पफल-बहुविघातात्*' पदके द्वारा त्यागके हेतुका निर्देश किया गया है, जिसके 'अल्पफल' और 'बहुविघात' ये दो अङ्ग हैं। यदि ये दोनों अङ्ग एक साथ न हों तो विवक्षित त्याग चरितार्थ नहीं होगा; जैसे बहुफल अल्पघात, बहुफल बहुघात और अल्पफल अल्प-घातकी हालतोंमें। इसी तरह प्रासुक अवस्थामें जहाँ कोई घात ही न बनता हो वहाँ भी यह त्याग चरितार्थ नहीं होगा।

अनिष्टादिपदार्थोंके त्यागका विधान

यदनिष्टं तद्व्रतयेद्यच्चाऽनुपसेव्यमेतदपि जह्यात् ।
अभिसन्धिकृताविरतिर्विषयाद्योग्याद्व्रतं भवति ॥२०॥८६॥

'(श्रावकोंको चाहिये कि वे) **भोगोपभोगका जो पदार्थ अनिष्ट हो**—शरीरमें बाधा उत्पन्न करनेके कारण किसी समय अपनी प्रकृतिके अनुकूल न हो अथवा अन्य किसी प्रकारसे अपनेको रुचिकर न होकर हानिकर हो—**उसे विरति-निवृत्तिका विषय बनाएँ** अर्थात् **छोड़दें और जो अनुपसेव्य हो**—अनिष्ट न होते हुए भी गर्हित हो, देश-राष्ट्र-समाज-सम्प्रदाय आदिकी मर्यादाके बाहर हो अथवा सेव्याऽसेव्यकी किसी दूसरी दृष्टिसे सेवन करनेके योग्य न हो—**उसको भी छोड़ देना चाहिये।** (क्योंकि) **योग्य विषयसे भी संकल्पपूर्वक जो विरक्ति होती है वह 'व्रत' कहलाती है**—व्रत-चारित्रके फलको फलती है।'

व्याख्या—संकल्पपूर्वक त्याग न करके जो यों ही अनिष्ट तथा अनुपसेव्य पदार्थोंका सेवन नहीं किया जाता, उस त्यागसे व्रत-फलकी कोई सम्प्राप्ति नहीं होती—व्रत-फलकी सम्प्राप्तिके लिये संकल्पपूर्वक अथवा प्रतिज्ञाके साथ त्यागकी जरूरत है, उसके द्वारा उनका वह न सेवन सहजमें ही व्रत-फलको फलता है। इसीसे आचार्यमहोदयने यहाँ भोगोपभोगपरिमाणके अवसरपर श्रावकोंको अनिष्टादि-विषयोंके त्यागका परामर्श दिया है। अनुप-सेव्यमें देश, राष्ट्र, समाज, सम्प्रदाय आदिकी दृष्टिसे कितनी ही वस्तुओंका समावेश हो सकता है। उदाहरणके तौर पर स्त्रियोंका ऐसे अति महीन एवं झीने वस्त्रोंका पहनना जिनसे उनके गुह्य अंग तक स्पष्ट दिखाई पड़ते हों भारतीय संस्कृतिकी दृष्टिसे गर्हित हैं और इसलिये वे अनुपसेव्य हैं।

यम-नियम-लक्षण

नियमः यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारात् ।
नियमो परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥२१॥८७॥

'भोगोपभोगका परिमाण दो प्रकारका होनेसे नियम और यम ये दो भेद व्यवस्थित हुए हैं। जो परिमाण परमित कालके लिए ग्रहण किया जाता है उसे 'नियम' कहते हैं और जो जीवन-पर्यन्तके लिये धारण किया जाता है वह 'यम' कहलाता है।'

व्याख्या—यहाँ 'यम' तथा 'नियम' का अच्छा सुस्पष्ट लक्षण निर्दिष्ट हुआ है । यम-नियमका सम्बन्ध एकमात्र भोगोपभोग परिमाणव्रतसे ही नहीं है किन्तु दूसरे व्रतोंसे भी उनका सम्बन्ध है और इसीलिये यह व्यापक लक्षण सर्वत्र घटित होता है ।

नियमके व्यवस्थित रूपका संसूचन

भोजन-वाहन-शयन-स्नान-पवित्राङ्ग-राग-कुसुमेषु ।
ताम्बूल-वसन-भूषण-मन्मथ-संगीत-गीतेषु ॥ २२ ॥ ८८ ॥
अद्य दिवा रजनी वा पक्षो मासस्तथर्तुरयनं वा ।
इति काल-परिच्छित्या प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः ॥२३॥८९॥

'भोज्य पदार्थों, सवारीकी चीजों, शयनके साधनों, स्नानके प्रकारों, शरीरमें रागवर्धक केसर-चन्दनादिके विलेपनों तथा मिस्सी-अंजनादिके प्रयोगों, फूलोंके उपयोगों, ताम्बूल-वर्गकी वस्तुओं, वस्त्राभूषणके प्रकारों, काम-क्रीड़ाओं, संगीतों—नृत्य-वादित्रयुक्त गायनों—और गीत मात्रोंमें जो आज अमुक समय तक दिनको, रात्रिको, पक्ष भरके लिये, एक महीने तक, द्विमास अथवा ऋतुविशेष-पर्यन्त, दक्षिणायन, उत्तरायन अथवा छह-मास-पर्यन्त, इत्यादि रूपसे कालकी मर्यादा करके त्यागका जो विधान है वह 'नियम' कहलाता है ।

व्याख्या—यहाँ भोग तथा उपभोगमें आनेवाली सामग्रीका अच्छा वर्गीकरण किया गया है और साथ ही कालकी मर्यादाओं का भी सुन्दर निर्देश है। इन दोनोंसे व्रतको व्यवस्थित करनेमें बड़ी सुविधा हो जाती है। इस व्रतका व्रती अपनी सुविधा एवं आवश्यकताके अनुसार भोगोपभोगके पदार्थोंका और भी विशेष वर्गीकरण तथा कालकी मर्यादाका घड़ी-घंटा आदिके रूपमें निर्धारण कर सकता है। यहाँ व्यापकदृष्टिसे स्थूल रूपमें भोगोपभोगके विषयभूत पदार्थोंका वर्गीकरण तथा उनके सेवनकी कालमर्यादाओंका संसूचन किया गया है।

भोगोपभोग परिमाणव्रतके अतिचार

विषयविषतोऽनुपेक्षाऽनुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषाऽनुभवौ।
भोगोपभोगपरिमा-व्यतिक्रमाः पंच कथ्यन्ते ॥ ६० ॥

इति श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्य-विरचिते समीचीन-धर्मशास्त्रे
रत्नकरण्डाऽपरनाम्नि उपासकाऽध्ययने-गुणव्रत-
वर्णनं नाम चतुर्थमध्ययनम् ॥ ४ ॥

'विषयरूपी विषसे उपेक्षाका न होना—इन्द्रिय-विषयोंको सेवन कर लेने पर भी आलिंगनादि-रूपसे उनमे आसक्तिका भाव बना रहना—अनुस्मृति—भोगे हुए विषयोंका वार-वार स्मरण करना—, अतिलौल्य—वर्तमानविषयोंमें अतिलालसा रखना—,अतितृषा—भावी भोगोंकी अतिगृद्धताके साथ आकांक्षा करना—,अत्यनुभव—नियतकालिक भोगोपभोगोंको भोगते हुए भी अत्यासक्तिसे भोगना; ये भोगोपभोगपरिमाण-व्रतके पाँचअतिचार कहे जाते हैं।'

व्याख्या—यहाँ भोगोपभोग परिमाणव्रतके जो पाँच अतिचार दिये गये हैं वे उन अतिचारोंसे सर्वथा भिन्न हैं जो तत्त्वार्थसूत्र-

में दिये गये हैं और अपने विषयके साथ बहुत ही संगत जान पड़ते हैं। तत्त्वार्थसूत्रमें दिये गये अतिचारोंका रूप है—सचित्ताहार, सचित्त सम्बन्धाहार, सचित्त सम्मिश्राहार, अभिषवाहार, दु:पक्वाहार। ये सब एकमात्र भोजनसे सम्बन्ध रखते हैं, जब कि भोगोपभोगपरिमाणव्रतका विषय एकमात्र भोजन न होकर पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंसे सम्बन्ध रखता है और वे विषय जड तथा चेतन दोनों प्रकारके होते हैं। ऐसी स्थितिमें तत्त्वार्थसूत्र-गत अतिचार भोगोपभोग-परिमाणकी व्यापकदृष्टिको लिए हुए न होकर किसी दूसरी ही दृष्टिसे निबद्ध हुए जान पड़ते हैं। इस सम्बन्धमें एक बात और प्रकट कर देने की है और वह यह है कि सूत्रकारने इस व्रतको शिक्षाव्रतोंमें ग्रहण किया है जबकि स्वामी समन्तभद्र इसे गुणव्रतोंमें ले रहे हैं और सूत्रकारके पूर्ववर्ती कुन्दकुन्द आचार्यने भी इसे गुणव्रतोंमें ग्रहण किया है, जैसाकि चारित्तपाहुडकी निम्न गाथासे प्रकट है :—

दिसविदिसमाण पढमं अणत्थदंडस्स वज्जणं बिदियं ।
भोगोपभोगपरिमा इयमेव गुणव्वया तिण्णि ॥ २५ ॥

इससे भोगोपभोगपरिमाणव्रतकी गुणव्रतोंमें गणना अति प्राचीन सिद्ध होती है।

इस प्रकार स्वामी समन्तभद्राचार्य-विरचित समीचीन-धर्मशास्त्र अपरनाम रत्नकरण्ड-उपासकाध्ययनमें गुणव्रतोंका वर्णन नामका चौथा अध्ययन समाप्त हुआ ॥४॥

पंचम अध्ययन

शिक्षाव्रतोंके नाम

देशावकाशिकं वा सामयिकं प्रोषधोपवासो वा ।
वैय्यावृत्त्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि ॥१॥९१॥

'देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास तथा वैयावृत्त्य, ये चार शिक्षाव्रत (व्रतधराग्रणीयों-द्वारा) बतलाए गए हैं।'

व्याख्या—शिक्षाव्रतोंके जिन चार भेदोंका यहाँ नामोल्लेख है उनमें 'देशावकाशिक' नाम ऐसा है जिसे तत्त्वार्थ-सूत्रकारने 'देशविरति' के नामसे गुणव्रतोंमें ग्रहण किया है। और 'वैयावृत्य' नाम ऐसा है जिसे सूत्रकारने 'अतिथिसंविभाग' नामसे उल्लेखित किया है। वैय्यावृत्यमें अतिथिसंविभागकी अपेक्षा जो विशिष्टता है उसे आगे स्पष्ट किया जायगा।

देशावकाशिकव्रत-स्वरूप

देशावकाशिकं स्यात्काल-परिच्छेदनेन देशस्य ।
प्रत्यहमणुव्रतानां प्रतिसंहारो विशालस्य ॥२॥९२॥

'(दिग्व्रतमें ग्रहण किये हुए) विशाल देशका—विस्तृत क्षेत्र-मर्यादाका—कालकी मर्यादाको लिए हुए जो प्रतिदिन संकोच करना-घटाना है वह अणु-व्रतधारी श्रावकोंका देशावकाशिक—देशनिवृत्तिपरक—व्रत है।'

व्याख्या—इस व्रतमें दो बातें खास तौरसे ध्यानमें लेने योग्य हैं—एक तो यह कि यह व्रत कालकी मर्यादाको लिए हुए प्रति दिन ग्रहण किया जाता है अथवा इसमें प्रतिदिन नयापन लाया जाता है; जब कि दिग्व्रत प्रायः एक वार ग्रहण किया जाता है

और वह जीवन-पर्यन्तके लिये होता है। दूसरे यह कि दिग्व्रतमें ग्रहण किए हुए विशाल देशका—उसकी क्षेत्रावधिका—इस व्रतमें उपसंहार (अल्पीकरण) किया जाता है और वह उपसंहार उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है—देशव्रतमें भी उपसंहारका अवकाश बना रहता है। अर्थात् पहले दिन उपसंहार करके जितने देशकी मर्यादा की गई हो, अगले दिन उसमें भी कमी की जा सकती है—भले ही पहले दिन ग्रहण की हुई देशकी मर्यादा कुछ अधिक समयके लिये ली गई हो, अगले दिन वह समय भी कम किया जा सकता है; जबकि दिग्व्रतमें ऐसा कुछ नहीं होता और यही सब इन दोनों व्रतोंमें परस्पर अन्तर है।

देशावकाशिक व्रतकी सीमाएँ

गृह-हारि-ग्रामाणां क्षेत्र-नदी-दाव-योजनानां च ।
देशावकाशिकस्य स्मरन्ति सीम्नां तपोवृद्धाः ॥३॥९३॥

'गृह, हारि (रम्य उपवनादि प्रदेश), ग्राम, क्षेत्र (खेत) नदी, वन और योजन इनको तथा (चकार या उपलक्षणसे) इन्हीं जैसी दूसरी स्थान-निर्देशात्मक वस्तुओंको तपोवृद्ध मुनीश्वर (गणधरादिक पुरातनाचार्य) देशावकाशिकव्रतकी सीमाएँ—क्षेत्र-विषयक मर्यादाएँ —बतलाते हैं।'

व्याख्या—यहाँ 'च' शब्दके प्रयोग अथवा उपलक्षणसे जो दूसरी सीमावस्तुएँ विवक्षित हैं उनमें गली, मुहल्ला, सरोवर, पुल (Bridge) वृक्षविशेष, वस्तुविशेष, कटक, जनपद, राजधानी, पर्वत और समुद्र जैसी वस्तुएँ भी शामिल की जा सकती हैं।

देशावकाशिककी कालमर्यादाएँ

संवत्सरमृतुमयनं मास-चतुर्मास-पक्षमृक्षं च ।
देशावकाशिकस्य प्राहुः कालाऽवधिं प्राज्ञाः ॥४॥९४॥

'वर्ष, ऋतु, अयन, मास, चतुर्मास, पक्ष, नक्षत्र, इन्हें तथा (चकार या उपलक्षणसे) इन्हीं-जैसे दूसरे दिन, रात, अर्ध-दिन-रात, घड़ी घंटादि समय-निर्देशात्मक परिमाणोंको विज्ञजन (गण-धरादिक महामुनीश्वर) देशावकाशिकव्रतकी काल-विषयक मर्यादाएँ कहते हैं।'

व्याख्या—वर्ष प्रायःबारह मासका और कभी-कभी मलमास-से युक्त होने पर तेरह मासका भी होता है। ऋतुएँ प्रायःछह होती हैं—वर्षाऋतु, शरद, हेमन्त, शिशिर, बसन्त, ग्रीष्म और उनमें प्रत्येकका समय श्रावणसे प्रारम्भ करके दो दो मासका है। अयन-के दो भेद हैं—दक्षिणायन और उत्तरायण, जो सूर्यके दक्षिण तथा उत्तरागमनकी दृष्टिको लिये हुए हैं और इनमेंसे प्रत्येक छः मासका होता है। दक्षिणायनका प्रारम्भ प्रायः श्रावण माससे और उत्तरायणका माघमाससे होता है—संक्रान्तिकी दृष्टिसे भी इनका भेद किया जाता है। मास श्रावणादिक (अथवा जनवरी आदि) बारह हैं और वे प्रायः तीस-तीस दिनके होते हैं। चतुर्मास (चौमास) का प्रारम्भ श्रावणसे होता है। पक्षके कृष्ण और शुक्ल ऐसे दो भेद हैं, जिनमें से प्रत्येक प्रायः पन्द्रह दिनका होता है। नक्षत्र अश्विनी भरणी आदि अभिजित सहित अट्ठा-ईस हैं। इनमेंसे प्रत्येकका जो उदयाऽस्तमध्यवर्ती समय है वही यहाँ कालावधिके रूपमें परिगृहीत है। इन्हीं जैसी दूसरी काल-मर्यादाएँ हैं। दिन, रात अर्ध दिनरात, घड़ी घण्टा, प्रहर तथा मिनिटादिक।

देशावकाशिक-द्वारा महाव्रत-साधन

सीमान्तानां परतः स्थूलेतर-पंचपाप-संत्यागात् ।
देशावकाशिकेन च महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते ॥ ५ ॥ ९५ ॥

'मर्यादाके बाहर स्थूल तथा सूक्ष्म पंच पापोंका भले प्रकार त्याग होनेसे देशावकाशिकव्रतके द्वारा भी महाव्रत साधे जाते हैं।'

व्याख्या—यहाँ महाव्रतोंकी जिस साधनाका उल्लेख है वह नियत समयके भीतर देशावकाशिक व्रतकी सीमाके बाहरके क्षेत्रसे सम्बन्ध रखती है। उस बाहरके क्षेत्रमें स्थितस भी जीवोंके साथ उतने समयके लिये हिंसादि पाँचों प्रकारके पापोंका मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदनाके रूपमें कोई सम्बन्ध न रखनेसे उस देशस्थ सभी प्राणियोंकी अपेक्षा अहिंसादि महाव्रतोंकी प्रसाधना बनती है। और इससे यह बात फलित होती है कि इस व्रतके व्रतीको अपनी व्रतमर्यादाके बाहर स्थित देशोंके साथ किसी प्रकारका सम्बन्ध ही न रखना चाहिए और यदि किसी कारणवश कोई सम्बन्ध रखना पड़े तो वहांके त्रस-स्थावर सभी जीवोंके साथ महाव्रती मुनिकी तरहसे आचरण करना चाहिये।

देशावकाशिक व्रतके अतिचार

प्रेषण-शब्दाऽऽनयनं रूपाऽभिव्यक्ति-पुद्गलक्षेपौ।
देशावकाशिकस्य व्यपदिश्यन्तेऽत्ययाः पंच ॥ ६ ॥ ९६ ॥

'(देशावकाशिकव्रतमें स्वीकृत देश तथा कालकी मर्यादाके बाहर स्वयं न जाकर) प्रेषणकार्य करना—व्यापारादिके लिए किसी व्यक्ति, वस्तु, पत्र या संदेशको वहाँ भेजना—, आनयन कार्य करना—सीमाबाह्य देशसे किसी व्यक्तिको बुलाना या कोई चीज अथवा पत्रादिक मंगाना, (बाह्य देशमें स्थित प्राणियोंको अपने किसी प्रयोजनकी सिद्धिके लिए) शब्द सुनाना—उच्चस्वरसे बोलना, टेलीफोन या तारसे बातचीत करना अथवा लाउडस्पीकर (ध्वनि-प्रचारक यन्त्र) का प्रयोग करना, अपना रूप दिखाना, तथा पुद्गल द्रव्यके क्षेपण (पातनादि)-द्वारा कोई प्रकारका संकेत करना; ये देशावकाशिकव्रतके पाँच अतिचार कहे जाते हैं।'

व्याख्या—इन अतिचारोंके द्वारा देशावकाशिकव्रतकी सीमाके बाह्यस्थित देशोंसे सम्बन्ध-विच्छेदकी बातको—उसके प्रकारोंको—स्पष्ट करते हुए अन्तिम सीमाके रूपमें निर्दिष्ट किया गया है। यदि कोई दूसरा मानव इस व्रतके व्रतीकी इच्छा तथा प्रेरणाके विना ही उसकी किसी चीजको, उसके कारखानेके लेबिल लगे मालको, उसके शब्दोंको (रिकार्ड रूपमें) अथवा उसके किसी चित्र या आकृति-विशेषको व्रतसीमाके बाह्यस्थित देशको भेजता है तो उससे इस व्रतका व्रती किसी दोषका भागी नहीं होता। इसी तरह सीमाबाह्य स्थित देशका कोई पदार्थ यदि इस व्रतीकी इच्छा तथा प्रेरणाके विना ही स्वतन्त्र रूपमें वहाँसे लाया जाकर इस व्रतीको अपनी क्षेत्रमर्यादाके भीतर प्राप्त होता है तो उससे भी व्रतको दोष नहीं लगता। हाँ, जानबूझकर वह ऐसे चित्र-पटों, सिनेमाके पर्दों तथा चलचित्रोंको नहीं देखेगा और न ऐसे गायनों आदिके ब्राडकास्टों तथा रिकार्डोंको ही रेडियो आदि द्वारा सुनेगा जो उसकी क्षेत्रमर्यादासे बाहरके चेतन प्राणियोंसे सीधा सम्बन्ध रखते हों और जिससे उनके प्रति रागद्वेषकी उत्पत्ति तथा हिंसादिककी प्रवृत्तिका सम्भव हो सके।

सामायिक-व्रत-स्वरूप

आसमयमुक्ति मुक्तं पंचाऽघानामशेषभावेन ।
सर्वत्र च सामयिकाः सामयिकं नाम शंसन्ति ॥७॥९७॥

'(विवक्षित) समयकी—केशबन्धनादिरूपसे गृहीत आचारकी—मुक्तिपर्यन्त—उसे तोड़नेकी अवधि तक—जो हिंसादि पाँच पापों-का पूर्णरूपसे सर्वत्र—देशावकाशिकव्रतकी क्षेत्र-मर्यादाके भीतर और बाहर सब क्षेत्रोंकी अपेक्षा—त्याग करना है उसका नाम आगमके ज्ञाता 'सामायिक' बतलाते हैं।'

व्याख्या—यहाँ जिस समयकी बात कही गई है उसका सूचनात्मक स्वरूप अगली कारिकामें दिया है। उस समय अथवा आचारविशेषकी अवधि-पर्यन्त हिंसादिक पाँच पापोंका पूर्णरूपसे त्याग इस व्रतके लिये विवक्षित है और उसमें पापोंके स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकार आजाते हैं। यह त्याग क्षेत्रकी दृष्टिसे देशावकाशिक व्रतकी सीमाके भीतर और बाहर सारे ही क्षेत्रसे सम्बन्ध रखता है।

समय-स्वरूप

मूर्ध्वरुह-मुष्टि-वासो-बन्धं पर्यङ्कबन्धनं चाऽपि।
स्थानमुपवेशनं वा समयं जानन्ति समयज्ञाः ॥ ८ ॥९८॥

'केशबन्धन, मुष्टिबन्धन, वस्त्रबन्धन पर्यङ्कबन्धन—पद्मासनादि माँड़ना—और स्थान—खड़े होकर कायोत्सर्ग करना—तथा उपवेशन—बैठकर कायोत्सर्ग करना या साधारण रूपसे बैठना—इनको आगमके ज्ञाता अथवा सामायिक सिद्धान्तके जानकार पुरुष (सामायिकका) समय—आचार—जानते हैं। अर्थात् यह सामायिक व्रतके अनुष्ठानका बाह्याचार है।'

व्याख्या—'समय' शब्द शपथ, आचार, सिद्धान्त, काल, नियम, अवसर आदि अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है *। यहाँ वह 'आचार' जैसे अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। इस कारिकामें जिन आचारोंका उल्लेख है उनमेंसे किसी प्रकारके आचारका अथवा 'वा' शब्दसे उनसे मिलते जुलते किसी दूसरे आचारका नियम लेकर जब तक उसे स्वेच्छासे या नियमानुसार छोड़ा नहीं जावे तब तकके समय (काल) के लिये पंच पापोंका जो पूर्णरूपसे—

* 'समयः शपथे भाषासम्पदोः कालसंविदोः।
सिद्धान्ताऽऽचार-संकेत-नियमावसरेषु च ॥
क्रियाधिकारे निर्देशे च।'—इति रभसः।

मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदनाके द्वारा—सर्वथा त्याग है वही पूर्व कारिकामें वर्णित सामायिक शिक्षाव्रतका लक्ष्य है।

यहाँ केशबन्धादिक रूपमें जिस आचारका उल्लेख है वह सामायिककी कालमर्यादाके प्रकारोंका सूचक है; जैसे पद्मासन लगाकर बैठना जब तक असह्य या आकुलताजनक न हो जाय तब तक उसे नहीं छोड़ा जायगा और इसलिये असह्यादि होने पर जब उसे छोड़ा जायगा तब तककी उस सामायिक व्रतकी कालमर्यादा हुई। इसी तरह दूसरे प्रकारोंका हाल है और ये सब घड़ी-घण्टा आदिकी परतन्त्रतासे रहित सामायिककारकी स्वतन्त्रताके द्योतक अतिप्राचीन प्रयोग हैं जिनकी पूरी रूपरेखा आज बहुत कुछ अज्ञात है।

सामायिकके योग्य स्थानादि

एकान्ते सामयिकं निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च।
चैत्यालयेषु वाऽपि च परिचेतव्यं प्रसन्नधिया ॥६॥६६

'वनोंमें, मकानोंमें तथा चैत्यालयोंमें अथवा ('अपि' शब्दसे) अन्य गिरि-गुहादिकोंमें जो निरुपद्रव-निराकुल एकान्त स्थान हो उसमें प्रसन्नचित्तसे स्थिर होकर सामायिकको बढ़ाना चाहिये—पंच पापोंके त्यागमें अधिकाधिक रूपसे दृढता लाना चाहिये।'

व्याख्या—यहाँ '*एकान्ते*' और '*निर्व्याक्षेपे*' ये दो पद खास तौरसे ध्यानमें लेने योग्य हैं और वे इस बातको सूचित करते हैं कि सामायिकके लिये वन, घर या चैत्यालयादिका जो भी स्थान चुनाजाय वह जनसाधारणके आवागमनादि-सम्पर्कसे रहित अलग-थलग हो और साथ ही चींटी, डांस मच्छरादिके उपद्रवों तथा बाहरके कोलाहलों एवं शोरोगुलसे रहित हो, जिससे सामायिकका कार्य निराकुलताके साथ सध सके—उसमें कोई प्रकारका

विक्षेप न पड़े। एक तीसरा महत्वपूर्ण पद यहाँ और भी है और वह है '*प्रसन्नधिया*', जो इस बातको सूचित करता है कि सामायिकका यह कार्य प्रसन्नचित्त होकर बड़े उत्साहके साथ करना चाहिये—ऐसा नहीं कि गिरे मनसे मात्र नियम पूरा करनेकी दृष्टिको लेकर उसे किया जाय, उससे कोई लाभ नहीं होगा, उल्टा अनादरका दोष लगजायगा।

सामायिककी दृढताके साधन

व्यापार-वैमनस्याद्विनिवृत्यामन्तरात्मविनिवृत्या।
सामयिकं बध्नीयादुपवासे चैकभुक्ते† वा ॥१०॥१००॥

'उपवास तथा एकाशनके दिन व्यापार और वैमनस्यसे विनिवृत्ति धारण कर—आरम्भादिजन्य शरीरादिकी चेष्टा और मनकी व्यग्रताको दूर करके—अन्तर्जल्पादि रूप संकल्प-विकल्पके त्याग-द्वारा सामायिकको दृढ करना चाहिये।'

व्याख्या—यहाँ सामायिककी दृढताके कारणोंको स्पष्ट किया गया है। सामायिकमें दृढता तभी लाई जा सकती है जब काय तथा वचनका व्यापार बन्द हो, चित्तकी व्यग्रता—कलुषता मिटे और अन्तरात्मामें अनेक प्रकारके संकल्प-विकल्प उठकर जो अन्तर्जल्प होता रहता है—भीतर ही भीतर कुछ बातचीत चला करती है—वह दूर होवे। अतः इस सब साधन-सामग्रीको जुटानेका पूरा यत्न होना चाहिये। इसके लिये उपवासका दिन ज्यादा अच्छा है और दूसरे स्थानपर एक बार भोजनका दिन है।

प्रतिदिन सामायिककी उपयोगिता

सामयिकं प्रतिदिवसं यथावदप्यनलसेन चेतव्यम्।
व्रतपंचक-परिपूरण-कारणमवधानयुक्तेन ॥११॥१०१॥

† 'चैकभक्ते' इति पाठान्तरम्।

'(न केवल उपवासादि पर्वके दिन ही, किन्तु) प्रतिदिन भी निरालसी और एकाग्रचित्त गृहस्थ श्रावकोंको चाहिये कि वे यथा-विधि सामायिकको बढ़ावें; क्योंकि यह सामायिक अहिंसादि पंचव्रतोंके परिपूरणका—उन्हें अणुव्रतसे महाव्रतत्व प्राप्त करनेका—कारण है।'

व्याख्या—यहाँ पर यह स्पष्ट किया गया है कि सामायिक उपवास तथा एक भुक्तके दिन ही नहीं, बल्कि प्रतिदिन भी की जाती है और करनी चाहिए; क्योंकि उससे अधूरे अहिंसादिक व्रत पूर्णताको प्राप्त होते हैं। उसे प्रतिदिन करनेके लिये निरालस्य और एकाग्रचित्त होना बहुत जरूरी है। इसकी ओर पूरा ध्यान रखना चाहिये।

सामायिकस्थ गृहस्थ मुनिके समान

सामयिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि।
चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावम् * १२॥१०२

'सामायिकमें कृष्यादि आरम्भोंके साथ-साथ सम्पूर्ण बाह्या-भ्यन्तर परिग्रहोंका अभाव होता है इसलिये सामायिककी अवस्था-में गृहस्थ श्रावककी दशा चेलोपसृष्ट मुनि-जैसी होती है। वह उस दिगम्बर मुनिके समान मुनि होता है जिसको किसी भोले भाईने दयाका दुरुपयोग करके वस्त्र ओढ़ा दिया हो और वह मुनि उस वस्त्रको अपने व्रत और पदके विरुद्ध देख उपसर्ग समझ रहा हो।'

व्याख्या—यहाँ सामायिकमें सुस्थित गृहस्थकी दशा बिल्कुल मुनि-जैसी है, इसे भले प्रकार स्पष्ट किया गया है और इसलिए इस व्रतके व्रती श्रावकको कितना महत्व प्राप्त है यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है। अतः श्रावकोंको इस व्रतका यथाविधि आचरण बड़ी ही सावधानी एवं तत्परताके साथ करना चाहिये और उसके

* 'मुनिभावं' इति पाठान्तरम्।

लिए अगली कारिकाओंमें सुझाई हुई बातों पर भी पूरा ध्यान रखना चाहिये। साथ ही यह खूब समझ लेना चाहिये कि सामायिक केवल जाप जपना नहीं है—जैसा कि बहुधा समझा जाता है—, दोनोंमें अन्तर है और वह सामायिक तथा प्रतिक्रमण-पाठोंमें पाए जानेवाले सामायिकव्रतके इस लक्षणात्मक पद्यसे और भी स्पष्ट हो जाता है:—

"समता सर्वभूतेषु संयमः शुभ-भावना।
आर्त-रौद्र-परित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम् ॥"

इसमें सामायिकव्रत उसे बतलाया गया है जिसके आचारमें सब प्राणियोंपर समता-भाव हो—किसीके प्रति राग-द्वेषका वैषम्य न रहे—, इन्द्रियसंयम तथा प्राणिसंयमके रूपमें संयमका पूरा पालन हो, सदा शुभ भावनाएँ बनी रहें—अशुभ भावनाको जरा भी अवसर न मिले—और आर्त्त तथा रौद्र नामके दोनों खोटे ध्यानोंका परित्याग हो। इस आचारको लिये हुए यदि जाप जपा जाता है और विकसित आत्माओंके स्मरणोंसे अपनेको विकासोन्मुख बनाया जाता है तो वह भी सामायिकमें परिगणित है।

सामायिक-समयका कर्त्तव्य

शीतोष्ण दंशमशकं† परीषहमुपसर्गमपि च मौनधराः।
सामयिकं प्रतिपन्ना अधिकुर्वीरन्नचलयोगाः ॥१३॥१०३॥

'सामायिकको प्राप्त हुए—सामायिक मांडकर स्थित हुए—गृहस्थोंको चाहिये कि वे (सामायिक-कालमें) सर्दी-गर्मी डांस-मच्छर आदिके रूपमें जो भी परीषह उपस्थित हो उसको, तथा जो उप-

† 'मशक' इति पाठान्तरम्।

सर्ग आए उसको भी अचलयोग होकर—अपने मन-वचन-कायको डाँवाडोल न करके—मौनपूर्वक अपने अधिकारमें करें—खुशीसे सहन करें, पीड़ाके होते हुए भी घबराहट-बेचैनी या दीनतासूचक कोई शब्द मुखसे न निकालें।'

व्याख्या—यहाँ मौनपूर्वक सामायिकमें स्थित होकर सामायिक-कालमें आए हुए उपसर्गों तथा परीषहोंको समता-भावसे सहन करते हुए जिस अचलयोग-साधनाका गृहस्थोंके लिये उपदेश है वह सब मुनियों-जैसी चर्या है और इसलिए आरम्भ तथा परिग्रहसे विरक्त ऐसे गृहस्थ साधकोंको उस समय मुनि कहना—चेलोपसृष्ट मुनिकी उपमा देना—उपयुक्त ही है।

अशरणमशुभमनित्यं दुःखमनात्मानमावसामि भवम्।
मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायन्तु सामयिके ॥१४॥१०४॥

'सामायिकमें स्थित सभी श्रावक इस प्रकारका ध्यान करें—चिन्तन करें—कि 'मैं चतुर्गति-भ्रमणरूपी जिस संसारमें बस रहा हूँ वह अशरण है—उसमें अपायपरिरक्षक (विनाशसे रक्षा करनेवाला) कोई नहीं है, (अशुभ-कारण-जन्य और अशुभ-कार्यका कारण होनेसे) अशुभ है, अनित्य है, दुःखरूप है और आत्मस्वरूपसे भिन्न है, तथा मोक्ष उससे विपरीत स्वरूपवाला है—वह शरणरूप, शुभरूप, नित्यरूप सुखस्वरूप और आत्मस्वरूप है।'

व्याख्या—यहां सामायिकमें स्थित होकर जिस प्रकारके ध्यानकी बात कही गई है उससे यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि सामायिक कोरा जाप जपना नहीं है। और इसलिये अरहंतादिका नाम वा किसी मन्त्रकी जाप जपनेमें ही सामायिककी इति-श्री मान लेना बहुत बड़ी भूल है, उसे जितना भी शीघ्र हो सके दूर करना चाहिए।

सामायिकव्रतके अतिचार

वाक्कायमानसानां दुःप्रणिधानान्यनादराऽस्मरणे ।
सामयिकस्याऽतिगमा व्यज्यन्ते पञ्च भावेन ॥१५॥१०५॥

'वचनका दुःप्रणिधान (दुष्ट असत् या अन्यथा प्रयोग अथवा परिणमन), कायका दुःप्रणिधान, मनका दुःप्रणिधान, अनादर (अनुत्साह) और अस्मरण (अनैकाग्रता), ये वस्तुतः अथवा परमार्थसे सामायिकव्रतके पाँच अतीचार हैं।'

व्याख्या—सामायिकव्रतका अनुष्ठान मन-वचन-कायको ठीक वशमें रखकर बड़ी सावधानीके साथ उत्साह तथा एकाग्रतापूर्वक किया जाता है, फिर भी दैवयोगसे क्रोधादि किसी कषायके आवेश-वश यदि मन-वचन-कायमेंसे किसीका भी खोटा अनुचित या अन्यथा प्रयोग बन जाय अथवा वैसा परिणमन हो जाय, उत्साह गिर जाय या अपने विषयमें एकाग्रता स्थिर न रह सके तो वही इस व्रतके लिये दोषरूप हो जायगा। उदाहरणके तौर पर एक मनुष्य मौनसे सामायिकमें स्थित है, उसके सामने एकदम कोई भयानक जन्तु सांप, बिच्छू, व्याघ्रादि आजाए और उसे देखते ही उसके मुँहसे कोई शब्द निकल पड़े, शरीरके रोंगटे खड़े हो जायँ, आसन डोल जाय, मनमें भयका संचार होने लगे और उस जन्तुके प्रति-द्वेषकी कुछ भावना जागृत हो उठे अथवा अनिष्टसंयोगज नामका आर्तध्यान कुछ क्षणके लिये अपना आसन जमा बैठे तो यह सब उस व्रतीके लिये दोषरूप होगा।

प्रोषधोपवास-लक्षण

पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु ।
चतुरभ्यवहार्याणां प्रत्याख्यानं सदिच्छाभिः ॥१६॥१०६॥

'चतुर्दशी और अष्टमीके दिन चार अभ्यवहार्योंका—अन्न, पान (पेय), खाद्य और लेह्यरूपसे चार प्रकारके आहारोंका—जो सत् इच्छाओंसे—शुभ संकल्पोंके साथ—त्याग है—उनका सेवन न करना है—उसको 'प्रोषधोपवास' व्रत जानना चाहिये।'

व्याख्या—'पर्वणी' शब्द यद्यपि आमतौर पर पूर्णिमाका वाचक है परन्तु वह यहाँ चतुर्दशीके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है; क्योंकि जैनाम्नायकी दृष्टिसे प्रत्येक मासमें दो अष्टमी और दो चतुर्दशी ऐसे चार दिन आमतौर पर पर्वके माने जाते हैं; जैसा कि आगे प्रोपधोपवास नामक श्रावकपद (प्रतिमा) के लक्षणमें प्रयुक्त हुए '*पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे*' इन पदोंसे भी जाना जाता है। पर्वणीको पूर्णिमा माननेपर पर्व दिन तीन ही रह जाते हैं—दो अष्टमी और एक पूर्णिमा। यहाँ 'पर्वणी' शब्दसे अष्टमीकी तरह दोनों पक्षोंकी दो चतुर्दशी विवक्षित हैं। प्रभाचन्द्राचार्यने भी अपनी टीकामें '*पर्वणि*' पदका अर्थ '*चतुर्दश्यां*' दिया है। '*चतुरभ्यवहार्याणां*' पदका जो अर्थ अन्न, पान, खाद्य, और लेह्य किया गया है वह छठे श्रावकपदके लक्षणमें प्रयुक्त हुए '*अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं' नाश्नाति यो विभावर्याम्*' इस वाक्य पर आधार रखता है।

यहाँ इस व्रतके लक्षणमें एक बात खास तौरसे ध्यानमें रखने योग्य है और वह है '*सदिच्छाभिः*' पदका प्रयोग, जो इस बातको सूचित करता है कि यह उपवास शुभेच्छाओं अथवा सत्संकल्पोंको लेकर किया जाना चाहिये—किसी बुरी भावना, लोकदिखावा अथवा दम्भादिकके असदुद्देश्यको लेकर नहीं, जिसमें किसी पर अनुचित दबाव डालना भी शामिल है।

उपवासके दिन त्याज्य कर्म

पंचानां पपानामलंक्रियाऽऽरम्भ-गन्ध-पुष्पाणाम्।
स्नानाऽञ्जन-नस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात् ॥१७॥१०७

'उपवासके दिन हिंसादिक पांच पापोंका, अलंक्रियाका—वस्त्रालंकारोंसे शरीरकी सजावटका—, कृष्यादि आरम्भोंका, चन्दन इत्र फुलेल आदि गन्धद्रव्योंके लेपनादिका, पुष्पोंके (सूँघने-धारणादिरूप) सेवनका, स्नानका, आँखोंमें अञ्जन आँजनेका और नाकमें दवाई डालकर नस्य लेने अथवा सूँघने का त्याग करना चाहिये।'

व्याख्या—इस कारिकामें उपवासके दिन अथवा समयमें 'क्या नहीं करना' और अगली कारिकामें 'क्या करना' चाहिये इन दोनोंके द्वारा उपवासकी दृष्टि तथा उसकी चर्याको स्पष्ट किया गया है और उनसे यह साफ जाना जाता है कि प्रस्तुत उपवास धार्मिक दृष्टिको लिए हुए है। इसीसे इस कारिकामें पञ्च पापोंके त्यागका प्रमुख उल्लेख है, उसे पहला स्थान दिया गया है और अगली कारिकामें धर्मामृतको बड़ी उत्सुकताके साथ पीने-पिलानेकी बातको प्रधानता दी गई है। और इसलिये जो *उपवास इस दृष्टिसे न किये जाकर किसी दूसरी लौकिक दृष्टि* को लेकर किये जाते हैं—जैसे स्वास्थ्यके लिये लंघनादिक अथवा अपनी बातको किसी दूसरेसे मनवानेके लिये सत्याग्रहके रूपमें प्रचलित अनशनादिक—ये इस उपवासकी कोटिमें नहीं आते।

उपवास-दिवसका विशेष कर्तव्य

धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिवतु पाययेद्वान्यान् ।
ज्ञान-ध्यानपरो वा भवतूपवसन्नतन्द्रालुः ॥१८॥१०८॥

'उपवास करनेवालेको चाहिये कि वह उपवासके दिन निद्रा तथा आलस्यसे रहित हुआ अति उत्कण्ठाके साथ—मात्र दूसरोंके अनुरोधवश नहीं—धर्मामृतको कानोंसे पीवे—धर्मके विशेषज्ञोंसे धर्म को सुने—तथा दूसरोंको—जो धर्मके स्वरूपसे अनभिज्ञ हों या धर्मकी ठीक जानकारी न रखते हों उन्हें—धर्मामृत पिलावे—धर्मचर्चा या शास्त्र

सुनावे—तथा ज्ञान और ध्यानमें तत्पर होवे—शास्त्रस्वाध्याय-द्वारा ज्ञानार्जनमें मनको लगावे अथवा द्वादशानुप्रेक्षाके चिन्तनमें उपयोगको रमावे और धर्मध्यान नामके अभ्यन्तर तपश्चरणमें लीन रहे।'

व्याख्या—उपवास-दिनके विधेय कर्तव्यका निर्देश करते हुए यहाँ अमृतको पीने-पिलानेवाली बात कही गई है, जब कि उपवासमें चारों प्रकारके आहारका त्याग होनेसे उसमें पीना (पान-पेय) भी आजाता है और वह भी त्याज्य ठहरता है; परन्तु यहाँ जिस पीनेका विधान है वह मुखसे पीना नहीं है, बल्कि कानोंसे पीना है और जिस अमृतका पीना है वह दुग्ध-दधि-घृतादिके रूपमें नहीं बल्कि धर्मके रूपमें है—वही धर्म जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपसे इस शास्त्रमें विवक्षित है उसे ही अमृत कहा गया है और इसलिये उस अमृतका पीना त्याज्य नहीं है। उसे तो बड़ी उत्सुकताके साथ पीना चाहिये और दूसरोंको भी पिलाना चाहिये। जिस तृष्णाका अन्यत्र निषेध है उसका धर्मामृतके पीने-पिलानेमें निषेध नहीं है किन्तु विधान है, उसीका सूचक '*सतृष्णः*' पद कारिकामें पड़ा हुआ है जो कि उपवास करनेवालेका विशेषण है। सद्धर्म वास्तवमें सच्चा अमृत है जो जीवात्माको स्थायी सन्तुष्टि एवं शान्ति प्रदान करता हुआ उसे अमृतत्व अर्थात् सदाके लिये अमरत्व या मुक्ति प्रदान कराता है।

धर्मामृतको पीने-पिलानेके अलावा यहाँ उपवासके दिन एक दूसरे खास कर्तव्यका और निर्देश किया गया है और वह है 'ज्ञान-ध्यानमें तत्पर रहना' अर्थात् उपवासका दिन ज्ञान और ध्यानके अभ्यासकी प्रधानताको लिए हुए बिताना चाहिये—उस दिन सविशेष रूपसे स्वाध्याय तथा आत्मध्यानरूप सामायिककी साधनामें उद्यत रहना चाहिये—सामायिकका कार्य उपवास तथा एक भुक्तके दिन अच्छा बनता है यह पहले बतलाया जा चुका

है। इन सभी कर्तव्योंको ठीक पालनेके लिये निद्रा तथा आलस्य-पर विजय प्राप्त करनेकी बड़ी जरूरत है उसीके लिये '*अतन्द्रालुः*' विशेषणका प्रयोग किया गया है। अतः उस पर सदैव दृष्टि रखनी चाहिये।

***चतुराहार-विसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः।**
स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति ॥१९॥१०९॥

'चार प्रकारके आहार-त्यागका नाम उपवास है, एक वार-का भोजन 'प्रोषध' कहलाता है और उपवास करके जो आरम्भ-का आचरण करना है उसे 'प्रोषधोपवास' कहते हैं।'

व्याख्या—यहाँ '*प्रोषधोपवासः*' पदका विश्लेषण करते हुए उसके 'प्रोषध' और 'उपवास' नामके दोनों अंगोंका अलग अलग लक्षण निर्दिष्ट किया गया है और फिर समूचे पदका जुदा ही लक्षण दिया है। इस लक्षण-निर्देशमें 'प्रोषध' शब्दको पर्वपर्यायी न बतलाकर जो एक भुक्तिके अर्थमें ग्रहण किया गया है वह बहुत कुछ चिन्तनीय जान पड़ता है।

---

* इस कारिकाकी स्थिति यहाँ संदिग्ध जान पड़ती है; क्योंकि प्रोषधोपवासका लक्षण कारिका नं० १०६ में दिया जा चुका है और उसके बाद दो कारिकाओंमें उपवास-दिनके त्याज्य तथा विधेयरूप कर्तव्योंका भी निर्देश हो चुका है। तब इस कारिकाका प्रथम तो कुछ प्रसंग नहीं रहता, दूसरे यह कारिका उक्त पूर्ववर्तिनी कारिकाके विरुद्ध पड़ती है, इतना ही नहीं बल्कि श्रावकके चतुर्थपदका निर्देश करनेवाली जो उत्तरवर्तिनी कारिका नं० १४० है उसके भी विरुद्ध जाती है और इस तरह पूर्वापर-विरोधको लिये हुए है। ऐसी स्थितिमें यह ग्रन्थका अंग होनेमें भारी सन्देह उत्पन्न करती है। इस विषयके विशेष विचार एवं ऊहापोहके लिये प्रस्तावनाको देखना चाहिये।

प्रोषधोपवासके अतिचार

ग्रहण-विसर्गाऽऽस्तरणान्यदृष्टमृष्टान्यनादराऽस्मरणे।
यत्प्रोषधोपवास-व्यतिलंघन-पंचकं तदिदम् ॥२०॥११०॥

'(उपवासके दिन भूख-प्याससे पीड़ित होकर शीघ्रतादिवश) जीव-जन्तुको देख-भाल किये विना और विना योग्य रीतिसे झाड़े पोंछे जो किसी चीजका ग्रहण करना—उठाना पकड़ना है—छोड़ना धरना है, आसन-बिछौना करना है तथा उपवास-सम्बन्धी क्रियाओंके अनुष्ठानमें अनादर करना है और एकाग्रताका न होना अथवा उपवास-विधिको ठीक याद न रखना है; यह सब प्रोषधोपवासका अतिचार-पंचक है—इस व्रतके पाँच अतिचारों-का रूप है।

व्याख्या—यहाँ '*अदृष्टमृष्टानि*' पद '*ग्रहण-विसर्गा-ऽऽस्तरणानि*' पदका विशेषण है, उसके प्रत्येक अंगसे सम्बन्ध रखता है और उसी अर्थमें प्रयुक्त हुआ है जिसके लिये तत्त्वार्थसूत्रमें 'अप्रत्य-वेक्षित' और 'अप्रमार्जित' शब्दोंका प्रयोग हुआ है 'अदृष्ट' अप्रत्यवेक्षित (चक्षुसे अनवलोकित) का और 'अमृष्ट' अप्रमा-र्जित (मृदु उपकरणसे प्रमार्जन-रहित) का वाचक है। उपवासके दिन किसी भी वस्तुके ग्रहण-त्यागादिके अवसर पर सबसे पहले यह देखनेकी जरूरत है कि उस ग्रहण-त्यागके द्वारा किसी जीव को बाधा तो नहीं पहुँचती। यदि किसी जीवको बाधा पहुँचना संभव हो तो उसे कोमल उपकरण-द्वारा उस स्थानसे अलग कर देना चाहिये। यही सावधानी रखनेकी इस व्रतके व्रतीके लिये जरूरत है। बाकी 'अनादर' अनुत्साहका और 'अस्मरण' अनै-काग्रताका वाचक है; इन दोनोंको अवसर न मिले और उपवास-का सब कार्य उत्साह तथा एकाग्रताके साथ सम्पन्न होता रहे, इसका यथाशक्य पूरा यत्न होना चाहिये।

वैयावृत्य-लक्षण

दानं वैयावृत्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये ।
अनपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन ॥२१॥१११॥
व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुण-रागात् ।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम् ॥२२॥११२॥

'सम्यग्दर्शनादि गुणोंके निधि गृहत्यागी तपस्वीको, बदलेमें किसी उपचार और उपकारकी अपेक्षा न रखकर, धर्मके निमित्त यथाविभव—विधिद्रव्यादिकी अपनी शक्ति-सम्पत्तिके अनुरूप—जो दान देना है उसका नाम 'वैयावृत्य' है ।'

' (केवल दान ही नहीं किन्तु) गुणानुरागसे संयमियोंकी आपत्तियोंको जो दूर करना है, उनके चरणोंको दबाना है तथा और भी उनका जो कुछ उपग्रह है—उपकार, साहाय्य सहयोग अथवा उनके अनुकूल वर्तन है—वह सब भी 'वैयावृत्य' कहा जाता है ।'

व्याख्या—यहाँ जिनके प्रति दानादिके व्यवहारको 'वैयावृत्य' कहा गया है वे प्रधानतः सम्यग्दर्शनादि गुणोंके निधिस्वरूप वे सकलसंयमी, अगृही तपस्वी हैं जो विषयवासना तथा आशा-तृष्णाके चक्करमें न फँसकर इन्द्रिय-विषयोंकी वाँछा तकके वशवर्ती नहीं होते, आरम्भ तथा परिग्रहसे विरक्त रहते हैं और सदा ज्ञान-ध्यान एवं तपमें लीन रहा करते हैं; जैसा कि इसी शास्त्रकी १०वीं कारिकामें दिये तपस्वीके लक्षणसे प्रकट है । और गौणतासे उनमें उन तपस्वियोंका भी समावेश है जो भले ही पूर्णतः गृहत्यागी न हों किन्तु गृहवाससे उदास रहते हों, भले ही आरम्भ-परिग्रहसे पूरे विरक्त न हों किन्तु कृषि-वाणिज्य तथा मिलोंके संचालनादि-जैसा कोई बड़ा आरम्भ तथा ऐसे महारम्भोंमें नौकरीका कार्य न करते हों और प्रायः आवश्यकताकी पूर्ति-जितना परिग्रह रखते हों। साथ ही, विषयोंमें आसक्त न होकर जो संयमके साथ सादा

जीवन व्यतीत करते हुए ज्ञानकी आराधना, शुभभावोंकी साधना और निःस्वार्थभावसे लोकहितकी दृष्टिको लिये हुए धार्मिक साहित्यकी रचनादिरूप तपश्चर्यामें दिन-रात लीन रहते हों। इसीसे प्रभाचन्द्राचार्यने भी अपनी टीकामें '*संयमिनां*' पदका अर्थ '*देश-सकल-यतीनां*' करते हुए उसमें सकलसंयमी और देशसंयमी दोनों प्रकारके यतियोंका ग्रहण किया है।

इन कारिकाओंमें प्रयुक्त हुए '*धर्माय*', '*अनपेक्षितोपचारोपक्रियं*', '*गुणरागात्*' और '*यावानुपग्रहः*' पद अपना खास महत्त्व रखते हैं। '*यावानुपग्रहः*' पदमें दूसरा सब प्रकारका उपकार, सहयोग, साहाय्य तथा अनुकूलवर्तनादि आजाता है, जिसका इन दोनों कारिकाओं-में स्पष्ट रूपसे उल्लेख नहीं है। उदाहरणके लिये एक संयमी किसी ग्रन्थका निर्माण करना चाहता है उसके लिये आवश्यक विषयोंके ग्रन्थोंको जुटाना, ग्रन्थोंमेंसे अभिलषित विषयोंको खोज निकालने आदिके लिए विद्वानोंकी योजना करना, प्रतिलिपि आदिके लिये लेखकों (क्लर्कों) की नियुक्ति करना और ग्रंथके लिखे जाने पर उसके प्रचारादिकी योग्य व्यवस्था करना, यह सब उस संयमीका आहार-औषधादिके दानसे भिन्न दूसरा उपग्रह है; जैसा कि महाराज अमोघवर्षने आचार्य वीरसेन-जिनसेनके लिये और महाराज कुमारपालने हेमचन्द्राचार्यके लिए किया था। इसी तरह दूसरे सद्गृहस्थों-द्वारा किया हुआ दूसरे विद्वानों एवं साहित्य-तपस्वियोंका अनेक प्रकारका उपग्रह है।

'*धर्माय*' पद दानादिकमें धार्मिकदृष्टिका सूचक है और इस बातको बतलाता है कि दानादिकका जो कार्य जिस संयमीके प्रति किया जाय वह उसके धर्मकी रक्षार्थ तथा उसके द्वारा अपने धर्मकी रक्षार्थ होना चाहिये—केवल अपना कोई लौकिक प्रयोजन साधने अथवा उसकी सिद्धिकी आशासे नहीं। इसी तरह '*गुणरागात्*' पद भी लौकिकदृष्टिका प्रतिषेधक है और इस बातको सूचित

करता है कि वह दान तथा उपग्रह-उपकारादिका अन्य कार्य सिकी लौकिक लाभादिकी दृष्टिको लक्ष्यमें लेकर अथवा किसीके दबाव या आदेशादिकी मजबूरीके वश होकर न होना चाहिये—वैसा होनेसे वह वैयावृत्त्यकी कोटिसे निकल जायगा। वैयावृत्त्यकी साधनाके लिये पात्रके गुणोंमें शुद्ध अनुरागका होना आवश्यक है। रहा *'अनपेक्षितोपचारोपक्रियं'* नामका पद, जो कि दानके विशेषणरूपमें प्रयुक्त हुआ है, इस व्रतकी आत्मा पर और भी विशद प्रकाश डालता है और इस बातको स्पष्ट घोषित करता है कि इस वैयावृत्त्यव्रतके व्रती-द्वारा दानादिके रूपमें जो भी सेवाकार्य किया जाय उसके बदलेमें अपने किसी लौकिक उपकार या उपचारकी कोई अपेक्षा न रखनी चाहिये—वैसी अपेक्षा रखकर किया गया सेवा-कार्य वैयावृत्यमें परिगणित नहीं होगा।

यहाँ पर इतना और भी जान लेना चाहिये कि ग्रन्थकार-महोदयने चतुर्थशिक्षाव्रतको मात्र 'अतिथिसंविभाग' के रूपमें न रख कर उसे जो 'वैयावृत्य' का रूप दिया है वह अपना खास महत्व रखता है और उसमें कितनी ही ऐसी विशेषताओंका समावेश हो जाता है जिनका ग्रहण मात्र अतिथिसंविभागनामके अन्तर्गत नहीं बनता; जैसा कि इस विषयकी दूसरी लक्षणात्मिका कारिका (११२) से प्रकट है, जिसमें दानके अतिरिक्त दूसरे सब प्रकारके उपग्रह-उपकारादिको समाविष्ट किया गया है और इसीसे उसमें देवाधिदेवके उस पूजनका भी समावेश हो जाता है जो दानके कथनानन्तर इस ग्रन्थमें आगे निर्दिष्ट हुआ है और जो इस व्रतका 'अतिथिसंविभाग' नामकरण करने वाले दूसरे ग्रन्थोंमें नहीं पाया जाता।

दान, दाता और पात्र

नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन ।
अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम् ॥२३॥११३॥

'(दातारके) सप्तगुणोंसे युक्त तथा (बाह्य) शुद्धिसे सम्पन्न गृहस्थके द्वारा नवपुण्यों-पुण्यकारणोंके साथ जो सूनाओं तथा आरम्भोंसे रहित साधुजनोंकी प्रतिपत्ति है—उनके प्रति आदर-सत्कार-पूर्वक आहारादिके विनियोगका व्यवहार है—वह दान माना जाता है।'

व्याख्या—जिस दानको १११वीं कारिकामें वैयावृत्त्य बतलाया है उसके स्वामी, साधनों तथा पात्रोंका इस कारिकामें कुछ विशेष रूपसे निर्देश किया है। दानके स्वामी दातारके विषयमें लिखा है कि वह सप्तगुणोंसे युक्त होना चाहिये। दातारके सात गुण श्रद्धा, तुष्टि, भक्ति, विज्ञानता, अलुब्धता, क्षमा और शक्ति हैं, ऐसा दूसरे ग्रन्थोंसे जाना जाता है*। इन गुणोंसे दातारकी अन्तःशुद्धि होती है और इसलिये दूसरे 'शुद्धेन' पदसे बाह्य-शुद्धिका अभिप्राय है, जो हस्तपादादि तथा वस्त्रादिकी शुद्धि जान पड़ती है। दानके साधनों-विधिविधानोंके रूपमें जिन नव पुण्योंका—पुण्योपार्जनके हेतुओंका—यहाँ उल्लेख है वे १ प्रति-ग्रहण, २ उच्चस्थापन, ३ पादप्रक्षालन, ४ अर्चन, ५ प्रणाम, ६ मनःशुद्धि, ७ वचनशुद्धि, ८ कायशुद्धि और एषण (भोजन) शुद्धिके नामसे अन्यत्र उल्लिखित मिलते हैं†।

दानके पात्रोंके विषयमें यह खास तौरसे उल्लेख किया गया है कि वे सूनाओं तथा आरम्भोंसे रहित होने चाहियें। आरम्भों-में सेवा, कृषि, वाणिज्यादि शामिल हैं; जैसा कि इसी ग्रन्थकी

* श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा शक्तिः।
यस्यैते सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति॥

—टीकामें प्रभाचन्द्र-द्वारा उद्धृत

† पडिगहणमुच्चठाणं पादोदकमच्चणं च पणमं च।
मणवयणकायसुद्धी एसणसुद्धी य णवविहं पुण्णं॥

—टीकामें प्रभाचन्द्र-द्वारा उद्धृत

'*सेवा-कृषि-वाणिज्य-प्रमुखादारम्भतो व्युपारमति*' इत्यादि कारिका नं० १४४ से प्रकट है । और 'सूना' वधके स्थानों-ठिकानोंका नाम है और वे खंडिनी (ओखली), पेषिणी (चक्की), चुल्ली (चौका चूल्हा), उदकुम्भी (जलघटी) तथा प्रमार्जनी (बोहारिका) के नामसे पाँच प्रसिद्ध हैं ‡। इससे स्पष्ट है कि वे पात्र सेवा-कृषि-वाणिज्यादि कार्योंसे ही रहित न होने चाहियें बल्कि ओखली, चक्की, चूल्ही, पानी भर कर रखना तथा बुहारी देने-जैसे कामोंको करनेवाले भी न होने चाहिये। ऐसे पात्र प्रायः मुनि तथा ग्यारहवीं प्रतिमाके धारक क्षुल्लक-ऐलक हो सकते हैं।

अतिथि पूजादि-फल

गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम् ।
अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि ॥२४॥११४॥

'जैसे जल रुधिरको धो डालता है वैसे ही गृहत्यागी अतिथियों (साधुजनों) की दानादिरूपसे की गई पूजा-भक्ति भी घरके पंचसूनादि सावद्य-कार्योंके द्वारा संचित एवं पुष्ट हुए पाप-कर्मको निश्चयसे दूर कर देती है।'

व्याख्या—यहाँ '*गृहविमुक्तानां अतिथीनां*' पदोंके द्वारा वे ही गृहत्यागी साधुजन विवक्षित हैं जो पिछली कारिकाओंके अनुसार 'तपोधन' हैं—तपस्वीके उस लक्षणसे युक्त हैं जिसे १० वीं कारिकामें निर्दिष्ट किया गया है, 'गुणनिधि' हैं—सम्यग्दर्शनादि गुणोंकी खान हैं—संयमी हैं—इन्द्रियसंयम-प्राणिसंयमसे सम्पन्न एवं कषायोंका दमन किये हुए है और पंचसूना तथा आरम्भसे विमुक्त है। ऐसे सन्तजनोंकी शुद्ध-वैयावृत्ति निःसन्देह गृहस्थोंके पुञ्जीभूत पाप-मलको धो डालनेमें समर्थ है। प्रत्युत इसके, जो

---

‡ खंडनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भी प्रमार्जनी ।
पंचसूना गृहस्थस्य तेन मोक्षं न गच्छति ॥
—टीकामें प्रभाचन्द्र-द्वारा उद्धृत

साधु इन गुणोंसे रहित हैं, कषायोंसे पीड़ित हैं और दम्भादिकसे युक्त हैं उनकी वैयावृत्ति अथवा भक्ति ऐसे फलको नहीं फलती। वे तो पत्थरकी नौकाके समान होते हैं—आप डूबते और साथमें दूसरोंको भी ले डूबते हैं।

उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा।
भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु ॥२५॥११५॥

'सच्चे तपोनिधि साधुओंमें प्रणामके व्यवहारसे उच्चगोत्रकी, दानके विनियोगसे इन्द्रिय-भोगकी, उपासनाकी योजनासे पूजा-प्रतिष्ठाकी, भक्तिके प्रयोगसे सुन्दर रूपकी और स्तुतिकी सृष्टिसे यशःकीर्तिकी सम्प्राप्ति होती है।'

व्याख्या—यहाँ '*तपोनिधिषु*' पदके द्वारा भी उन्हीं सच्चे तपस्वियोंका ग्रहण है जिनका उल्लेख पिछली कारिकाकी व्याख्यामें किया गया है और जिनके लिये चौथी कारिकामें 'परमार्थ' विशेषण भी लगाया गया है। अतः इस कारिकामें वर्णित फल उन्हींके प्रणामादिसे सम्बन्ध रखता है—दूसरे तपस्वियोंके नहीं।

क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले।
फलतिच्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम् ॥२६॥११६॥

'सत्पात्रको दिया हुआ देहधारियोंका थोड़ा भी दान, सुक्षेत्रमें बोए हुए वटबीजके समान, उन्हें समय पर (भोगोपभोगादिकी प्रचुर सामग्रीरूप) छायाविभवको लिये हुए बहुत इष्ट फलको फलता है।'

व्याख्या—यहाँ प्रणामादि-जैसे छोटेसे भी कार्यका बहुत बड़ा फल कैसे होता है उसे वड़के बीजके उदाहरण-द्वारा स्पष्ट करके बतलाया गया है। और इसलिए पिछली कारिकामें जिस कार्यका जो फल निर्दिष्ट हुआ है उसमें सन्देहके लिए अवकाश नहीं। सत्पात्र-गत होने पर उन कार्योंमें वैसे ही फलकी शक्ति है।

वैयावृत्यके चार भेद

आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन ।
वैयावृत्यं ब्रुवते, चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः ॥२७॥११७॥

'आहार, औषध, उपकरण (पीछी, कमंडलु, शास्त्रादि) और आवास (वस्तिकादि) इन चार प्रकारके दानोंसे वैयावृत्यको विज्ञजन चार प्रकारका बतलाते हैं। अर्थात् आहारदान, औषधिदान, उपकरणदान और आवासदान, ये वैय्यावृत्यके मुख्य चार भेद हैं।'

व्याख्या—लोकमें यद्यपि आहारदान, औषधदान, विद्यादान और अभयदान, ऐसे चार दान अधिक प्रसिद्ध हैं; परन्तु जिन तपस्वियोंको मुख्यतः लक्ष्य करके यहाँ वैय्यावृत्यके रूपमें दानकी व्यवस्था की गई है उनके लिये ये ही चार दान उपयुक्त हैं। उपकरणदानमें शास्त्रका दान आजानेसे विद्यादान सहज ही बन जाता है और भयको वे पहलेसे ही जीते हुए होते हैं, उसमें जो कुछ कसर रहती है वह प्रायः आवासदानसे पूरी हो जाती है।

वैयावृत्यके दृष्टान्त

*** श्रीषेण-वृषभसेने, कौण्डेशः शूकरश्च दृष्टान्ताः ।**
वैयावृत्यस्यैते चतुर्विकल्पस्य मन्तव्याः ॥२८॥११८॥

'(आहारदान, औषधदान, उपकरणदान और आवासदानके भेदसे) चार विकल्परूप वैयावृत्यके (क्रमशः) श्रीषेण, वृषभसेना, कौण्डेश और शूकर ये चार दृष्टान्त जानने चाहियें।'

व्याख्या—आहारदानमें श्रीषेणकी, औषधदानमें वृषभसेनाकी, उपकरणदानमें कौण्डेशकी और आवासदानमें शूकरकी कथाएँ प्रसिद्ध है। ये कथाएँ अनेक ग्रन्थोंमें पाई जाती हैं, यहाँ इनके उदाहृत करनेकी कुछ जरूरत नहीं समझी गई।

---

* यह कारिका जिस स्थितिमें स्थित है उसका विशेष विचार एवं ऊहापोह प्रस्तावनामें किया जा रहा है, वहींसे उसको जानना चाहिये।

देवपूजाका विधान

देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःख-निर्हरणम् ।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम् २६॥११६

'(वैयावृत्त्य नामक शिक्षाव्रतका अनुष्ठान करनेवाले श्रावकको) देवाधिदेव (श्रीअर्हन्तदेव) के चरणोंमें जो कि वांछित फलको देने वाले और काम (इच्छा तथा मदन) को भस्म करने वाले हैं, नित्य ही आदर-सत्कारके साथ पूजा-परिचर्याको वृद्धिगत करना चाहिये, जो कि सब दुःखोंको हरनेवाली है ।

व्याख्या—यहाँ वैयावृत्त्य नामके शिक्षाव्रतमें देवाधिदेव श्रीअर्हन्तदेवकी नित्य पूजा-सेवाका भी समावेश किया गया है। और उसे सब दुःखोंकी हरनेवाली बतलाया गया है। उसके लिए शर्त यह है कि वह आदरके साथ (पूर्णतः भक्तिभाव-पूर्वक) चरणोंमें अर्पितचित्त होकर की जानी चाहिये—ऐसा नहीं कि बिना आदर-उत्साहके मात्र नियमपूर्तिके रूपमें, लोकाचारकी दृष्टिसे, मजबूरीसे अथवा आजीविकाके साधनरूपमें उसे किया जाय। तभी वह उक्त फलको फलती है।

वैय्यावृत्त्यके, दानकी दृष्टिसे; जो चार भेद किये गये हैं उनमें इस पूजा-परिचर्याका समावेश नहीं होता। दान और पूजन दो विषय ही अलग-अलग हैं—गृहस्थोंकी षडावश्यक क्रियाओंमें भी वे अलग-अलग रूपसे वर्णित हैं। इसीसे आचार्य प्रभाचन्द्रने टीकामें दानके प्रकरणको समाप्त करते हुए प्रस्तुत कारिकाके पूर्वमें जो निम्न प्रस्तावना-वाक्य दिया है उसमें यह स्पष्ट बतलाया है कि 'वैय्यावृत्त्यका अनुष्ठान करते हुए जैसे चार प्रकारका दान देना चाहिये वैसे पूजाविधान भी करना चाहिये'—

"यथा वैयावृत्यं विदधता चतुर्विधं दानं दातव्यं तथा पूजाविधानमपि कर्तव्यमित्याह"—

अर्हन्तदेव क्षुधा, तृषा तथा रोग-शोकादिकसे विमुक्त होते हैं—भोजनादिक नहीं लेते, इससे उनके प्रति आहारादिके दानका व्यवहार बनता भी नहीं*। और इसलिए देवाधिदेवके पूजनको दान समझना समुचित प्रतीत नहीं होता।

यहाँ पूजाके किसी रूपविशेषका निर्देश नहीं किया गया। पूजाका सर्वथा कोई एक रूप बनता भी नहीं। पूजा पूज्यके प्रति आदर-सत्काररूप प्रवृत्तिका नाम है और आदर-सत्कारको अपनी अपनी रुचि, शक्ति, भक्ति एवं परिस्थितिके अनुसार अनेक प्रकारसे व्यक्त किया जाता है, इसीसे पूजाका कोई सर्वथा एक रूप नहीं रहता। पूजाका सबसे अच्छा एवं श्रेष्ठरूप पूज्यके अनुकूल वर्तन है—उसके गुणोंका अनुसरण है। इसीको पहला स्थान प्राप्त है।

दूसरा स्थान तदनुकूलवर्तनकी ओर लेजानेवाले स्तवनादिकका है, जिनके द्वारा पूज्यके पुण्यगुणोंका स्मरण करते हुए अपनेको पापोंसे सुरक्षित रखकर पवित्र किया जाता है और इस तरह पूज्यके साक्षात् सामने विद्यमान न होते हुए भी अपना श्रेयोमार्ग सुलभ किया जाता है †। पूजाके ये ही दो रूप ग्रन्थकारमहोदय स्वामी समन्तभद्रको सबसे अधिक इष्ट रहे हैं। उन्होंने अपनेको

* नाऽर्थः क्षुत्तृडविनाशाद्विविधरसयुतैरन्नपानैरशुच्या-
नास्पृष्टेर्गन्ध-माल्यैर्न हि मृदुशयनैर्ग्लानिनिद्राद्यभावात्।
आतंकार्तेरभावे तदुपशमनसद्भेषजानर्थ्यतावद्-
दीपाऽनर्थक्यवद्वा व्यपगततिमिरे दृश्यमाने समस्ते।

—पूज्यपादाचार्य-सिद्धभक्तिः

† जैसा कि स्वयम्भूस्तोत्रके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताऽञ्जनेभ्यः॥५७॥

अर्हन्तोंके अनुकूल वर्तनके साँचेमें ढाला है और स्तुति-स्तवनादि-के वे बड़े ही प्रेमी थे, उसे आत्मविकासके मार्गमें सहायक समझते थे और इसी दृष्टिसे उसमें संलग्न रहा करते थे—न कि किसीकी प्रसन्नता सम्पादन करने तथा उसके द्वारा अपना कोई लौकिक कार्य साधनेके लिये। वे जल-चन्दन-अक्षतादिसे पूजा न करते हुए भी पूजक थे, उनकी द्रव्यपूजा अपने वचन तथा काय-को अन्य व्यापारोंसे हटाकर पूज्यके प्रति प्रणामाञ्जलि तथा स्तुति-पाठादिके रूपमें एकाग्र करनेमें संनिहित थी। यही प्रायः पुरातनों—अतिप्राचीनों—द्वारा की जानेवाली 'द्रव्यपूजा' का उस समय रूप था; जैसा कि अमितगति आचार्यके निम्न वाक्यसे भी जाना जाता है :—

वचोविग्रह-संकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते।
तत्र मानस-संकोचो भावपूजा पुरातनैः॥ —उपासकाचार

ऐसी हालतमें स्वामी समन्तभद्रने 'परिचरण' शब्दका जो प्रस्तुत-कारिकामें प्रयोग किया है उसका आशय अधिकांशमें अनु-कूल वर्तनके साथ-साथ देवाधिदेवके गुणस्मरणको लिये हुए उनके स्तवनका ही जान पड़ता है। साथ ही, इतना जान लेना चाहिये कि देवाधिदेवकी पूजा-सेवामें उनके शासनकी भी पूजा-सेवा सम्मिलित है।

स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय स तदा
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः।
किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायसपथे
स्तुयान्न त्वा विद्वान्सततमभिपूज्यं नमिजिनम्॥११६॥

यहाँ पहले पद्यमें प्रयुक्त हुआ 'पूजा' शब्द निन्दाका प्रतिपक्षी होने से 'स्तुति' का वाचक है और दूसरे पद्यमें प्रयुक्त हुआ 'स्तुयात्' पद 'अभिपूज्यं' पदके साथमें रहनेसे 'पूजा' अर्थका द्योतक है।

अर्हत्पूजा-फल

*अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावं महात्मनामवदत् ।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥३०॥१२०॥

'राजगृह नगरमें हर्षोन्मत्त हुए मेंडकने एक फूलसे अर्हन्तके चरणोंकी पूजाके माहात्म्यको महात्माओंपर प्रकट किया।'

व्याख्या—यहाँ उस मेंडककी पूजा-फल-प्राप्तिका उल्लेख है जिसे अपने पूर्वजन्मका स्मरण (जातिस्मरण) हो आया था और जो वीर भगवान्की पूजाके लिये लोगोंको जाता हुआ देख-सुनकर आनन्द-विभोर हो उठा था और स्वयं भी पूजाके भावसे एक पुष्पको मुखमें दबाकर उछलता कुदकता हुआ जा रहा था कि इतनेमें राजा श्रेणिकके हाथीके पग तले आकर मर गया और पूजाके शुभ भावोंसे मरकर देवलोकमें उत्पन्न हुआ था तथा अपनी उस पूजा-भावनाको चरितार्थ करनेके लिये तुरन्त ही मुकुटमें मेंडक-चिन्ह धारण कर श्रीवीर भगवान्के समवसरणमें पहुँचा था और जिसकी इस पूजा-फल-प्राप्तिकी बातको जानकर बड़े बड़े महात्मा प्रभावित हुए थे।

वैयावृत्यके अतिचार

हरित-पिधान-निधाने ह्यनादराऽस्मरणमत्सरत्वानि ।
वैयावृत्त्यस्यैते व्यतिक्रमाःपंच कथ्यन्ते ॥३१॥१२१॥

इति श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्य-विरचिते समीचीनधर्मशास्त्रे रत्नकरण्डाऽपरनाम्नि उपासकाध्ययने शिक्षाव्रतवर्णनं नाम पंचममध्ययनम् ॥ ५ ॥

हरितपिधान—हरे (सचित्त,अप्रासुक) पत्र-पुष्पादिसे ढकी आहारादि देय वस्तु देना—, हरितपिधान—हरे (अप्रासुक-सचित्त)

* इस कारिकाके सम्बन्धमें भी विशेष विचार प्रस्तावनामें व्यक्त किया गया है।

पत्रादिक पर रक्खी हुई देय वस्तु देना—, अनादरत्व—दानादिकमें अनादरका भाव होना—अस्मरणत्व—दानादिकी विधिमें भूलका हो जाना और मत्सरत्व—अन्य दातारों तथा पूजादिकी प्रशंसाको सहन न करते हुए ईर्षाभावसे दानका देना तथा पूजनादिका करना—; ये निश्चयसे वैयावृत्त्यके पाँच अतिचार (दोष) कहे जाते हैं।'

व्याख्या—यहाँ '*हरितपिधाननिधाने*' पदमें प्रयुक्त हुआ 'हरित' शब्द सचित्त (सजीव) अर्थका वाचक है—मात्र हरियाई अथवा हरे रंगके पदार्थका वाचक वह नहीं है, और इसलिये इस पदके द्वारा जब सचित्त वस्तुसे ढके हुए तथा सचित्त वस्तुपर रक्खे हुए अचित्त पदार्थके दानको दोपरूप बतलाया है तब इससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि अनगार मुनियों तथा अन्य सचित्त-त्यागी संयमियोंको आहारादिकके दानमें सचित्त वस्तुओंका देना निषिद्ध है, न कि अचित्त वस्तुओंका—भले ही वे संस्कार-द्वारा अचित्त क्यों न हुई हों; जैसे हरी तोरीका शाक और गन्ने या सन्तरेका रस।

इस प्रकार श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्य-विरचित समीचीन-धर्मशास्त्र अपरनाम रत्नकरण्ड-उपासकाध्ययनमें शिक्षाव्रतोंका वर्णन नामका पाँचवां अध्ययन समाप्त हुआ ॥३॥

छठा अध्ययन

सल्लेखना-लक्षण

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे ।
धर्माय तनु-विमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥१॥१२२॥

'प्रतीकार (उपाय-उपचार)-रहित असाध्यदशाको प्राप्त हुए उपसर्ग, दुर्भिक्ष, जरा (बुढ़ापा) तथा रोगकी हालतोंमें और (चकारसे) ऐसे ही दूसरे किसी कारणके उपस्थित होने पर* जो **धर्मार्थ**—अपने रत्नत्रयरूप धर्मकी रक्षा—पालनाके लिये—**देहका संत्याग है**—विधिपूर्वक शरीरका छोड़ना है—**उसे आर्य**—गणधरदेव—**'सल्लेखना'**—समाधिमरण—**कहते हैं** ।'

व्याख्या—जिस देहत्याग ('तनुविमोचन') को यहाँ सल्लेखना कहा गया है उसीको अगलीकारिकामें 'अन्तक्रिया' तथा 'समाधि-मरण' के नामसे भी उल्लेखित किया है । मरणका 'समाधि' विशेषण होनेसे वह उस मरणसे भिन्न हो जाता है जो साधारण तौर पर आयुका अन्त आने पर प्रायः सभी संसारी जीवोंके साथ घटित होता है अथवा आयुका अन्त न आने पर भी क्रोधादिकके आवेशमें या मोहसे पागल होकर 'अपघात' (खुदकुशी, Suicide) के रूपमें प्रस्तुत किया जाता है,और जिसमें आत्माकी कोई सावधानी एवं स्वरूप-स्थिति नहीं रहती । समाधि-पूर्वक मरणमें आत्माकी प्रायः पूरी सावधानी रहती है और मोह तथा क्रोधादि-

---

* अण्णं पि चापि एदारिसम्मि अगाढकारणे जादे ।

—भगवती आराधना

कषायोंके आवेशवश कुछ नहीं किया जाता, प्रत्युत उन्हें जीता जाता है तथा चित्तकी शुद्धिको स्थिर किया जाता है और इस-लिये सल्लेखना कोई अपराध, अपघात या खुदकुशी (Suicide) नहीं है। उसका 'अन्तक्रिया' नाम इस बातको सूचित करता है कि वह जीवनके प्रायः अन्तिम भागमें की जाने वाली समीचीन क्रिया है और सम्यक् चारित्रके अन्तमें उसका निर्देश होनेसे इस बातकी भी सूचना मिलती है कि वह सम्यक् चारित्रकी चूलिका-चोटीके रूपमें स्थित एक धार्मिक अनुष्ठान है। इसीसे इस क्रिया-द्वारा जो देहका त्याग होता है वह आत्म-विकासमें सहायक अर्हदादि-पंचपरमेष्ठीका ध्यान करते हुए बड़े यत्नके साथ होता है; जैसा कि कारिका नं० १२८ से जाना जाता है—यों ही विष खाकर, कूपादिमें डूबकर, गोली मारकर या अन्य अस्त्र-शस्त्रादिकसे आघात पहुँचाकर सम्पन्न नहीं किया जाता।

'सत्' और 'लेखना' इन दो शब्दोंसे 'सल्लेखना' पद बना है। 'सत्' प्रशंसनीयको कहते हैं और 'लेखना' कृशीकरण-क्रिया-का नाम है। सल्लेखनाके द्वारा जिन्हें कृश अथवा क्षीण किया जाता है वे हैं काय और कषाय। इसीसे सल्लेखनाके काय-सल्लेखना और कषाय-सल्लेखना ऐसे दो भेद आगममें कहे जाते हैं। यहाँ अन्तःशुद्धिके रूपमें कषाय-सल्लेखनाको साथमें लिये हुए मुख्यतासे काय-सल्लेखनाका निर्देश है, जैसाकि यहाँ '*तनुविमचोनं*' पदसे और आगे '*तनुं त्यजेत्*' (१२८) जैसे पदोंके प्रयोगके साथ आहारको क्रमशः घटानेके उल्लेखसे जाना जाता है।

इस कारिकामें '*निःप्रतीकारे*' और '*धर्माय*' ये दो पद खास तौरसे ध्यान देने योग्य हैं। 'निःप्रतीकार' विशेषण उपसर्ग, दुर्भिक्ष, जरा, रोग इन चारोंके साथ—तथा चकारसे जिस दूसरे सदृश कारणका ग्रहण किया जाय उसके भी साथ—सम्बद्ध है और इस बातको सूचित करता है कि अपने ऊपर आए हुए

चेतन-अचेतन-कृत उपसर्ग तथा दुर्भिक्षादिकको दूर करनेका यदि कोई उपाय नहीं बन सकता तो उसके निमित्तको पाकर एक मनुष्य सल्लेखनाका अधिकारी तथा पात्र है, अन्यथा—उपायके संभव और सशक्य होनेपर—वह उसका अधिकारी तथा पात्र नहीं है।

'धर्माय' पद दो दृष्टियोंको लिये हुए है—एक अपने स्वीकृत समीचीन धर्मकी रक्षा-पालनाकी और दूसरी आत्मीय धर्मकी यथाशक्य साधना-आराधनाकी। धर्मकी रक्षादिके अर्थ शरीरके त्यागकी बात सामान्यरूपसे कुछ अटपटी-सी जान पड़ती है; क्योंकि आमतौरपर *'धर्मार्थकाममोक्षाणां शरीरं साधनं मतम्'* इस वाक्यके अनुसार शरीर धर्मका साधन माना जाता है, और यह बात एक प्रकारसे ठीक ही है; परन्तु शरीर धर्मका सर्वथा अथवा अनन्यतम साधन नहीं है, वह साधक होनेके स्थानपर कभी-कभी बाधक भी हो जाता है। जब शरीरको कायम रखने अथवा उसके अस्तित्वसे धर्मके पालनमें बाधाका पड़ना अनिवार्य हो जाता है तब धर्मकी रक्षार्थ उसका त्याग ही श्रेयस्कर होता है। यही पहली दृष्टि है जिसका यहाँ प्रधानतासे उल्लेख है। विदेशियों तथा विधर्मियोंके आक्रमणादि-द्वारा ऐसे कितने ही अवसर आते हैं जब मनुष्य शरीर रहते धर्मको छोड़नेके लिये मजबूर किया जाता है अथवा मजबूर होता है। अतः धर्मप्राण मानव ऐसे अनिवार्य उपसर्गादिका समय रहते विचारकर धर्म-भ्रष्टतासे पहले ही बड़ी खुशी एवं सावधानीसे उस धर्मको साथ लिये हुए देहका त्याग करते हैं जो देहसे अधिक प्रिय होता है।

दूसरी दृष्टिके अनुसार जब मानव रोगादिकी असाध्यावस्था होते हुए या अन्य प्रकारसे मरणका होना अनिवार्य समझ लेता है तब वह शीघ्रताके साथ धर्मकी विशेष साधना-आराधनाके लिये प्रयत्नशील होता है, किये हुए पापोंकी आलोचना करता

हुआ महाव्रतों तकको धारण करता है और अपने पास कुछ ऐसे साधर्मी-जनोंकी योजना करता है जो उसे सदा धर्ममें सावधान रक्खें, धर्मोपदेश सुनावें और दुःख तथा कष्टके अवसरोंपर कायर न होने देवें। वह मृत्युकी प्रतीक्षामें बैठता है, उसे बुलाने-की शीघ्रता नहीं करता और न यही चाहता है कि उसका जीवन कुछ और बढ़ जाय। ये दोनों बातें उसके लिये दोषरूप होती हैं; जैसा कि आगे इस व्रतके अतिचारोंकी कारिकामें प्रयुक्त हुए '*जीवित-मरणाऽऽशंसे*' पदसे जाना जाता है।

सल्लेखनाकी महत्ता एवं आवश्यकता

आगे इस सल्लेखना अथवा समाधिपूर्वक मरणकी महत्ता एवं आवश्यकताको बतलाते हुए स्वामी समन्तभद्र लिखते हैं :—

अन्तक्रियाधिकरणं † तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ॥२॥१२३॥

' (चूँकि) तपका—अणुव्रत-गुणव्रत-शिक्षाव्रतादिरूप तपश्चर्याका—फल अन्तक्रियाके—सल्लेखना, संन्यास अथवा समाधिपूर्वक मरणके—आधार पर अवलम्बित—समाश्रित—है ऐसा सर्वदर्शी सर्वज्ञदेव ख्यापित करते हैं; इसलिये अपनी जितनी भी शक्ति-सामर्थ्य हो उसके अनुसार समाधिपूर्वक मरणमें-सल्लेखनाके अनुष्ठानमें-प्रयत्नशील होना चाहिये। '

व्याख्या—इस कारिकाका पूर्वार्ध और उसमें भी '*अन्तक्रिया-धिकरणं तपःफलं*' यह सूत्रवाक्य बड़ा ही महत्वपूर्ण है। इसमें बत-लाया है कि 'तपका फल अन्तक्रिया (सल्लेखना) पर अपना आधार रखता है। अर्थात् अन्तक्रिया यदि सुघटित होती है—ठीक समाधिपूर्वक मरण बनता है—तो किये हुये तपका फल भी सुघटित होता है, अन्यथा उसका फल नहीं भी मिलता। अन्त-

† 'अन्तःक्रियाधिकरणं' इति पाठान्तरम्।

क्रियासे पूर्वका वह तप कौनसा है जिसके फलकी बातको यहाँ उठाया गया है ? वह तप अणुव्रत-गुणव्रत और शिक्षाव्रतात्मक चारित्र है जिसके अनुष्ठानका विधान ग्रन्थमें इससे पहले किया गया है। सम्यक् चारित्रके अनुष्ठानमें जो कुछ उद्योग किया जाता और उपयोग लगाया जाता है वह सब 'तप' कहलाता है*। इस तपका परलोक-सम्बन्धी यथेष्ठ फल प्रायः तभी प्राप्त होता है जब समाधिपूर्वक मरण होता है; क्योंकि मरणके समय यदि धर्मानुष्ठानरूप परिणाम न होकर धर्मकी विराधना हो जाती है तो उससे दुर्गतिमें जाना पड़ता है और वहाँ उन पूर्वोपार्जित शुभ-कर्मोंके फलको भोगनेका कोई अवसर ही नहीं मिलता—निमित्तके अभावमें वे शुभकर्म बिना रस दिये ही खिर जाते हैं। एक बार दुर्गतिमें पड़ जानेसे अक्सर दुर्गतिकी परम्परा बन जाती है और पुनः धर्मको प्राप्त करना बड़ा ही कठिन हो जाता है। इसीसे शिवार्यजी अपनी भगवती आराधनामें लिखते हैं कि 'दर्शनज्ञानचारित्ररूप धर्ममें चिरकाल तक निरतिचार प्रवृत्ति करनेवाला मनुष्य भी यदि मरणके समय उस धर्मकी विराधना कर बैठता है तो वह अनन्त संसारी तक हो जाता है' :—

सुचिरमवि णिरदिचारं विहरित्ता णाणदंसणचरित्ते।
मरणे विराधयित्ता अनंतसंसारिओ दिट्ठो ॥१५॥

इन सब बातोंसे स्पष्ट है कि अन्तसमयमें धर्मपरिणामोंकी सावधानी न रखनेसे यदि मरण बिगड़ जाता है तो प्रायः सारे ही किये-कराये पर पानी फिर जाता है। इसीसे अन्त-समयमें परिणामोंको संभालनेके लिये बहुत बड़ी सावधानी रखनेकी

* जैसा कि भगवती आराधनाकी निम्न गाथासे प्रकट है :—
चरणम्मि तम्मि जो उज्जमो य आउंजणा य जो होई।
सो चेव जिणेहिं तवो भणिदो असढं चरंतस्स ॥१०॥

जरूरत है और इसीसे प्रस्तुत कारिकामें इस बात पर जोर दिया गया है कि जितनी भी अपनी शक्ति हो उसके अनुसार समाधि-पूर्वक मरणका पूरा प्रयत्न करना चाहिये।

इन्हीं सब बातोंको लेकर जैनसमाजमें समाधिपूर्वक मरणको विशेष महत्व प्राप्त है। उसकी नित्यकी पूजा-प्रार्थनाओं आदिमें *'दुक्खखओ कम्मखओ समाहिमरणं च बोहिलाहो वि'* जैसे वाक्यों-द्वारा समाधिमरणकी बराबर भावना की जाती है और भगवती आराधना-जैसे कितने ही ग्रन्थ उस विषयकी महती चर्चाओं एवं मरण-समय-सम्बन्धी सावधानताकी प्रक्रियाओंसे भरे पड़े हैं। लोकमें भी 'अन्त समा सो समा' 'अन्त मता सो मता' और 'अन्त भला सो भला' जैसे वाक्योंके द्वारा इसी अन्तक्रियाके महत्वको ख्यापित किया जाता है। यह क्रिया गृहस्थ तथा मुनि दोनोंके ही लिये विहित है।

सल्लेखना-विधि

स्नेहं वैरं संगं परिग्रहं चाऽपहाय शुद्धमनाः।
स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः ॥३॥१२४
आलोच्य सर्वमेनः कृति-कारितमनुमतं च निर्व्याजम्।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम् ॥४॥१२५॥

'(समाधिमरणका प्रयत्न करनेवाले सल्लेखनाव्रतीको चाहिये कि वह) स्नेह (प्रीति, रागभाव), वैर (द्वेषभाव), संग (सम्बन्ध, रिश्ता-नाता) और परिग्रह (धन-धान्यादि बाह्य वस्तुओंमें ममत्वपरिणाम) को छोड़कर शुद्धचित्त हुआ प्रियवचनोंसे स्वजनों तथा परिजनों-को (स्वयं) क्षमा करके उनसे अपनेको क्षमा करावे। और साथ ही स्वयं किये-कराये तथा अपनी अनुमोदनाको प्राप्त हुए सम्पूर्ण पापकर्मकी निश्छल-निर्दोष आलोचना करके पूर्ण महाव्रतको—पाँचों महाव्रतोंको—मरणपर्यन्तके लिये धारण करे।'

व्याख्या—इन दो कारिकाओं तथा अगली दो कारिकाओंमें भी समाधिमरणके लिये उद्यमी सल्लेखनानुष्ठाताके त्यागक्रम और चर्याक्रमका निर्देश किया गया है। यहाँ वह रागद्वेषादिके त्याग-रूपमें कषायसल्लेखना करता हुआ अपने मनको शुद्ध करके प्रिय वचनों द्वारा स्वजन-परिजनोंको उनके अपराधोंके लिये क्षमा प्रदान करता है और अपने अपराधोंके लिये उनसे क्षमाकी याचना करता हुआ उसे प्राप्त करता है। साथ ही, स्वयं करे कराये तथा अपनी अनुमोदनामें आये सारे पापोंकी विना किसी छल-छिद्रके आलोचना करके पूर्ण महाव्रतोंको मरणपर्यन्तके लिये धारण करता है और इस तरह समाधिमरणकी पूरी तय्यारी करता है।

शोकं भयमवसादं क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा।
सत्त्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः ॥५॥१२६॥

'(महाव्रतोंके धारण करनेके बाद) सल्लेखनाके अनुष्ठाताको चाहिये कि वह शोक, भय, विषाद, क्लेश, कलुषता और अरति-को भी छोड़ कर तथा बल और उत्साहको उदयमें लाकर—बढ़ाकर—अमृतोपम आगम-वाक्योंके (स्मरण-श्रवण-चिन्तनादि-) द्वारा चित्तको (बराबर) प्रसन्न रक्खे—उसमें लेशमात्र भी अप्रसन्नता न आने देवे।'

व्याख्या—यहाँ सल्लेखना-व्रतके उस कर्तव्यका निर्देश है जिसे महाव्रतोंके धारण करनेके बाद उसे पूर्ण प्रयत्नसे पूरा करना चाहिये और वह है चित्तको प्रसन्न रखना। चित्तको प्रसन्न रक्खे बिना सल्लेखनाव्रतका ठीक अनुष्ठान बनता ही नहीं। चित्तको प्रसन्न रखनेके लिये प्रथम तो शोक, भय, विषाद, क्लेश, कलुषता और अरतिके प्रसंगोंको अपनेसे दूर रखना होगा—उन्हें चित्तमें भी स्थान देना नहीं होगा। दूसरे, सत्तामें स्थित अपने बल तथा

उत्साहको उदयमें लाकर अपने भीतर बल तथा उत्साहका यथेष्ट संचार करना होगा। साथ ही ऐसा प्रसंग जोड़ना होगा, जिससे अमृतोपम शास्त्र-वचनोंका श्रवण स्मरण तथा चिन्तनादिक बराबर होता रहे; क्योंकि ये ही चित्तको प्रसन्न रखनेमें परम सहायक होते हैं।

आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानम्।
स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत् क्रमशः ॥६॥१२७॥
खरपान-हापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या।
पंचनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन ॥७॥१२८॥

'(साथ ही समाधिमरणका इच्छुक श्रावक) क्रमशः आहारको—कवलाहाररूपभोजनको—घटाकर (दुग्धादिरूप) स्निग्धपानको बढ़ावे, फिर स्निग्धपानको भी घटाकर क्रमशः खरपानको—शुद्ध कांजी तथा उष्ण जलादिको—बढ़ावे। और इसके बाद खरपानको भी घटाकर तथा शक्तिके अनुसार उपवास करके पंचनमस्कारमें—अर्हदादि-पंचपरमेष्ठिके ध्यानमें—मनको लगाता हुआ पूर्ण यत्नसे—व्रतोंके परिपालनमें पूरी सावधानी एवं तत्परताके साथ—शरीरको त्यागे।'

व्याख्या—कषायसल्लेखनाके अनन्तर काय-सल्लेखनाकी विधि–व्यवस्था करते हुए यहाँ जो आहारादिको क्रमशः घटाने तथा स्निग्ध-पानादिको क्रमशः बढ़ानेकी बात कही गई है वह बड़े ही अनुभूत प्रयोगको लिये हुए है। उससे कायके कृश होते हुए भी परिणामोंकी सावधानी बनी रहती है और देहका समाधि-पूर्वक त्याग सुघटित हो जाता है। यहाँ पंचनमस्कारके स्मरण-रूपमें पंचपरमेष्ठियोंका—अर्हन्तों, सिद्धों, आचार्यों, उपाध्यायों और साधु-सन्तोंका—ध्यान करते हुए जो पूर्ण सावधानीके साथ देहके त्यागकी बात कही गई है वह बड़े महत्व की है और इस

अन्तक्रियाके भवन पर कलश चढ़ानेका काम करती है। अन्त-उपवासकी बात शक्तिके ऊपर निर्भर है, यदि शक्ति न हो तो उसे न करनेसे कोई हानि नहीं।

सल्लेखनाके अतिचार

जीवित-मरणाऽऽशंसे* भय-मित्रस्मृति-निदान-नामानः।
सल्लेखनाऽतिचाराः पंच जिनेन्द्रैः समादिष्टाः ॥८॥१२६॥

'जीनेकी अभिलाषा, (जल्दी) मरनेकी अभिलाषा, (लोक-परलोक-सम्बन्धी) भय, मित्रोंकी (उपलक्षणसे स्त्री पुत्रादिकी भी) स्मृति (याद) और भावी भोगादिककी अभिलाषारूप निदान; ये सल्लेखना व्रतके पाँच अतिचार (दोष) जिनेन्द्रोंने—जैन तीर्थंकरोंने (आगममें) बतलाये हैं।'

व्याख्या—जो लोग सल्लेखनाव्रतको अंगीकार कर पीछे अपनी कुछ इच्छाओंकी पूर्तिके लिये अधिक जीना चाहते हैं या उपसर्गादिकी वेदनाओंको समभावसे सहनेमें कायर होकर जल्दी मरना चाहते हैं वे अपने सल्लेखनाव्रतको दोष लगाते हैं। इसी तरह वे भी अपने उस व्रतको दूषित करते हैं जो किसी प्रकारके भय तथा मित्रादिका स्मरणकर अपने चित्तमें उद्वेग लाते हैं अथवा अपने इस व्रतादिके फलरूपमें कोई प्रकारका निदान बाँधते हैं। अतः सल्लेखनाके उन फलोंको प्राप्त करनेके लिये जिनका आगे निर्देश किया गया है इन पाँचों दोषोंमेंसे किसी भी दोषको अपने पास फटकने देना नहीं चाहिये।

धर्माऽनुष्ठान-फल

निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम्।
निष्पबति पीतधर्मा सर्वैर्दुःखैरनालीढः ॥९॥१३०॥

---

* 'मरणाशंसा' इति पाठान्तरम्।

'जिसने धर्म (अमृत) का पान किया है—सम्यक्दर्शन, सम्यग्-ज्ञान, सम्यक्चारित्रका सल्लेखनासहित भले प्रकार अनुष्ठान किया है—वह सब दुःखोंसे रहित होता हुआ उस निःश्रेयसरूप सुख-समुद्रका अनुभव करता है जिसका तीर नहीं—तट नहीं, पार नहीं और इसलिये जो अनन्त है (अनन्तकाल तक रहनेवाला है) तथा उस अभ्युदयरूप सुख-समुद्रका भी अनुभव करता है जो दुस्तर है—जिसको तिरना, उल्लंघन करना कठिन है, और इसलिये जो प्राप्त करके सहजमें ही छोड़ा नहीं जा सकता।'

व्याख्या—यहाँ सल्लेखना-सहित धर्मानुष्ठानके फलका निर्देश करते हुए उसे द्विविधरूपमें निर्दिष्ट किया है—एक फल निःश्रेयस-के रूपमें है, दूसरा अभ्युदयके रूपमें। दोनोंको यद्यपि सुख-समुद्र बतलाया है परन्तु दोनों सुख-समुद्रोंमें अन्तर है और वह अन्तर अगली कारिकाओंमें दिये हुये उनके स्वरूपादिकसे भले प्रकार जाना तथा अनुभवमें लाया जा सकता है। अगली कारिकामें निःश्रेयसको 'निर्वाण' तथा 'शुद्धसुख' के रूपमें उल्लेखित किया है, साथ ही 'नित्य' भी लिखा है और इससे यह स्पष्ट है कि अभ्युदयरूप जो सुख-समुद्र है वह पार-मार्थिक न होकर सांसारिक है—ऊँचेसे ऊँचे दर्जेका लौकिक सुख उसमें शामिल है—परन्तु निराकुलता-लक्षण सुखकी दृष्टिसे वह असली खालिस स्वाश्रित एवं शुद्ध सुख न होकर नकली मिलावटी पराश्रित एवं अशुद्ध सुखके रूपमें स्थित है और सदा स्थिर भी रहनेवाला नहीं है; जबकि निःश्रेयस सुख सदा ज्योंका त्यों स्थिर रहनेवाला है—उसमें विकारके हेतुका मूलतः विनाश हो जानेके कारण कभी किसी विकारकी संभावना तक नहीं है। इसीसे निःश्रेयस सुखको प्रधानता प्राप्त है और उसका कारिकामें पहले निर्देश किया गया है। अभ्युदय सुखका जो स्वरूप १३५ वीं कारिकामें दिया है उससे वह यथेष्ट पूजा, धन,

आज्ञा, बल, परिजन, काम और भोगके अभावमें होनेवाले दुःखोंके अभावका सूचक है, उन्हीं सब दुःखोंका अभाव उसके स्वामीके लिये '*सर्वैदुःखैरनालीढः*' इस वाक्यके द्वारा विहित एवं विवक्षित है। वह अगली कारिकामें दिये हुये जन्म-जरा-रोग और मरणके दुःखोंसे, इष्ट-वियोगादि-जन्य शोकोंसे और अपनेको तथा अपने परिवारादिको हानि पहुँचनेके भयोंसे परिमुक्त नहीं होता; जबकि निःश्रेयस-सुखके स्वामीके लिये इन सब दुःखोंकी कोई सम्भावना ही नहीं रहती और वह पूर्णतः सर्व-प्रकारके दुःखोंसे अनालीढ एवं अस्पृष्ट होता है। ये दोनों फल परिणामों-की गति अथवा प्रस्तुत रागादिपरिणतिकी विशिष्टताके आश्रित हैं।

प्रस्तुत कारिकामें दोनों सुख-समुद्रोंके जो दो अलग अलग विशेषण क्रमशः 'निस्तीर' और 'दुस्तर' दिये हैं वे अपना खास महत्व रखते हैं। जो निस्तीर है उस निःश्रेयस सुख-समुद्रको तिर कर पार जानेकी तो कोई भावना ही नहीं बनती—वह अपने-में पूर्ण तथा अनन्त है। दूसरा अभ्युदय-सुख-समुद्र सतीर होनेसे ससीम है, उसके पार जाकर निःश्रेयस सुखको प्राप्त करनेकी भावना जरूर होती है; परन्तु वह इतना दुस्तर है कि उसमें पड़कर अथवा विषयभोगकी दलदलमें फँसकर निकलना बहुत ही कठिन हो जाता है—विरले मनुष्य ही उसे पार कर पाते हैं।

निःश्रेयस-सुख-स्वरूप

जन्म-जरा-ऽऽमय-मरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम्।
निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम् ॥१०॥१३१॥

'जो जन्म (देहान्तर-प्राप्ति) जरा, रोग, मरण (देहान्तर-प्राप्ति-के लिये वर्तमान देहका त्याग), शोक, दुःख, भय और (चकार या उपलक्षणसे) राग-द्वेष-काम-क्रोधादिकसे रहित, सदा स्थिर रहनेवाला शुद्धसुख-स्वरूप निर्वाण है—सकल विभाव-भावके

अभावको लिये हुए बाधारहित परमनिराकुलतामय स्वाधीन सहजानन्दरूप मोक्ष है—उसे 'निःश्रेयस' कहते हैं।

निःश्रेयससुखप्राप्त-सिद्धोंकी स्थिति

विद्या-दर्शन-शक्ति-स्वास्थ्य-प्रह्लाद-तृप्ति-शुद्धि-युजः ।
निरतिशया निरवधयो निःश्रेयसमावसन्ति सुखम् ॥११॥१३२

'जो विद्या—केवलज्ञान, दर्शन—केवलदर्शन, शक्ति—अनन्तवीर्य, स्वास्थ्य—स्वात्मस्थितिरूप परमौदासीन्य (उपेक्षा), प्रह्लाद—अनन्त-सुख, तृप्ति—विषयाऽनाकांक्षा, और शुद्धि—द्रव्य-भावादि-कर्ममल-रहितता, इन गुणोंसे युक्त हैं, साथ ही निरतिशय हैं—विद्यादि गुणों-में हीनाधिकताके भावसे रहित हैं, और निरवधि हैं—नियत कालकी मर्यादासे शून्य हुए सदा अपने स्वरूपमें स्थिर रहनेवाले हैं, वे (ऐसे सिद्ध जीव) निःश्रेयस-सुखमें पूर्णतया निवास करते हैं।

व्याख्या—यहाँ निःश्रेयस-सुखको प्राप्त होनेवाले सिद्धोंकी अवस्था-विशेषका कुछ निर्देश किया गया है, जिससे उनके निरतिशय और निरवधि होने की बात खास तौरसे ध्यानमें लेने योग्य है और वह इस रहस्यको सूचित करती है कि निःश्रेयस-सुखको प्राप्त होनेवाले सब सिद्ध ज्ञानादिगुणोंकी दृष्टिसे परस्पर समान हैं—उनमें हीनाधिकताका कोई भाव नहीं है—और वे सब ही सदा अपने गुणोंमें स्थिर रहनेवाले हैं—उनके सिद्धत्व अथवा निःश्रेयसत्वकी कोई सीमा नहीं है।

काले कल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या ।
उत्पातोऽपि यदि स्यात् त्रिलोक-संभ्रान्ति-करण-पटुः ॥१३३

'सैकड़ों कल्पकाल बीत जाने पर भी सिद्धोंके विक्रिया नहीं देखी जाती—उनका स्वरूप कभी भी विकारभाव अथवा वैभाविक परिणतिको प्राप्त नहीं होता। यदि त्रिलोकका संभ्रान्ति-कारक—

उसे एकदम उलट पलट कर देनेवाला—कोई महान् असाधारण उत्पात भी हो तब भी उनके विक्रियाका होना संभव नहीं है—वे बराबर अपने स्वरूपमें सदा कालके लिये स्थिर रहते हैं।'

व्याख्या—यहाँ एक ऐसे महान् एवं असाधारण उत्पातकी कल्पना की गई है जिससे तीनलोककी सारी रचना उलट-पलट हो जाय और तीनों लोकोंको पहचाननेमें भारी भ्रम उत्पन्न होने लगे। साथ ही लिखा है कि सैकड़ों कल्पकाल वीत जाने पर ही नहीं किन्तु यदि कोई ऐसा उत्पात भी उपस्थित हो तो उसके अवसर पर भी निःश्रेयस सुखको प्राप्त हुए सिद्धोंमें कोई विकार उत्पन्न नहीं होगा—वे अपने स्वरूपमें ज्योंके त्यों अटल और अडोल बने रहेंगे। कारण इसका यही है कि उनके आत्मासे विकृत होनेका कारण सदाके लिये समूल नष्ट हो जाता है।

निःश्रेयसमधिपन्नास्त्रैलोक्यशिखामणिश्रियं दधते।
निष्किट्टिकालिकाच्छवि-चामीकर-भासुरात्मानः ॥१३॥१३४

'जो निःश्रेयसको—निर्वाणको—प्राप्त होते हैं वे कीट और कालिमासे रहित छविवाले सुवर्णके समान देदीप्यमान आत्मा होते हुए तीन लोकके चूड़ामणि-जैसी शोभाको धारण करते हैं।'

व्याख्या—जिस प्रकार खानके भीतर सुवर्ण-पाषाणमें स्थित सुवर्ण कीट और कालिमासे युक्त हुआ अपने स्वरूपको खोए हुआ-सा निस्तेज बना रहता है। जब अग्नि आदिके प्रयोग-द्वारा उसका वह सारा मल छँटजाता है तब वह शुद्ध होकर देदीप्यमान हो उठता है। उसी प्रकार संसारमें स्थित यह जीवात्मा भी द्रव्यकर्म, भाव कर्म और नोकर्मके मलसे मलिन हुआ अपने स्वरूपको खोए हुआसा निस्तेज बना रहता है। जब सद्व्रतों और सल्लेखनाके अनुष्ठानादि रूप तपश्चरणकी अग्निमें उसका वह सब कर्ममल जलकर अलग हो जाता है तब वह भी अपने स्वरूपका पूर्ण लाभकर देदीप्यमान

हो उठता है, इतना ही नहीं बल्कि त्रैलोक्य-चूडामणिकी शोभाको धारण करता है अर्थात् सर्वोत्कृष्ट पदको प्राप्त करता है।

अभ्युदय-सुख-स्वरूप

पूजार्थाऽऽज्ञैश्वर्यैर्बल-परिजन-काम-भोग-भूयिष्टैः ।
अतिशयित-भुवनमद्भुतमभ्युदयं फलति सद्धर्मः॥१४॥१३५॥

इति श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्य-विरचिते समीचीन-धर्मशास्त्रे रत्नकरण्डाऽपरनाम्नि उपासकाऽध्ययने सल्लेखना-वर्णनं नाम षष्ठमध्ययनम् ॥ ६ ॥

'(सल्लेखनाके अनुष्ठानसे युक्त) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप समीचीनधर्म जिस 'अभ्युदय' फलको फलता है वह पूजा, धन तथा आज्ञाके ऐश्वर्य (स्वामित्व) से युक्त हुआ बल, परिजन, काम तथा भोगकी प्रचुरताके साथ लोकमें अतीव उत्कृष्ट और आश्चर्य-कारी होता है।'

व्याख्या—यहाँ समीचीन धर्मके 'अभ्युदय' फलका सांकेतिक रूपमें कुछ दिग्दर्शन कराया गया है। अभ्युदय फल लौकिक उत्कर्षकी बातोंको लिए हुए है, लौकिकजनोंकी प्रायः साक्षात् अनुभूतिका विषय है और इसलिये उसके विषयमें अधिक लिखने की जरूरत नहीं है; फिर भी '*भूयिष्टैः*' '*अतिशयितभुवनं*' और '*अद्भुतं*' पदोंके द्वारा उसके विषयमें कितनी ही सूचनाएँ कर दी गई हैं और अनेक सूचनाएँ सम्यग्दर्शनके माहात्म्य-वर्णनमें पहले आ चुकी हैं।

इस प्रकार स्वामी समन्तभद्राचार्य-विरचित समीचीन-धर्मशास्त्र-अपरनाम-रत्नकरण्ड-उपासकाध्ययनमें 'सल्लेखना-वर्णन' नामका छठा अध्ययन समाप्त हुआ ॥६॥

सप्तम अध्ययन

श्रावकपदोंमें गुणवृद्धिका नियम

श्रावक-पदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु।
स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह संतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः* ॥१॥१३६

'श्रीतीर्थंकरदेवने—भगवान् वर्द्धमानने—श्रावकोंके पद—प्रतिमा-रूप गुणस्थान—ग्यारह बतलाए हैं, जिनमें अपने-अपने गुणस्थानके गुण पूर्वके सम्पूर्ण गुणोंके साथ क्रम-विवृद्ध होकर रहते हैं—उत्तरवर्ती गुणस्थानोंमें पूर्ववर्ती गुणस्थानोंके सभी गुणोंका होना अनिवार्य (लाज़िमी) है, तभी उस पद गुणस्थान अथवा प्रतिमाके स्वरूपकी पूर्ति होती है।'

व्याख्या—जो श्रावक-श्रेणियाँ आमतौर पर 'प्रतिमा'के नामसे उल्लेखित मिलती हैं उन्हें यहाँ '*श्रावकपदानि*' पदके प्रयोग-द्वारा ख़ासतौरसे 'श्रावकपद' के नामसे उल्लेखित किया गया है और यह पद-प्रयोग अपने विषयकी सुस्पष्टताका द्योतक है। श्रावकके इन पदोंकी आगम-विहित मूल संख्या ग्यारह है—सारे श्रावक ग्यारह दर्जोंमें विभक्त हैं। ये दर्जे गुणोंकी अपेक्षा लिये हुए हैं और इसलिये इन्हें श्रावकीय-गुणस्थान भी कहते हैं। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि चौदह सुप्रसिद्ध गुणस्थानोंमें श्रावकोंसे सम्बन्ध रखने वाला 'देशसंयत' नामका जो पाँचवां गुणस्थान है उसीके ये सब उपभेद हैं। और इसलिये ये एकमात्र

---

* 'क्रमाद्वृद्धाः' इति पाठान्तरम्।

सल्लेखनाके अनुष्ठातासे सम्बन्ध नहीं रखते❀। सल्लेखनाका अनुष्ठान तो प्रत्येक पदमें स्थित श्रावकके लिए विहित है; जैसा कि चारित्रसारके निम्न वाक्यसे भी जाना जाता है—

"उक्तैरुपासकैर्मारणान्तिकी सल्लेखना प्रीत्या सेव्या।"

यहाँ पर एक बात खासतौरसे ध्यानमें रखने योग्य है और वह यह कि वे पद अथवा गुणस्थान गुणोंकी क्रमविवृद्धिको लिये हुए हैं अर्थात् एक पद अपने उस पदके गुणोंके साथमें अपने पूर्ववर्ती पद या पदोंके सभी गुणोंको साथमें लिये रहता है—ऐसा नहीं कि 'आगे दौड़ पीछे चौड़' की नीतिको अपनाते हुए पूर्ववर्ती पद या पदोंके गुणोंमें उपेक्षा धारण की जाय, वे सब उत्तरवर्ती पदके अंगभूत होते हैं—उनके बिना उत्तरवर्ती पद अपूर्ण होता है और इसलिये पदवृद्धिके साथ आगे क़दम बढ़ाते हुए वे पूर्वगुण किसी तरह भी उपेक्षणीय नहीं होते—उनके विषयमें जो सावधानी पूर्ववर्ती पद व पदोंमें रक्खी जाती थी वही उत्तरवर्ती पद या पदोंमें भी रक्खी जानी चाहिये।

दर्शनिक-श्रावक-लक्षण

सम्यग्दर्शनशुद्धः संसार-शरीर-भोग-निर्विण्णः।
पंचगुरु-चरण-शरणो दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः ॥१॥१३७॥

'जो सम्यग्दर्शनसे शुद्ध है अथवा निरतिचार-सम्यग्दर्शनका धारक है, संसारसे शरीरसे तथा भोगोंसे विरक्त है—उनमें आसक्ति नहीं रखता—पंचगुरुओंके चरणोंकी शरणमें प्राप्त है—अर्हन्तादि पंचपरमेष्ठियोंके पदों, पद-वाक्यों अथवा आचारोंको अपाय-परिरक्षकके रूपमें अपना आश्रयभूत समझता हुआ उनका भक्त बना

❀ इस सम्बन्धकी बातको टीकाकार प्रभाचन्द्रने अपने निम्न प्रस्तावना-वाक्यके द्वारा प्रयुक्त किया है—

'साम्प्रतं योऽसौ सल्लेखनाऽनुष्ठाता तस्य कति प्रतिमा भवन्तीत्याशंक्याह'—

हुआ है—और जो तत्त्वपथकी ओर आकर्षित है—सम्यग्दर्शनादि-रूप सन्मार्गकी अथवा तत्त्वरूप अनेकान्त† और मार्गरूप 'अहिंसा' दोनों-के पक्षको लिए हुए है—वह 'दर्शनिक' नामका (प्रथमपद या प्रतिमाका धारक) श्रावक है।'

व्याख्या—जिस सम्यग्दर्शनकी शुद्धिका यहाँ उल्लेख है वह प्रायः उसी रूपमें यहाँ विविक्षित है जिस रूपमें उसका वर्णन इस ग्रन्थके प्रथम अध्ययनमें किया गया है और इसलिए उसकी पुनरावृत्ति करनेकी जरूरत नहीं है । पूर्व-कारिकामें यह कहा गया है कि प्रत्येक पदके गुण अपने पूर्वगुणोंको साथमें लिये रहते हैं । इस पदसे पूर्व श्रावकका कोई पद है नहीं, तब इस पदसे पूर्वके गुण कौनसे ? वे गुण चतुर्थ-गुणस्थानवर्ती 'अव्रतसम्यग्दृष्टि' के गुण हैं, उन्हींका द्योतन करनेके लिये प्रारम्भमें ही '*सम्यग्दर्शनशुद्धः*' इस पदका प्रयोग किया गया है। जो मनुष्य सम्यग्दर्शनसे युक्त होता है उसकी दृष्टिमें विकार न रहनेसे वह संसारको, शरीरको और भोगोंको उनके यथार्थ रूपमें देखता है और जो उन्हें यथार्थ रूपमें देखता है वही उनमें आसक्ति न रखनेके भावको अपना सकता है। उसी भावको अपनानेका यहाँ इस प्रथमपद-धारी श्रावकके लिये विधान है। उसका यह अर्थ नहीं है कि वह एक दम संसार देह तथा भोगोंसे विरक्ति धारण करके वैरागी बन जाय, बल्कि यह अर्थ है कि वह उनसे सब प्रकारका सम्पर्क रखता और उन्हें सेवन करता हुआ भी उनमें आसक्त न होवे—सदा ही अनासक्त रहनेका प्रयत्न तथा अभ्यास करता रहे। इसके लिये वह समय समय पर अनेक नियमोंको ग्रहण कर लेता है, उन बारह व्रतोंमें से भी किसी-किसीका अथवा सबका खण्डशः अभ्यास करता है जिनका

† "तत्त्वं त्वनेकान्तमशेषरूपं" (युक्त्यनुशासन)
"एकान्तदृष्टिप्रतिषेधि तत्त्वं" (स्वयम्भूस्तोत्र) —इति समन्तभद्रः

निरतिचार पालन उसे अगले पदमें करना है और इस तरह वह अपनी आत्मशक्तिको विकसित तथा स्थिर करनेका कुछ उपाय इस पदमें प्रारम्भ कर देता है। दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि वह नियमित रूपसे मांसादिके त्यागरूपमें मूलगुणोंका धारण-पालन शुरू कर देता है जिनका कथन इस ग्रन्थमें पहले किया जा चुका है और यह सब *'संसार शरीर-भोग-निर्विण्णः'* और *'पंच-गुरु-चरण-शरणः'* इन दोनों पदोंके प्रयोगसे साफ ध्वनित होता है। पंचगुरुओंमें अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाँच आगमविहित परमेष्ठियोंका अर्थात् धर्मगुरुओंका समावेश है—माता-पितादिक लौकिक गुरुओंका नहीं। 'चरण' शब्द आम-तौर पर पदों–पैरोंका वाचक है, पद शरीरके निम्न (नीचेके) अंग होते हैं, उनकी शरणमें प्राप्त होना शरण्यके प्रति अति-विनय तथा विनम्रताके भावका द्योतक है। चरणका दूसरा प्रसिद्ध अर्थ 'आचार' भी है, जैसा कि इसी ग्रन्थके तृतीय अध्ययनमें प्रयुक्त हुए *'रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः'* *'सकलं विकलं चरणं'* और *'अणु-गुण-शिक्षा-व्रतात्मकं चरणं'* इन वाक्योंके प्रयोगसे जाना जाता है। आचारमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य ऐसे पांच प्रकारका आचार शामिल है ‡ अपने अपने आचार-विशेषोंके कारण ही ये पंचगुरु हमारे पूज्य और शरण्य हैं अतः इन पंचगुरुओंके आचारको अपनाना—उसे यथाशक्ति अपने जीवनका लक्ष्य बनाना—ही वस्तुतः पंचगुरुओंकी शरणमें प्राप्त होना है। पदोंका आश्रय तो सदा और सर्वत्र मिलता भी नहीं, आचारका आश्रय, शरण्यके सम्मुख मौजूद न होते हुए भी, सदा और सर्वत्र लिया जा सकता है। अतः चरणके दूसरे अर्थकी दृष्टिसे पंचगुरुओंकी शरणमें प्राप्त होना अधिक महत्व

---

‡ दंसण-णाण-चरित्ते तव्वे विरियाचरम्हि पंचविहे।

—मूलाचार ५-२

रखता है। जो जिन-चरणकी शरणमें प्राप्त होता है उसके लिये मद्य-मांसादिक वर्जनीय हो जाते हैं; जैसा कि इसी ग्रन्थमें अन्यत्र (का० ८४) '.........*मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः*' इस वाक्यके द्वारा व्यक्त किया गया है।

इस पदधारीके लिये प्रयुक्त हुआ '*तत्त्वपथगृह्यः*' विशेषण और भी महत्वपूर्ण है और वह इस बातको सूचित करता है कि यह श्रावक सन्मार्गकी अथवा अनेकान्त और अहिंसा दोनोंकी पक्षको लिए हुए होता है। ये दोनों ही सन्मार्गके अथवा जिन-शासनके दो चरण हैं।

व्रतिक-श्रावक-लक्षण

निरतिक्रमणमणुव्रत-पंचकमपि शीलसप्तकं चाऽपि।
धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः॥३॥१३८॥

'जो श्रावक निःशल्य (मिथ्या, माया और निदान नामकी तीनों शल्योंसे रहित) हुआ बिना अतीचारके पांचों अणुव्रतों और साथ ही सातों शीलव्रतोंको भी धारण करता है वह व्रतियों—गणधरादिक देवों—के द्वारा 'व्रतिक' पदका धारक (द्वितीय श्रावक) माना गया है।'

व्याख्या—यहाँ '*शीलसप्तकं*' पदके द्वारा तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतोंका ग्रहण है—दोनों प्रकारके व्रतोंके लिए संयुक्त एक संज्ञा 'शील' है और 'सप्तक' शब्द उन व्रतोंकी मिली-जुली संख्याका सूचक है। तत्त्वार्थसूत्रमें भी '*व्रत-शीलेषु पंच पंच यथाक्रमं*' इस सूत्रके द्वारा इन सातों व्रतोंकी 'शील' संज्ञा दी गई है। इन सप्त शीलव्रतों और पंच अणुव्रतोंको, जिनका अतीचार-सहित वर्णन इस ग्रन्थमें पहले किया जा चुका है, यह द्वितीय श्रावक निरतिचाररूपसे धारण-पालन करता है। इन बारह व्रतों और उनके साठ अतीचारोंका विशेष वर्णन इस ग्रन्थमें पहले किया

जा चुका है, उसको फिरसे यहाँ देनेकी जरूरत नहीं है। यहाँ पर इतना ही समझ लेना चाहिये कि इस पद (प्रतिमा) के पूर्वमें जिन बारह व्रतोंका सातिचार-निरतिचारादिके यथेच्छ रूपमें खण्डशः अनुष्ठान या अभ्यास चला करता है वे इस पदमें पूर्णताको प्राप्त होकर सुव्यवस्थित होते हैं।

यहाँ '*निःशल्यो*' पद खास तौरसे ध्यानमें लेने योग्य है और इस बातको सूचित करता है कि व्रतिकके लिये निःशल्य होना अत्यन्त आवश्यक है। जो शल्यरहित नहीं वह व्रती नहीं—व्रतोंके वास्तविक फलका उपभोक्ता नहीं हो सकता। तत्त्वार्थसूत्रमें भी '*निःशल्यो व्रती*' सूत्रके द्वारा ऐसा ही भाव व्यक्त किया गया है। शल्य तीन हैं—माया, मिथ्या और निदान। 'माया' वंचना एवं कपटाचारको कहते हैं, 'मिथ्या' दृष्टिविकार अथवा तत्तद्-विषयक तत्त्व-श्रद्धाके अभावका नाम है और 'निदान' भावी भोगादिकी आकांक्षाका द्योतक है। ये तीनों शल्यकी तरह चुभने वाली तथा बाधा करने वाली चीजें हैं, इसीसे इनको 'शल्य' कहा गया है। व्रतानुष्ठान करनेवालेको अपने व्रतविषयमें इन तीनोंसे ही रहित होना चाहिये; तभी उसका व्रतानुष्ठान सार्थक हो सकता है। केवल हिंसादिकके त्यागसे ही कोई व्रती नहीं बन सकता, यदि उसके साथ मायादि शल्यें लगी हुई हैं।

सामयिक-श्रावक-लक्षण

चतुरावर्त-त्रितयश्चतुःप्रणामः स्थितो यथाजातः ।
सामयिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसंध्यमभिवन्दी ॥४॥१३६॥

'जो श्रावक (आगम-विहित समयाचारके अनुसार) तीन तीन आवर्तोंके चार वार किये जानेकी, चार प्रणामोंकी, ऊर्ध्व कायोत्सर्गकी तथा दो निषद्याओं (उपवेशनों)की व्यवस्थासे व्यवस्थित और यथाजातरूपमें—दिगम्बरवेषमें अथवा बाह्याभ्यन्तर-परिग्रहकी

चिन्तासे विनिवृत्तिकी अवस्थामें—स्थित हुआ मन-वचन-कायरूप तीनों योगोंकी शुद्धि-पूर्वक तीनों संध्याओं (पूर्वान्ह, मध्यान्ह, अपरान्ह) के समय वन्दना-क्रिया करता है वह 'सामयिक' नामका—तृतीयप्रतिमाधारी—श्रावक है।'

व्याख्या—यहाँ आगम-विहित कुछ समयाचारका सांकेतिक रूपमें उल्लेख है,जो आवर्तों, प्रणामों, कायोत्सर्गों तथा उपवेशनों आदिसे संबद्ध है, जिनकी ठीक विधिव्यवस्था विशेषज्ञोंके द्वारा ही जानी जा सकती है। श्रीप्रभाचन्द्राचार्यने टीकामें जो कुछ सूचित किया है उसका सार इतना ही है कि एक एक कायोत्सर्ग-के विधानमें जो *'णमो अरहंताणं'* इत्यादि सामायिक-दण्डक और *'थोस्सामि'* इत्यादि स्तव-दण्डककी व्यवस्था है उन दोनोंके आदि और अन्तमें तीन तीन आवर्तोंके साथ एक एक प्रणाम किया जाता है, इस तरह बारह आवर्त और चार प्रणाम करने होते हैं। साथ ही, देववन्दनाके आदि तथा अन्तमें जो दो उप-वेशन क्रियाएँ की जाती हैं उनमें एक नमस्कार प्रारम्भकी क्रियामें और दूसरा अन्तकी क्रियामें बैठकर किया जाता है। इसे पं० आशाधरजीने मतभेदके रूपमें उल्लेखित करते हुए यह प्रकट किया है कि स्वामी समन्तभद्रादिके मतसे वन्दनाकी आदि और समाप्तिके इन दो अवसरों पर दो प्रणाम बैठ कर किये जाते हैं और इसके लिये प्रभाचन्द्रकी टीकाका आधार व्यक्त किया है ❀।

❀ 'मतान्तरमाह—मते इष्टे, के द्वे नती। कै: कैश्चित् स्वामिसमन्त-भद्रादिभि:। कस्मान्नमनात् प्रणमनात्। किं कृत्वा ? निविश्य उप-विश्य। कयो: ? वन्दनाद्यन्तयोर्वन्दनाया: प्रारम्भे समाप्तौ च। यथाहुस्तत्र भगवन्त: श्रीमत्प्रभेन्दुदेवपादा रत्नकरण्डक-टीकायां 'चतु-रावर्तत्रितय' इत्यादिसूत्रे द्विनिषद्य इत्यस्य व्याख्याने "देववन्दनां कु-र्वता हि प्रारम्भे समाप्तौ चोपविश्य प्रणाम: कर्तव्य इति'।

—अनगारधर्मामृत-टीका पृ० ६०८

इस तरह यह जाना जाता है कि चारों दिशाओंमें तीन तीन आवर्तोंके साथ एक एक प्रणामकी जो प्रथा आजकल प्रचलित है वह टीकाकार प्रभाचन्द्रके मतसे स्वामिसमन्तभद्र-सम्मत नहीं है।

दोनों हाथोंको मुकलित करके—कमल-कलिकादिके रूपमें स्थापित करके—जो उन्हें प्रदक्षिणाके रूपमें तीन वार घुमाना है उसे आवर्तत्रितय (तीन वार आवर्त करना) कहते हैं। यह आवर्तत्रितयकर्म, जो वन्दनामुद्रामें कुहनियोंको उदर पर रख कर किया जाता है, मन-वचन-कायरूप तीनों योगोंके परावर्तनका सूचक है ❋ और परावर्तन योगोंकी संयतावस्थाका द्योतक शुभ व्यापार कहलाता है, ऐसा पं० आशाधरजीने प्रकट किया है †। ऐसी हालतमें 'आवर्तत्रितय' पदका प्रयोग वन्दनीयके प्रति भक्ति-भावके चिन्हरूपमें तीन प्रदक्षिणाओंका द्योतक न होकर त्रियोग-शुद्धिका द्योतक है ऐसा फलित होता है। परन्तु '*त्रियोगशुद्धः*' पद तो इस कारिकामें अलगसे पड़ा हुआ है, फिर दो बारा त्रियोग-शुद्धिका द्योतन कैसा ? इस प्रश्नके समाधानरूपमें कुछ विद्वानों का कहना है कि "आवर्तत्रितयमें निहित मन-वचन-काय-शुद्धि कृतिकर्मकी अपेक्षासे है और यहाँ जो त्रियोग-शुद्धः पदसे मन-वचन-कायकी शुद्धिका उल्लेख किया है वह सामायिककी अपेक्षा से है।" परन्तु कृतिकर्म (कर्मछेदनोपाय) तो सामायिकका अंग है और उस अंगमें द्वादशावर्तसे भिन्न त्रियोगशुद्धिको अलगसे गिनाया गया है ‡ तब '*त्रियोगशुद्धः*' पदके वाच्यको उससे अलग

❋ कथिता द्वादशावर्ता वपुर्वचनचेतसां।
स्तव-सामायिकाद्यन्तपरावर्तनलक्षणाः ॥ —अमितगतिः

† शुभयोग-परावर्तानावर्तान् द्वादशाद्यन्ते।
साम्यस्य हि स्तवस्य च मनोङ्गगीः संयतं परावर्त्यम् ॥

‡ द्विनिषण्णं यथाजातं द्वादशावर्तमित्यपि।
चतुर्नति त्रिशुद्धं च कृतिकर्म प्रयोजयेत् । —चारित्रसार

कैसे किया जा सकता है ? यह एक समस्या खड़ी होती है और इस बातको माननेकी ओर अधिक झुकाव होता है कि 'आवर्त-त्रितय' पद तीन प्रदक्षिणाओंका द्योतक है, जिनमें एक मनसे, दूसरी वचनसे और तीसरी कायसे सम्बन्ध रखती है तथा तीनों मिलकर त्रियोगकी प्रवृत्तिको पूज्यके अनुकूल बने रहनेके भावको सूचित करती हैं। अस्तु।

'यथाजातः' पद भी यहाँ विचारणीय है। आम तौर पर जैन परिभाषाके अनुसार इसका अर्थ जन्म-समयकी अवस्था-जैसा नग्न-दिगम्बर होता है; परन्तु आचार्य प्रभाचन्द्रने टीकामें *'बाह्या-भ्यन्तरपरिग्रहचिन्ताव्यावृत्तः'* पदके द्वारा इसका अर्थ 'बाह्य तथा अभ्यंतर दोनों प्रकारके परिग्रहोंकी चिन्तासे विमुक्त' बतलाया है और आजकल प्रायः इसीके अनुसार व्यवहार चल रहा है। परि-स्थितिवश पं०आशाधरजीने भी इसी अर्थको ग्रहण किया है।

इस सामायिक पदमें,सामायिक-शिक्षाव्रतका वह सब आचार शामिल है जो पहले इस ग्रन्थमें बतलाया गया है। वहाँ वह शीलके रूपमें है तो यहाँ उसे स्वतन्त्र व्रतके रूपमें व्यवस्थित समझना चाहिये।

प्रोषधाऽनशन-लक्षण

पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य।
प्रोषध-नियम-विधायी प्रणधिपरः प्रोषधाऽनशनः ॥१४०॥

'प्रत्येक मासके चारों ही पर्व-दिनोंमें—प्रत्येक अष्टमी-चतुर्दशीको—जो श्रावक, अपनी शक्तिको न छिपाकर, शुभ ध्यानमें रत हुआ एकाग्रताके साथ प्रोषधके नियमका विधान करता अथवा नियम-से प्रोषधोपवास धारण करता है वह 'प्रोषधोपवास' पदका धारक (चतुर्थ श्रावक) होता है।

व्याख्या—द्वितीय 'व्रतिक' पदमें प्रोषधोपवासका निरतिचार विधान, आ गया है तब उसीको पुनः एक अलग पद (प्रतिमा)

के रूपमें यहाँ रखना क्या अर्थ रखता है ? यह एक प्रश्न है। इसका समाधान इतना ही है कि प्रथम तो व्रत-प्रतिमामें ऐसा कोई नियम नहीं है कि प्रत्येक मासकी अष्टमी-चतुर्दशीको यह उपवास किया ही जावे—वह वहाँ किस महीनेमें अथवा किसी महीनेके किसी पर्व-दिनमें स्वेच्छासे नहीं भी किया जा सकता है; परन्तु इस पदमें स्थित होने पर, शक्तिके रहते, प्रत्येक महीनेके चारों ही पर्व-दिनोंमें नियमसे उसे करना होता है—केवल शक्तिका वास्तविक अभाव ही उसके न करने अथवा अधूरे रूपसे करनेमें यहाँ एकमात्र कारण हो सकता है। दूसरे वहाँ (दूसरी प्रतिमामें) वह शीलके रूपमें—अणुव्रतोंकी रक्षिका परिधि (बाड़) की अवस्थामें—स्थित है और यहाँ एक स्वतन्त्र व्रतके रूपमें(स्वयं शस्यके समान रक्षणीयस्थितिमें) परिगणित है। यही दोनों स्थानोंका अन्तर है।

कवि राजमल्लजीने 'लाटीसंहिता' में अन्तरकी जो एक बात यह कही है कि दूसरी प्रतिमामें यह व्रत सातिचार है और यहाँ निरतिचार है (*'सातिचारं च तत्र स्यादत्राऽतीचार-वर्जितं'*) वह स्वामी समन्तभद्रकी दृष्टिसे कुछ संगत मालूम नहीं होती; क्योंकि उन्होंने दूसरी प्रतिमामें *'निरतिक्रमणं'* पदको अलगसे *'अणुव्रतपंचकं'* और *'शीलसप्तकं'* इन दोनों पदोंके विशेषणरूपमें रक्खा है और उसके द्वारा अणुव्रतोंकी तरह सप्तशीलोंको भी निरतिचार बतलाया है। यदि व्रतप्रतिमामें शीलव्रत निरतिचार नहीं है तो फिर देशावकाशिक, वैयावृत्य और गुणव्रतोंकी भी निरतिचारता कहाँ जाकर सिद्ध होगी ?—कोई भी पद (प्रतिमा) उनके विधान को लिए हुए नहीं है। पं० आशाधरजीने भी व्रतप्रतिमामें बारह व्रतोंको निरतिचार प्रतिपादन किया है †।

---

† यथा—'धारयन्नुत्तरगुणानक्षूणान्व्रतिको भवेत्।'
टीका—अक्षूणान् निरतिचारान्।

उपवासके दिन जिन कार्योंके न करनेका तथा जिन कार्योंके करनेका विधान इस ग्रन्थमें शिक्षाव्रतोंका वर्णन करते हुए किया गया है उनका वह विधि-निषेध यहाँ भी '*प्रोषध-नियम-विधायी*' पदके अंतर्गत समझना चाहिये।

सचित्तविरत-लक्षण

मूल-फल-शाक-शाखा-करीर-कन्द-प्रसून-बीजानि ।
नाऽऽमानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः ॥१४१

'जो दयालु (गृहस्थ) मूल, फल, शाक, शाखा (कोंपल) करीर (गांठ-कैरों) कन्द, फूल और बीज, इनको कच्चे (अनग्नि-पक्व आदि अप्रासुक दशामें) नहीं खाता वह 'सचित्तविरत' पदका—पांचवीं प्रतिमाका—धारक श्रावक होता है।'

व्याख्या—यहाँ '*आमानि*' और '*न अत्ति*' ये दो पद खास तौरसे ध्यानमें लेने योग्य हैं। '*आमानि*' पद अपक्व एवं अ-प्रासुक अर्थका द्योतक है और '*न अत्ति*' पद भक्षणके निषेधका वाचक है, और इसलिये वह निषेध उन अप्रासुक (सचित्त) पदार्थोंके एकमात्र भक्षणसे सम्बन्ध रखता है—स्पर्शनादिकसे नहीं † जिनका इस कारिकामें उल्लेख है। वे पदार्थ वानस्पतिक हैं, जलादिक नहीं और उनमें कन्द-मूल भी शामिल हैं। इससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि ग्रन्थकारमहोदय स्वामी समन्तभद्रकी दृष्टिमें यह श्रावकपद (प्रतिमा) अप्रासुक वनस्पतिके भक्षण-त्याग तक सीमित है, उसमें अप्रासुकको प्रासुक करने और प्रासुक वनस्पतिके भक्षणका निषेध नहीं है। '*प्रासुकस्य भक्षणे नो पापः*' इस उक्तिके अनुसार प्रासुक (अचित्त) के भक्षणमें कोई पाप भी

† भक्षणेऽत्र सचित्तस्य नियमो न तु स्पर्शने ।
तत्स्वहस्तादिना कृत्वा प्रासुकं चाऽत्र भोजयेत् ॥
—लाटीसंहिता ७-१७

नहीं होता। अप्रासुक कैसे प्रासुक बनता अथवा किया जाता है इसका कुछ विशेष वर्णन ८५ वीं कारिकाकी व्याख्यामें किया जा चुका है।

रात्रिभोजनविरत-लक्षण

अन्नं पानं खाद्यं ‡ लेह्यं नाऽश्नाति यो विभावर्याम् ।
स च रात्रिभुक्तविरतः * सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः ॥१४२॥

'जो श्रावक रात्रिके समय अन्न—अन्न तथा अन्नादिनिर्मित या विमिश्रित भोजन-पान-जल-दुग्ध-रसादिक, खाद्य—अन्नभिन्न दूसरे खानेके पदार्थ जैसे पेड़ा, बर्फी, लौजात, पाक, मेवा, फल, मुरब्बा इलायची, पान, सुपारी आदि; और लेह्य—चटनी, शर्बत, रबड़ी आदि (इन चार प्रकारके भोज्य पदार्थों) को नहीं खाता है वह प्राणियोंमें दयाभाव रखनेवाला 'रात्रिभुक्तविरत' नामके छठे पदका धारक श्रावक होता है।'

व्याख्या—यहाँ '*सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः*' पदका जो प्रयोग किया गया है वह इस व्रतके अनुष्ठानमें जीवों पर दयादृष्टिका निर्देशक है; और '*सत्त्वेषु*' पद चूंकि बिना किसी विशेषणके प्रयुक्त हुआ है इसलिए उसमें अपने जीवका भी समावेश होता है। रात्रिभोजनके त्यागसे जहाँ दूसरे जीवोंकी अनुकम्पा बनती है वहाँ अपनी भी अनुकम्पा सधती है—रात्रिको भोजनकी तलाश-में निकले हुए अनेकों विषैले जन्तुओंके भोजनके साथ पेटमें चले जानेसे अनेक प्रकारके रोग उत्पन्न होकर शरीर तथा मनकी शुद्धिको जो हानि पहुँचाते हैं उससे अपनी रक्षा होती है। शेष

‡ 'खाद्य'के स्थानपर कहीं कहीं 'स्वाद्य' पाठ मिलता है जो समुचित प्रतीत नहीं होता। टीकाकार प्रभाचन्द्रने भी 'खाद्य' पदका ग्रहण करके उसका अर्थ 'मोदकादि' किया है जिन्हें अन्नभिन्न समझना चाहिए।

* 'रात्रिभक्तविरतः' इति पाठान्तरम्।

इन्द्रियोंका जो संयम बन आता है और उससे आत्माका जो विकास सधता है उसकी तो बात ही अलग है। इसीसे इस पदके पूर्वमें बहुधा लोग अन्नादिके त्यागरूपमें खण्डशः इस व्रतका अभ्यास किया करते हैं।

ब्रह्मचारि-लक्षण

मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूति गन्धि बीभत्सम्।
पश्यन्नङ्गमनङ्गाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः ॥ ८ ॥ १४३ ॥

'जो श्रावक शरीरको **मलबीज**—शुक्रशोणितादिमलमय कारणोंसे उत्पन्न हुआ—**मलयोनि**—मलका उत्पत्तिस्थान—, **गलन्मल**—मलका झरना—, **पूति**—दुर्गन्धयुक्त—और **बीभत्स**—घृणात्मक—**देखता हुआ कामसे**—मैथुनकर्मसे—**विरक्ति धारण करता है वह 'ब्रह्मचारी'** पद (सातवीं प्रतिमा) का धारक होता है।'

व्याख्या—यहाँ कामके जिस अंगके साथ रमण करके संसारी जीव आत्म-विस्मरण किये रहते हैं उसके स्वरूपका अच्छा विश्लेषण करते हुए यह दर्शाया गया है कि वह अंग विवेकी पुरुषोंके लिए रमने योग्य कोई वस्तु नहीं—वह तो घृणा की चीज है, और इसलिये उसे इस घृणात्मक दृष्टिसे देखता हुआ जो मैथुन-कर्मसे अरुचि धारण करके उस विषयमें सदा विरक्त रहता है वह 'ब्रह्मचारी' नामका सप्तम-प्रतिमा धारक श्रावक होता है। वस्तुतः कामांगको जिस दृष्टिसे देखनेका यहाँ उल्लेख है वह बड़ा ही महत्वपूर्ण है। उस दृष्टिको आत्मामें जागृत और तदनुकूल भावनाओंसे भावित एवं पुष्ट करके जो ब्रह्मचारी बनता है वह ब्रह्मचर्यपदमें स्थिर रहता है, अन्यथा उसके भ्रष्ट होनेकी संभावना बनी रहती है। *इस पदका धारी स्व-परादि रूपमें किसी भी स्त्रीका कभी सेवन नहीं करता है।* प्रत्युत इसके, ब्रह्ममें—शुद्धात्मामें—अपनी चर्याको बढ़ाकर अपने नामको सार्थक करता है।

आरम्भविरत-लक्षण

सेवा-कृषि-वाणिज्य-प्रमुखादारम्भतो व्युपारमति ।
प्राणातिपातहेतोर्योऽसावारम्भ-विनिवृत्तः ॥ ६ ॥ १४४ ॥

'जो श्रावक ऐसी सेवा और वाणिज्यादिरूप आरम्भ-प्रवृत्ति-से विरक्त होता है जो प्राणपीडाकी हेतुभूत है वह 'आरम्भत्यागी' (८वें पदका अधिकारी) श्रावक है।'

व्याख्या—यहाँ जिस आरम्भसे विरक्ति धारण करनेकी बात कही गई है उसके लिये दो विशेषण-पदोंका प्रयोग किया गया है—एक '*सेवा-कृषि-वाणिज्य-प्रमुखात्*' और दूसरा '*प्राणातिपात-हेतोः*'। पहले विशेषणमें आरम्भके कुछ प्रकारोंका उल्लेख है, जिनमें सेवा, कृषि और वाणिज्य ये तीन प्रकार तो स्पष्ट रूपसे उल्लेखित हैं, दूसरे और कौनसे प्रकार हैं जिनका संकेत 'प्रमुख' शब्दके प्रयोग-द्वारा किया गया है, यह अस्पष्ट है। टीकाकार प्रभाचन्दने भी उसको स्पष्ट नहीं किया। चामुण्डरायने अपने चारित्रसारमें जहाँ इस ग्रन्थका बहुत कुछ शब्दशः अनुसरण किया है वहाँ वे भी इसके स्पष्टीकरणको छोड़ गए हैं ❀। पंडित आशाधरजीका भी अपने सागारधर्मामृतकी टीकामें ऐसा ही हाल है †। 'अनुप्रेक्षा' के कर्ता स्वामी कार्तिकेय और लाटी-संहिताके कर्ता कविराजमल्ल आरम्भके प्रकार-विषयमें मौन हैं

❀ उन्होंने इतना ही लिखा है कि—"आरम्भविनिवृत्तोऽसिमसि-कृषि-वाणिज्य-प्रमुखादारम्भात् प्राणातिपातहेतोर्विरतो भवति।"

यहाँ सेवाकी जगह असि-मसि-कर्मोंकी सूचना की गई है। शेष सब ज्योंक त्यों है।

† वे अपने 'कृष्यादीन्' पदकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं—'कृषि-सेवा-वाणिज्यादि-व्यापारान्'।

और आचार्य वसुनन्दीने एकमात्र 'गृहारम्भ' कहकर ही छुट्टी पा ली है। ऐसी हालतमें 'प्रमुख' शब्दके द्वारा दूसरे किन आरम्भोंका ग्रहण यहाँ ग्रन्थकारमहोदयको विवक्षित रहा है, यह एक विचारणीय विषय है। हो सकता है कि उनमें शिल्प और पशुपालन-जैसे आरम्भोंका भी समावेश हो; क्योंकि कथनक्रमको देखते हुए प्रायः आजीविका-सम्बन्धी आरम्भ ही यहाँ विवक्षित जान पड़ते हैं। मिलोंके महारम्भोंका तो उनमें सहज ही समावेश हो जाता है और इसलिए वे इस व्रतधारीके लिए सर्वथा त्याज्य ठहरते हैं।

रही अब पंचसूनाओंकी बात, जो कि गृहस्थ-जीवनके अंग हैं; सूक्ष्मदृष्टिसे यद्यपि उनका समावेश आरम्भोंमें हो जाता है परन्तु इसी ग्रन्थमें वैयावृत्त्यका वर्णन करते हुए '*अप-सूनाऽऽरम्भाणामार्याणामिष्यते दानं*' वाक्यमें प्रयुक्त हुए '*अपसूनारम्भाणां*' पद-में सूनाओंको आरम्भोंसे पृथक् रूपमें ग्रहण किया है और इससे यह बात स्पष्ट जानी जाती है कि स्थूलदृष्टिसे सूनाओंका आरम्भोंमें समावेश नहीं है। तब यहाँ विवक्षित आरम्भोंमें उनका समावेश विवक्षित है या कि नहीं, यह बात भी विचार-णीय हो जाती है और इसका विचार विद्वानोंको समन्तभद्रकी दृष्टिसे ही करना चाहिये। कवि राजमल्लजीने इस प्रतिमामें अपने तथा परके लिये की जानेवाली उस क्रियाका निषेध किया है जिसमें लेशमात्र भी आरम्भ हो❀; परन्तु स्वयं वे ही यह भी लिखते हैं कि वह अपने वस्त्रोंको स्वयं अपने हाथोंसे प्रासुक जलादिके द्वारा धो सकता है तथा किसी साधर्मीसे धुला सकता

❀ "बहुप्रलपितेनालमात्मार्थं वा परात्मने ।
यत्रारम्भस्य लेशोऽस्ति न कुर्यात्तामपि क्रियाम् ॥"—लाटीसंहिता

हैं; तब क्या शुद्ध अग्नि-जलसे कूकर आदिके द्वारा वह अपना भोजन भी स्वयं प्रस्तुत नहीं कर सकता ?

दूसरा विशेषण आरम्भोंके त्यागकी दृष्टिको लिये हुए है और इस बातको बतलाता है कि सेवा-कृषि-वाणिज्यादिके रूपमें जो आरम्भ यहाँ विवक्षित हैं उनमें वे ही आरम्भ त्याज्य हैं जो प्राणघातके कारण हैं—जो किसीके प्राणघातमें कारण नहीं पड़ते वे सेवादिक आरम्भ त्याज्य नहीं हैं। और इससे यह स्पष्ट फलित होता है कि इन सेवादिक आरम्भोंके दो भेद हैं—एक वे जो प्राणघातमें कारण होते हैं और दूसरे वे जो प्राणघातमें कारण नहीं होते। अतः विवक्षित आरम्भोंमें विवेक करके उन्हीं आरम्भोंको यहाँ त्यागना चाहिये जो प्राणातिपातके हेतु होते हैं—शेष आरम्भ जो विवक्षित नहीं हैं तथा जो प्राणघातके हेतु नहीं उनके त्यागकी यहाँ कोई बात नहीं है। इस विशेषणके द्वारा व्रतीके विवेकको भारी चुनौती दी गई है।

परिचित्तपरिग्रहविरत-लक्षण

बाह्येषु दशसु वस्तुषु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः ।
स्वस्थः संतोषपरः परिचित्तपरिग्रहाद्विरतः ॥१०॥१४५॥

'जो दस प्रकारकी बाह्य वस्तुओंमें—धन-धान्यादि परिग्रहोंमें—ममत्वको छोड़कर निर्ममभावमें रत रहता है, स्वात्मस्थ है—बाह्य पदार्थोंको अपने मानकर भटकता नहीं—और परिग्रहकी आकांक्षासे निवृत्त हुआ संतोष-धारणमें तत्पर है वह 'परिचित्तपरिग्रहविरत' —सब ओरसे चित्तमें बसे हुए परिग्रहोंसे विरक्त—९वें पदका अधिकारी श्रावक है।'

† "प्रक्षालनं च वस्त्राणां प्रासुकेन जलादिना ।
कुर्याद्वा स्वस्य हस्ताभ्यां कारयेद्वा सधर्मिणा ॥" —लाटीसंहिता

व्याख्या—यहाँ जिन दश प्रकारकी बाह्य वस्तुओंका सांकेतिक रूपमें उल्लेख है वे वही बाह्य परिग्रह हैं जिनका परिग्रहाणुव्रत-ग्रहणके अवसर पर अपने लिये परिमाण किया गया था और जो अपने ममत्वका विषय बने हुए थे। उन्हींको यहाँ 'परिचित्त-परिग्रह' कहा गया है और उन्हींसे विरक्ति धारणका इस नवम-पदमें स्थित श्रावकके लिए विधान है। उसके लिए इतना ही करना होता है कि उन चित्तमें बसी हुई परिग्रहरूप वस्तुओंसे ममत्वको–मेरापनके भावको—हटाकर निर्ममत्वके अभ्यासमें लीन हुआ जाय। इसके लिए 'स्वस्थ' और 'सन्तोषतत्पर' होना बहुत ही आवश्यक है। जब तक मनुष्य अपने आत्माको पहचानकर उसमें स्थित नहीं होता तब तक पर-पदार्थोंमें उसके मनका भटकाव बना रहता है। वह उन्हें अपने समझकर उनके ग्रहणकी आकांक्षाको बनाए रखता है। इसी तरह जब तक सन्तोष नहीं होता तब तक परिग्रहका त्याग करके उसे सुख नहीं मिलता और सुख न मिलनेसे वह त्याग एक प्रकारसे व्यर्थ हो जाता है।

अनुमतिविरत-लक्षण

अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे वैहिकेषु कर्मसु वा।
नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः स मन्तव्यः ॥१४६॥

'जिसकी निश्चयसे आरम्भमें—कृष्यादि सावद्यकर्मोंमें—, परिग्रहमें—धन-धान्यादिरूप दस प्रकारके बाह्य पदार्थोंके ग्रहणादिकमें—और लौकिक कार्योंमें—विवाहादि तथा पंचसूनादि जैसे दुनियादारी-के कामोंमें—अनुमति—करने-करानेकी सलाह, अनुज्ञा, आज्ञा—नहीं होती वह रागादि-रहित-बुद्धिका धारक 'अनुमतिविरत' नामका—दशमपदस्थित—श्रावक माना गया है।'

व्याख्या—यहाँ '*आरम्भ*' पदके द्वारा उन्हीं आरम्भोंका ग्रहण है जो प्राणातिपातके हेतु हैं और जिनके स्वयं न करनेका व्रत

नवमपदको ग्रहण करते हुए लिया गया था। इस पदमें दूसरोंको उनके करने-करानेकी अनुमति आज्ञा अथवा सलाह देनेका भी निषेध है। '*परिग्रहे*' पदमें दसों प्रकारके सभी बाह्य परिग्रह शामिल हैं और '*ऐहिकेषु कर्मसु*' इन दो पदोंमें आरम्भ तथा परिग्रह-से भिन्न दूसरे (विवाहादि-जैसे) लौकिक कार्योंका समावेश है—पारलौकिक अथवा धार्मिक कार्योंका नहीं। इन लौकिक कार्योंके करने-करानेमें इस पदका धारी श्रावक जब अपनी कोई अनुमति या सलाह नहीं देता तब कहकर या आदेश देकर करानेकी तो बात ही दूर है। परन्तु पारलौकिक अथवा धार्मिक कार्योंके विषय-में उसके लिए ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है—उनमें वह अनुमति दे सकता है और दूसरोंसे कहकर उन्हें करा भी सकता है।

यहाँ इस पदधारीके लिये '*समधीः*' पदका प्रयोग अपना खास महत्व रखता है और इस बातको सूचित करता है कि वह दूसरोंके द्वारा इन आरम्भ-परिग्रह तथा ऐहिक कर्मोंके होने-न-होनेमें अपना समभाव रखता है। यदि यह समभाव न रक्खे तो उसे राग-द्वेषमें पड़ना पड़े और तब अनुमतिका न देना उसके लिये कठिन हो जाय। अतः समभाव उसके इस व्रतका बहुत बड़ा रक्षक है।

उत्कृष्टश्रावक-लक्षण

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य।
***भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः ॥१२॥१४७॥**

'जो श्रावक घरसे मुनिवनको जाकर और गुरुके निकट व्रतों-को ग्रहण करके तपस्या करता हुआ भैक्ष्य-भोजन करता है—भिक्षाद्वारा ग्रहीत भोजन लेता अथवा अनेक घरोंसे भिक्षा-भोजन लेकर अन्तके घर या एक स्थान पर बैठकर उसे खाता है—और वस्त्रखण्ड

* 'भैक्षाशनः' इति पाठान्तरम्।

का धारक होता है—अधूरी छोटी चादर (शाटक) अथवा कोपीन-मात्र धारण करता है—वह 'उत्कृष्ट' नामका—ग्यारहवें पद (प्रतिमा)का धारक सबसे ऊँचे दर्जेका—श्रावक होता है।'

व्याख्या—यहाँ मुनिवनको जानेकी जो बात कही गई है वह इस तथ्यको सूचित करती है कि जिस समय यह ग्रन्थ बना है उस प्राचीनकालमें जैन मुनिजन वनमें रहा करते थे—चैत्य-वासादिकी कोई प्रथा प्रारम्भ नहीं हुई थी। घरसे निकलकर तथा मुनिवनमें जाकर ही इस पदके योग्य सभी व्रतोंको ग्रहण किया जाता था—जो व्रत पहलेसे ग्रहण किये होते थे उन्हें फिरसे दोहराया अथवा नवीनीकृत किया जाता था। व्रत-ग्रहणकी यह सब क्रिया गुरुसमीपमें—किसीको गुरु बनाकर उसके निकट अथवा गुरुजनोंको साक्षी करके उनके सांनिध्यमें—की जाती थी। आजकल मुनिजन अनगारित्व धर्मको छोड़कर प्रायः मन्दिरों-मठों तथा गृहोंमें रहने लगे हैं अतः उनके पास वहीं जाकर उनकी साक्षीसे अथवा अर्हन्तकी प्रतीकभूत किसी विशिष्ट जिन-प्रतिमाके सम्मुख जाकर उसकी साक्षीसे इस पदके योग्य व्रतोंको ग्रहण करना चाहिये।

इस पदधारीके लिये '*भैक्ष्याशनः*' '*तपस्यन्*' और '*चेलखण्डधरः*' ये तीन विशेषण खास तौरसे ध्यानमें लेने योग्य हैं। पहला विशेषण उसके भोजनकी स्थितिका, दूसरा साधनाके रूपका और तीसरा बाह्य वेषका सूचक है। वेषकी दृष्टिसे वह एक वस्त्रखण्ड का धारक होता है, जिसका रूप या तो एक ऐसी छोटी चादर-जैसा होता है जिससे पूरा शरीर ढका न जा सके—सिर ढका तो पैरों आदिका नीचेका भाग खुल गया और नीचेका भाग ढका तो सिर आदिका ऊपरका भाग खुल गया—और या वह एक लंगोटीके रूपमें होता है जो कि उस वस्त्रखण्डकी चरम स्थिति है। 'भैक्ष्य' शब्द भिक्षा और 'भिक्षा-समूह' इन दोनों ही

अर्थोंमें प्रयुक्त होता है * प्रभाचन्द्रने अपनी टीकामें '*भिक्षाणां समूहो भैक्ष्यं*' इस निरुक्तिके द्वारा 'भिक्षासमूह' अर्थका ही ग्रहण किया है और वह ठीक जान पड़ता है; क्योंकि स्वामी समन्तभद्र-को यदि 'भिक्षासमूह' अर्थ अभिमत न होता तो वे सीधा '*भिक्षा-शनः*' पद ही रखकर सन्तुष्ट हो जाते—उतनेसे ही उनका काम चल जाता। उसके स्थान पर '*भैक्ष्याशनः*' जैसा क्लिष्ट और भारी पद रखने की उन-जैसे सूत्रात्मक लेखकोंको ज़रूरत न होती—ख़ास कर ऐसी हालतमें जब कि छन्दादिकी दृष्टिसे भी वैसा करनेकी ज़रूरत नहीं थी। श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने अपने सुत्त-पाहुड़में, उत्कृष्ट श्रावकके लिंगका निर्देश करते हुए, जो उसे '*भिक्खं भमेइ पत्तो*' जैसे वाक्यके द्वारा पात्र हाथमें लेकर भिक्षाके लिये भ्रमण करनेवाला लिखा है उससे भी, प्राचीन समयमें, अनेक घरोंसे भिक्षा लेनेकी प्रथाका पता चलता है। भ्रामरी वृत्ति-द्वारा अनेक घरोंसे भिक्षा लेनेके कारण किसीको कष्ट नहीं पहुँचता, व्यर्थके आडम्बरको अवसर नहीं मिलता और भोजन भी प्रायः अनुद्दिष्ट मिल जाता है। '*तपस्यन्*' पद उस बाह्या-भ्यन्तर तपश्चरणका द्योतक है जो कर्मोंका निर्मूलन करके आत्म-विकासको सिद्ध करनेके लिये यथाशक्ति किया जाता है और जिसमें अनशनादि बाह्य तपश्चरणोंकी अपेक्षा स्वाध्याय तथा ध्यानादिक अभ्यन्तर तपोंको अधिक महत्व प्राप्त है। बाह्य तप सदा अभ्यन्तर तपकी वृद्धिके लिये किये जाते हैं।

यहाँ इस व्रतधारीके लिये उद्दिष्टविरत या क्षुल्लक-जैसा कोई नाम न देकर जो '*उत्कृष्टः*' पदका प्रयोग किया गया है वह भी अपनी ख़ास विशेषता रखता है और इस बातको सूचित करता है कि स्वामी समन्तभद्र अपने इस व्रतीको क्षुल्लकादि न कहकर

* "भिक्षैव तत्समूहो वा अण्"—वामन शिवराम एप्टेकी संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी।

'उत्कृष्ट श्रावक' कहना अधिक उचित और उपयुक्त समझते थे। श्रावकका यह पद जो पहलेसे एक रूपमें था समन्तभद्रसे बहुत समय बाद दो भागोंमें विभक्त हुआ पाया जाता है, जिनमेंसे एकको आजकल 'क्षुल्लक' और दूसरे को 'ऐलक' कहते हैं। ऐलक-पदकी कल्पना बहुत पीछे की है ‡।

श्रेयोज्ञाताकी पहिचान

पापमरातिर्धर्मो बन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन् ।
समयं यदि जानीते श्रेयोज्ञाता ध्रुवं† भवति ॥१३॥१४८॥

'जीवका शत्रु पाप—मिथ्यादर्शनादिक—और बन्धु (मित्र) धर्म—सम्यग्दर्शनादिक—है, यह निश्चय करता हुआ जो समयको—आगम-शास्त्रको—जानता है वह निश्चयसे श्रेष्ठ ज्ञाता अथवा श्रेय-कल्याण—का ज्ञाता होता है—आत्महितको ठीक पहचानता है।'

व्याख्या—यहाँ ग्रन्थका उपसंहार करते हुए उत्तम ज्ञाता अथवा आत्महितका ज्ञाता उसीको बतलाया है जिसका शास्त्रज्ञान इस निश्चयमें परिणत होता है कि मिथ्यादर्शनादिरूप पापकर्म ही इस जीवका शत्रु और सम्यग्दर्शनादिरूप धर्मकर्म ही इस जीवका मित्र है। फलतः जिसका शास्त्र-अध्ययन इस निश्चयमें परिणत नहीं होता वह 'श्रेयोज्ञाता' पदके योग्य नहीं है। और इस तरह प्रस्तुत धर्मग्रन्थके अध्ययनकी दृष्टिको स्पष्ट किया गया है।

धर्मके फलका उपसंहार

येन स्वयं वीत-कलंक-विद्या-दृष्टि-क्रिया-रत्नकरण्ड-भावम् ।
नीतस्तमायाति पतीच्छयेव सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषु विष्टपेषु ॥१४६

‡ देखो, 'ऐलक-पद-कल्पना' नामका वह विस्तृत निबन्ध जो अनेकान्त वर्ष १० वें की संयुक्त किरण ११-१२ में प्रकाशित हुआ है और जिसमें इस ११ वीं प्रतिमाका बहुत कुछ इतिहास आगया है।

† 'मता' इति पाठान्तरम्।

'जिस भव्य-जीवने अपने आत्माको निर्दोषविद्या, निर्दोष-दृष्टि तथा निर्दोषक्रियारूप रत्नोंके पिटारेके भावमें परिणत किया है—अपने आत्मामें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय-धर्मका आविर्भाव किया है—उसे तीनों लोकोंमें सर्वार्थसिद्धि—धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप सभी प्रयोजनोंकी सिद्धिरूप स्त्री—पतिको स्वयं वरण करनेकी इच्छा रखनेवाली (स्वयंवरा) कन्याकी तरह स्वयं प्राप्त हो जाती है—उक्त सर्वार्थसिद्धि उसे अपना पति बनाती है अर्थात् वह चारों पुरुषार्थोंका स्वामी होता है—उसका प्राय: कोई भी प्रयोजन सिद्ध हुए बिना नहीं रहता।'

व्याख्या—यहाँ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र-रूप रत्नत्रयधर्मके धारीको संक्षेपमें सर्वार्थसिद्धिका स्वामी सूचित किया है, जो बिना किसी विशेष प्रयासके स्वयं ही उसे प्राप्त हो जाती है और इस तरह धर्मके सारे फलका उपसंहार करते हुए उसे चतुराईसे एक ही सूत्रमें गूंथ दिया है। साथही, ग्रन्थका दूसरा नाम 'रत्नकरण्ड' है यह भी श्लेषालंकारके द्वारा सूचित कर दिया है।

अन्त्य-मंगल

सुखयतु सुखभूमिः कामिनं कामिनीव
सुतमिव जननी मां शुद्धशीला भुनक्तु।
कुलमिव गुणभूषा कन्यका संपुनीताज्-
जिन-पति-पद-पद्म-प्रेक्षिणी दृष्टिलक्ष्मीः ॥१५॥१५०॥

इति श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्य-विरचिते समीचीनधर्मशास्त्रे
रत्नकरण्डाऽपरनाम्नि उपासकाध्ययने श्रावकपद-वर्णनं
नाम सप्तममध्ययनम् ॥ ७ ॥

'जिनेन्द्रके पद-वाक्यरूपी कमलोंको देखनेवाली दृष्टि-लक्ष्मी (सम्यग्दर्शनसम्पत्ति) सुख-भूमिके रूपमें मुझे उसी प्रकार सुखी करो जिस प्रकार कि सुखभूमि-कामिनी कामीको सुखी

करती है, शुद्धशीलाके रूपमें उसी प्रकार मेरी रक्षा-पालना करो जिस प्रकार कि शुद्धशीला माता पुत्रकी रक्षा-पालना करती है और गुणभूषाके रूपमें उसी प्रकार मुझे पवित्र करो जिस प्रकार कि गुणभूषा कन्या कुलको पवित्र करती है—उसे ऊँचा उठाकर उसकी प्रतिष्ठाको बढ़ाती है।'

व्याख्या—यह पद्य अन्त्य मंगलके रूपमें है। इसमें ग्रन्थकार-महोदय स्वामी समन्तभद्रने जिस लक्ष्मीके लिए अपनेको सुखी करने आदिकी भावना की है वह कोई सांसारिक धन-दौलत नहीं है, बल्कि वह सद्दृष्टि है जो ग्रन्थमें वर्णित धर्मका मूल प्राण तथा आत्मोत्थानकी अनुपम जान है और जो सदा जिनेन्द्रदेवके चरणकमलोंका—उनके आगमगत पद-वाक्योंकी शोभाका—निरीक्षण करते रहनेसे पनपती, प्रसन्नता धारण करती और विशुद्धि एवं वृद्धिको प्राप्त होती है। स्वयं शोभा-सम्पन्न होनेसे उसे यहाँ लक्ष्मीकी उपमा दी गई है। उस दृष्टि-लक्ष्मीके तीन रूप हैं—एक कामिनीका, दूसरा जननीका और तीसरा कन्याका, और ये क्रमशः सुखभूमि, शुद्धशीला तथा गुणभूषा विशेषणसे विशिष्ट हैं। कामिनीके रूपमें स्वामीजीने यहाँ अपनी उस दृष्टि-सम्पत्तिका उल्लेख किया है जो उन्हें प्राप्त है, उनकी इच्छाओंकी पूर्ति करती रहती और उन्हें सुखी बनाये रखती है। उसका सम्पर्क बराबर बना रहे, यह उनकी पहली भावना है। जननीके रूपमें उन्होंने अपनी उस मूलदृष्टिका उल्लेख किया है जिससे उनका रक्षण-पालन शुरूसे ही होता रहा है और उनकी शुद्ध-शीलता वृद्धिको प्राप्त हुई है। वह मूलदृष्टि आगे भी उनका रक्षण-पालन करती रहे, यह उनकी दूसरी भावना है। कन्याके रूपमें स्वामीजीने अपनी उस उत्तरवर्तिनी दृष्टिका उल्लेख किया है जो उनके विचारोंसे उत्पन्न हुई है, तत्त्वोंका गहरा मन्थन करके जिसे उन्होंने निकाला है और इसलिये जिसके वे स्वयं जनक हैं। वह

निःशंकितादि गुणोंसे विभूषित हुई दृष्टि उन्हें पवित्र करे और उनके गुरुकुलको ऊँचा उठाकर उसकी प्रतिष्ठाको बढ़ानेमें समर्थ होवे, यह उनकी तीसरी भावना है। दृष्टि-लक्ष्मी अपने इन तीनों ही रूपोंमें जिनेन्द्र भगवानके चरण-कमलों अथवा उनके पद-वाक्योंकी ओर बराबर देखा करती है और उनसे अनुप्राणित होकर सदा प्रसन्न एवं विकसित हुआ करती है। अतः यह दृष्टि-लक्ष्मी सच्ची भक्तिका ही सुन्दर रूप है। सुश्रद्धामूलक इस सच्ची सविवेक-भक्तिसे सुखकी प्राप्ति होती है, शुद्धशीलतादि सद्गुणोंका संरक्षण-संवर्धन होता है और आत्मामें उत्तरोत्तर पवित्रता आती है। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने ग्रन्थके अन्तमें उस भक्ति-देवीका बड़े ही अलंकारिक रूपमें गौरवके साथ स्मरण करते हुए उसके प्रति अपनी मनोभावनाको व्यक्त किया है। अपने एक दूसरे ग्रन्थ 'युक्त्यनुशासन' के अन्तमें भी उन्होंने वीर-स्तुतिको समाप्त करते हुए उस भक्तिका स्मरण किया है और '*विधेया मे भक्ति पथि भवत एवाऽप्रतिनिधौ*' इस वाक्यके द्वारा वीरजिनेन्द्रसे यह प्रार्थना अथवा भावना की है कि 'आप अपने ही मार्गमें, जिसकी जोड़का दूसरा कोई निर्बाध मार्ग नहीं, मेरी भक्तिको सविशेषरूपसे चरितार्थ करो—आपके मार्गकी अमोघता और उससे अभिमत फलकी सिद्धिको देखकर मेरा अनुराग (भक्ति-भाव) उसके प्रति उत्तरोत्तर बढ़े, जिससे मैं भी उसी मार्गकी पूर्णतः आराधना-साधना करता हुआ कर्मशत्रुओंकी सेनाको जीतनेमें समर्थ होऊँ और निश्रेयस (मोक्ष) पदको प्राप्त करके सफल मनोरथ हो सकूँ।

इस प्रकार श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्य-विरचित समीचीन-धर्मशास्त्र
अपरनाम रत्नकरण्ड-उपासकाध्ययनमें श्रावकपद-
वर्णन नामका सप्तम अध्ययन समाप्त हुआ ॥७॥

समीचीनधर्मशास्त्र-कारिकानुक्रमणी